प्राप्तिस्थान—
श्री शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान
पो० श्री शान्तिवीर नगर
श्री महावीरजी [राज०]

द्रव्य प्रदाता
श्रीमती मोहनी बाई ध० प० श्री सेठ लादू लाल जी बाकलीवाल
सुजान गढ (राज०)

मुद्रक—
महेन्द्रकुमार "महेश" शास्त्री
श्री शान्तिसागर दि० जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था,
श्री महावीरजी (राज०)



श्री १०८ परम पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज

दो शब्द

श्री शान्तिवीर दि० जैन संस्थान शांतिवीर नगर के प्रकाशन विभाग की तरफ से श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव विरचित वृहद्द्रव्य संग्रह श्री ब्रह्मदेव विरचित संस्कृतवृत्ति व हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित होकर समाज के सामने आ रहा है यह प्रसन्नता की बात है। इसका प्रकाशन पहले भी श्री रायचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, तथा श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला खरखरी से हुआ है, किन्तु इस समय समाज मे इसकी कमी हो जाने से इसके प्रकाशन की आवश्यकता को देखते हुए संस्थान ने इसका अब फिर से प्रकाशन किया है, आशा है समाज को इससे लाभ होगा–व जिनवाणी का इससे प्रचार बढेगा।

प्रस्तुत ग्रंथ समाजकी अमूल्य निधि है–इसके रचियिता और संस्कृत वृत्तिकार आचार्य द्वय का परिचय ग्रंथ की प्रस्तावना के लेखक विद्वान ने दिया ही है अत. इस सम्बन्ध मे कुछ लिखने की आवश्यकता नही है। ग्रंथ के प्रकाशन मे श्रीमती मोहनीबाई ध० प० श्रीमान् सेठ लादूलालजी बाकलीवाल सुजानगढ निवासी हाल मुकाम गोलाघाट (आसाम) ने सहायता प्रदान कर जिनवाणी के प्रचार व प्रसार मे अपना योग दान दिया है उसके लिये हम संस्थान की तरफ से उनका आभार मानते है। तथा ग्रंथ का अवलोकन, संशोधन, विषयसूची, पद्यानुक्रमणिका तथा गाथा सूची आदि बनाने म श्रीमान् सि० भू० ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्तार सहारनपुर ने एव ग्रंथ की विद्वत्ता पूर्ण प्रस्तावना लिखने में श्रीमान् प० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य सागर ने महान् सहयोग प्रदान किया है उसके अतिरिक्त प्रूफ संशोधन संस्थान के प्रेस मेनेजर श्री अशोकजी बडजात्या एव श्री प महेन्द्रकुमारजी "महेश" शास्त्री ने किया है संस्थान की तरफ से उक्त सभी महानुभावो का हम आभार मानते हैं।

प्रस्तावना मे ग्रंथ संशोधन मे श्री अशोकजी बडजात्या का नाम छप गया है सो उन्हें ग्रंथ संशोधन के स्थान पर प्रूफ संशोधन करने वाले समझा जाय। प्रूफ मे यद्यपि बहुत सावधानी रक्खी गई है पुनरपि कही त्रुटिया रह गई होतो विद्वान्गण संशोधन कर इसकी सूचना देने का कष्ट करें।

ब्र० लाडमल जैन

अधिष्ठाता

श्री शांति वीर दि० जैन संस्थान शांतिवीरनगर राजस्थान

प्रस्तावना

द्रव्य तत्व और पदार्थ

द्रव्य शब्द का उल्लेख जैन दर्शन और वैशेषिक दर्शन मे स्पष्ट रूप से मिलता है। जैन दर्शन मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को द्रव्य कहा है तथा वैशेषिक दर्शन मे पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आत्मा, आकाश, दिशा, काल और मन इन नौ को द्रव्य कहा है। वैशेषिक दर्शन समत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन, शरीर की अपेक्षा जैन समत पुद्गल द्रव्य मे गर्भित हो जाते हैं और आत्मा की अपेक्षा जीव मे गर्भित रहते हैं। आकाश और काल ये दो द्रव्य दोनो दर्शनो मे स्वतन्त्र रूप से माने गये हैं। वैशेषिक दर्शनाभिमत दिशा नाम का द्रव्य आकाश का ही विशिष्ट रूप होने से उसमे गर्भित है। इस तरह वैशेषिक संमत समस्त द्रव्य के जीव, पुद्गल, आकाश और काल मे गर्भित हो जाते है। धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य की कल्पना वैशेषिक दर्शन मे नही है। ये दोनो द्रव्य जैन दर्शन मे ही निरूपित है।

इन छह द्रव्यो मे जीव द्रव्य चेतन है और शेष पाच द्रव्य अचेतन है। अथवा पुद्गल द्रव्य अमूर्तिक दृश्यमान है और शेष पाच द्रव्य अमूर्तिक है। पुद्गल द्रव्य दृश्यमान होने से सब के अनुभव मे आ रहा है। रूप रस गन्ध और स्पर्श जिसमे पाया जाता है वह पुद्गल द्रव्य है अत. जो भी वस्तु रूपादि मे सहित होने के कारण दृश्यमान है वह सब पुद्गल द्रव्य है। जीव के साथ अनादि से लगे हुए कर्म और नोकर्म स्पष्ट रूप से पुद्गल द्रव्य है। जीव द्रव्य अमूर्तिक होने से यद्यपि दिखाई नही देता तथा स्वानुभव के द्वारा उसका बोध होता है। जो सुख दुख का अनुभव करता है, जिसे स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान आदि होते हैं वह जीव द्रव्य है। ज्ञान दर्शन इसके लक्षण हैं। जीवन और मृत मनुष्य के शरीर की चेष्टा को देखकर जीव का अनुमान अनायास हो जाता है। पुद्गल मे हम भिन्न भिन्न प्रकार के परिणमन देखते हैं, मनुष्य बालक से युवा और युवा से वृद्ध होता है। यह सब परिणमन काल द्रव्य की सहायता से होते हैं इसलिये पुद्गल की परिणति से काल द्रव्य का आस्तित्त्व अनुभव मे आता है। हम देखते है कि जीव और पुद्गल मे गति होती है वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते जाते दिखाई देते है इस का क्या कारण है? जब इसके कारण की ओर दृष्टि जाती है तब धर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आने लगता है। जीव और पुद्गल चलते चलते रुक जाते हैं, एक स्थान पर ठहर जाते है इसका कारण क्या है? जब इस पर विचार करते हैं तब अधर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव मे आये बिना नही रहता। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये द्रव्य कहा रहते है? बिना आधार के किसी भी पदार्थ का अस्तित्व बुद्धि मे नही आता, जब इस प्रकार का विचार उठता है तब आकाश का अस्तित्व अनुभव मे आये बिना नही रहता। इस तरह वह द्रव्यमय लोक है। लोक के अन्दर ऐसा एक भी प्रदेश नही जहा जीव पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल के छह द्रव्य अपना अस्तित्व नही रखते है। हा, लोक के बाहर अनन्त प्रदेशो वाला अलोक है जहा आकाश के सिवाय किसी अन्य द्रव्य का अस्तित्व नही है। जीव द्रव्य अनन्त

है, पुद्गल उनकी अपेक्षा बहुत अधिक अर्थात् अनन्तानन्त है, धर्म और अधर्म द्रव्य एक एक है आकाश भी एक है और काल असख्यात है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक काल द्रव्य विद्यमान रहता है वह स्वय मे परिपूर्ण रहता है न कि किसी द्रव्य का अङ्ग अवयव या प्रदेश रूप हो। यहा कोई यह प्रश्न कर सकता है कि धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य आकाश मे होता है—अत जीव और पुद्गल की गति और स्थिति दोनो ही आकाश मे होती है अतएव धर्म और अधर्म द्रव्य की कल्पना निरर्थक है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनकी कल्पना निरर्थक नही सार्थक है। यदि आकाश के ही गति और स्थिति का काम निर्भर करते हैं तो लोक और अलोक का विभाग नही बन सकेगा क्योकि वह अलोकाकाश मे भी विद्यमान है उसके रहते जीव और पुद्गल की गति तथा स्थिति अलोकाकाश मे भी होने लगेगी तब लोक और अलोक का विभाग कहां हो सकेगा।

जीवादि छह द्रव्यो मे अस्तिकाय और अनस्तिकाय की अपेक्षा भी भेद होता है जिसमे अस्तित्व के साथ बहुप्रदेश पाये जाते हैं उन्हे अस्तिकाय कहते हैं और जिसमे एक ही प्रदेश होता है उसे अनस्तिकाय कहते है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाच द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय कहलाते हैं जब कि काल द्रव्य एक प्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय रूप नही है। पुद्गल द्रव्य का एक भेद परमाणु भी यद्यपि द्वितीयादिक प्रदेशो से रहित है, तो भी उसे स्कन्ध रूप बनने की शक्ति से सहित होने के कारण अस्तिकाय ही कहते है।

द्रव्य का लक्षण शास्त्रो मे 'सद् द्रव्यम्' 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्' और गुण पर्याय वद् द्रव्यम्. कहा है अर्थात् जो सत्ता रूप हो वह द्रव्य है, सत्ता उत्पाद व्यय और ध्रौव्य होती है अथवा जो गुण और पर्यायो से सहित हो वह द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य हमारी दृष्टि मे स्पष्ट रूप से आते है और पुद्गल के माध्यम से जीव द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य भी अनुभव मे आते है। शेष अरूगी द्रव्यो के उत्पाद व्यय ध्रौव्य को हम आगम प्रमाण से जानते हैं। जो द्रव्य के आश्रय रहता हुआ स्वयं दूसरे गुण से रहित हो वह गुण कहलाता है। यह गुण सामान्य और विशेष की अपेक्षा दो प्रकार का होता है अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण है यथा चेतनत्व, रूपादियत्व आदि विशेष गुण हैं। द्रव्य की परिणति को पर्याय कहते है। इसके व्यञ्जन पर्याय तथा अर्थ पर्याय इस प्रकार दो भेद है। प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा किसी आकार को लिये हुए द्रव्य की जो परिणति है उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं और अन्य गुणो की अपेक्षा षड् गुणी हानि रूप जो परिणति है वह अर्थ पर्याय है। इन दोनो पर्यायो के स्वभाव और विभाव की अपेक्षा दो भेद होते है स्वनिमित्तक पर्याय स्वभाव पर्याय है और परनिमित्तक पर्याय विभाव पर्याय है जीव और पुद्गल को छोडकर शेष चार द्रव्यो का परिणमन स्वनिमित्तक होता है अत. उनमे सदा स्वभाव पर्याय रहती है जीव और तथा पुद्गल की ज्यो पर निमित्तक पर्याय है वह विभाव पर्याय कहलाती है और पर कानिमित्त दूर हो जाने पर जो पर्याय होती है वह स्वभाव पर्याय कही जाती है। ससार का प्रत्येक पदार्थ द्रव्य गुण और पर्याय से तन्मयी भाव को प्राप्त हो रहा है। क्षण भर के लिये भी द्रव्य पर्याय से विमुक्त और पर्याय द्रव्य से विमुक्त नही रह सकता। यद्यपि पर्याय क्रमवर्ती है तथापि सामान्य रूप से कोई न कोई पर्याय द्रव्य की प्रत्येक समय रहती ही है। इसी द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थ का दर्शन शास्त्र मे सामान्य विशेषात्म कहा है।

द्रव्य के बाद जैन शास्त्रो मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर. निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो

का वर्णन आता है। वस्तुत ससार के अन्दर जिस प्रकार जीव और अजीव ये दो ही द्रव्य है उसी प्रकार जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व है। जीव के साथ अनादि काल से कर्म और नो कर्म (शरीर) रूप अजीव का सम्बन्ध लग रहा है और उसी सम्बन्ध के कारण जीव की अशुद्ध परिणति हो रही है। जीव और अजीव का परस्पर सम्बन्ध होने का जो कारण है वह आस्रव कहलाता है। दोनो का परस्पर सम्बन्ध होने से जो एक क्षेत्रावगाह रूप परिणमन होता है उसे बन्ध कहते है। आस्रव के रुक जाने को सवर कहते हैं। पहले के सत्ता मे स्थित परमाणुओ का एक देश दूर होना निर्जरा है और सदा के लिये आत्मा का कर्म तथा नो कर्म से सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है। 'तस्य भाव स्तत्वम्' जीवादि द्रव्यो का जो भाव है। वह तत्व कहलाता है। मोक्षमार्ग के प्रकरण ये सात तत्व अपना बहुत महत्व रखते है। इनका यथार्थ निर्णय हुये विना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नही हैं।

कुन्दकुन्द स्वामी ने इन्ही सात तत्त्वो के साथ पुण्य और पाप को मिलाकर नौ पदार्थो का निरूपण किया है। जिस प्रकार घट शब्द का वाच्य कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ विशेष होता है उसी प्रकार जीवादि शब्दो के वाच्य चेतना लक्षण जीव, कर्म नौ कर्मादि रूप अजीव, कर्मागमन रूप आस्रव, एक क्षेत्रावगाह रूप बन्धन, कर्मा गमन निरोध रूप संवर, सत्तास्थित कर्मो का एकदेश दूर होते रूप निर्जरा, समस्त नौ कर्मो का आत्म प्रदेशो से पृथक् होते रूप मोक्ष, शुभ अभिप्राय से निर्मित शुभ प्रवृत्ति रूप पुण्य और अशुभ अभिप्राय से निर्मित अशुभ प्रवृत्ति रूप पाप होते है इसलिये शब्दार्थ प्रधान दृष्टि से ये पदार्थ कहलाते है। शब्द ब्रह्म और अर्थ ब्रह्म की अपेक्षा मन दो प्रकार का है ससार के अन्दर जितने पदार्थ है वे किसी न किसी शब्द के वाच्य अवश्य हैं यहा नौ पदो शब्दो के द्वारा प्रयोजन भूत अर्थो का ग्रह किया है इसलिये ससार के सब पदार्थ इन नौ ही पदार्थों मे गर्भित हो जाते है। कुन्दकुन्द स्वामी के बाद तत्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी हुए उन्होने पुण्य और पाप को आस्रव तथा बन्ध मे गर्भित कर जीव अजीव आस्रव बन्ध सवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो का ही उल्लेख किया है।

ग्रन्थ परिचय

प्रस्तुत बृहद् द्रव्य सग्रह ग्रन्थ मे इन्ही छह द्रव्यो और सात तत्त्वो का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने सर्व प्रथम २५ गाथाओ का एक लघु द्रव्य सग्रह रचा था। यह लघु द्रव्य सग्रह ग्रन्थ अनेकान्त वर्ष १२ किरण ५ मे प्रकाशित हुआ था। उसकी अन्तिम गाथा-

'सोमच्छलेण रइया पयत्थ लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुयारणिमित्त गणिणा सिरिणेमिचदेण ॥'

मे स्पष्ट किया गया है कि गणी श्री नेमिचन्द्र ने सोम के छल से अर्थात् सोम नामक राज श्रेष्ठी की प्रेरणा से भव्य जीवो के उपकारार्थ पदार्थों के लक्षण करने वाली गाथाए रची हैं।

संस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेव सूरि ने इस ग्रन्थ के उपोद्घात मे इस सोम श्रेष्ठी का परिचय देते हुए लिखा है कि मालव देश मे धारा नगरी के अधिपति कलिकाल चक्रवर्ती राजा भोजदेव से सम्बद्ध श्रीपाल मण्डलेश्वर के आश्रम नामक नगर के मुनिसुव्रत तीर्थङ्कर के चैत्यालय मे शुद्धात्म द्रव्य के सम्यग्ज्ञान से समुत्पन्न सुख रूप अमृतरस के आस्वाद से विपरीत नरकादि के दुःखो से जो भयभीत था,

परमात्मा की भावना उत्पन्न सुख रूपी सुधारस का जो पिपासु था, भेदा भेद रत्नत्रय की भावना जिसे प्रिय थी जो श्रेष्ठ भव्य था तथा भाण्डागारी कोपाध्यक्ष आदि अनेक कार्यों का अधिकारी था ऐसे सोम राज श्रेष्ठी के निमित्त श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने पहले २६ गाथाओ द्वारा लघु द्रव्य सग्रह ग्रन्थ की रचना की थी। पीछे विशेष तत्त्व ज्ञान के लिये इस विशिष्ट वृहद् द्रव्य सग्रह ग्रन्थ की रचना की। अनेकान्त वर्ष १२ किरण ५ मे २५ गाथाए लघु द्रव्य सग्रह के नाम से प्रकाशित है पर संस्कृत टीकाकार ने २६ गाथाओ का उल्लेख किया है सम्भव है एक गाथा त्रुटित हो गई हो। यह त्रुटित गाथा स्व० प. जुगलकिशोर जी मुख्तार की सम्भावना के अनुसार १०–११ गाथा के बीच की वह गाथा होनी चाहिये जो वृहद् द्रव्य संग्रह मे बीसवें नम्बर की गाथा है।

वृहद् द्रव्य सग्रह के अन्दर ३ अधिकार और ५८ गाथाए है। प्रथम अधिकार मे २७ गाथाओ द्वारा छह द्रव्यो और पाच आस्तिकाओ का द्वितीय अधिकार मे ११ गाथाओ द्वारा सात तत्त्व और नव पदार्थों का तथा तृतीय अधिकार मे बीस गाथाओ द्वारा मोक्ष मार्ग का वर्णन किया गया है।

जिनागम मे कही निश्चय नय से और कही व्यवहार नय से कथन हैं। निश्चय नय के कथन मे व्यवहार नय गौण रहता है। और व्यवहार नय के कथन मे निश्चय नय, गौण रहता है। नयो का यह गौण मुख्य भाव वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है। इस गौण मुख्य भाव की विवक्षा को न समझने से अल्पज्ञ श्रोता भ्रम मे पड जाते हैं परन्तु इस ग्रन्थ मे ग्रन्थ कर्ता ने निश्चय और व्यवहार दोनो नयो के द्वारा पदार्थ का स्वरूप बताते हुए उस शैली को अङ्गीकृत किया है कि जिससे कही किसी भी श्रोता को भ्रम नही हो सकता। जैसे जीव का स्वरूप बताते हुए कहा :—

तिक्काले चदुपाणा इंदिय बल माउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥

अर्थ—तीन काल मे इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणो को जो जीव धारण करता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चय नय से जिसके चेतना है वह जीव है।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

अर्थ—आत्मा व्यवहार नय से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है और निश्चय नय से चेतन कर्म का कर्ता है तथा शुद्ध नय मे शुद्ध भावो का कर्ता है।

यहां निश्चय नय से शुद्ध नय का पृथक् कथन किया है इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ कर्ता को निश्चय नय के अशुद्ध निश्चय नय और शुद्ध निश्चय नय ये दो भेद स्पष्ट है। अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा रागादिक विकारी भावो का कर्ता है और शुद्ध निश्चय नय से अपने ज्ञानादि गुणो का कर्ता है। रागादिक यद्यपि आत्मा के ही परिणाम है परन्तु पर निमित्त मे होने वाले हैं अत. आत्मा के स्वभाव न होकर विभाव कहलाते हैं और ज्ञानादिक, आत्मा मे स्वयं विद्यमान है इसलिये वे स्वभाव कहलाते हैं।

ववहारा सुह दुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

अर्थ—व्यवहार नय मे आत्मा सुख दु ख रूप पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है और निश्चय नय से अपने चेतन भाव को भोगता है ।

मग्गणगुण ठाणेहिं स चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

अर्थ—ससारी जीव अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुण स्थानो के भेद से चौदह चौदह प्रकार के होते है परन्तु शुद्ध नय से सभी ससारी जीव शुद्ध हैं—मार्गणा तथा गुण स्थानो के विकल्प से रहित है। सम्यक् चारित्र का वर्णन भी व्यवहार नय और निश्चय की अपेक्षा साथ साथ किया है —

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाणचारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति को व्यवहार नय से चारित्र जानो। यह व्यवहार चारित्र व्रत, समिति तथा गुप्ति रूप होता है।

बहिरब्भतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स ज जिणुत्तं तं परम सम्मचारित्त ॥४६॥

अर्थ—ससार के कारणो को नष्ट करने के लिये ज्ञानी जीव को जो बाह्य और अन्तरग क्रियाओ का निरोध है। उमे जिनेन्द्र भगवान् ने उत्कृष्ट सम्यग् चारित्र कहा है। सम्यक् चारित्र ही क्यो समस्त मोक्षमार्ग का व्यवहार और निश्चय नय के द्वारा एक साथ कथन किया है .—

सम्मद्ंसणणाणं चरणं मोक्खस्स करण जाणं ।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनो के समुदाय) को व्यवहार नय से मोक्ष का कारण जानो और निश्चय नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र समनिज आत्मा का मोक्ष का कारण जानो।

इस तरह हम देखते है कि ग्रन्थकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव अनेकान्त शैली से वस्तु स्वरूप के निरूपण मे कितने जागरूक हैं। जिस प्रकार मूल ग्रन्थकर्ता इस विषय मे सावधान है उसी प्रकार संस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेवसूरि भी अत्यन्त सावधान है। उन्होने निश्चय नय के शुद्ध निश्चय नय तथा अशुद्ध निश्चय इस प्रकार दो विकल्प किये हैं इसी तरह व्यवहार नय के भी सद्भूत व्यवहार नय, असद्भूत व्यवहार नय, उपचरित्र सद्भूत व्यवहार नय तथा अनुपचरित्र सद्भूत व्यवहार नय भेद किये हैं और विभिन्न नय विवक्षा को स्पष्ट करते हुए पदार्थ का सुन्दर वर्णन किया है।

ग्रन्थकर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

बृहद् द्रव्य सग्रह के कर्ता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव है। यह नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से भिन्न हैं या अभिन्न यह विचारणीय है। सस्कृत टीकाकार के उपोद्घात सम्बन्धी उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ की रचना धारा नगरी के अधिपति प्रसिद्ध राजा भोजदेव के सम्बन्ध महा मण्डलेश्वर श्रीपाल के राज्य काल मे आश्रम नगर मे मुनिसुव्रत नामक चैत्यालय मे जब कि गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती दक्षिण भारत के निवासी थे। गोम्मटसारादि के कर्ता नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार कर्म-काण्ड मे भावास्रव के भेद निम्न प्रकार गिनाये है।

मिच्छत्त अविरमण कसाय जोगार्यं आसवा होति।
पण बारस पणवीसं पण्णसा होति तब्भेया ॥७८६

अर्थ—५ मिथ्यात्व १२ अविरति २५ कषाय और १५ योग ५७ भेद भावास्रव के हैं।
परन्तु द्रव्य संग्रह मे सिर्फ ३२ भेद गिनाये गये।

मिच्छत्ताविरदिपमाद जोग कोहादओथ विण्णेया।
पणपणपणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥३०॥

अर्थ—५ मिथ्यात्व, ५ अविरति, १५ प्रमाद, ३ योग और क्रोधादि ४ कषाय ये ३२ भेद भावास्रव के हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती राजा भोज से पूर्ववर्त्ती है और नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव राजाभोज के सम कालीन हैं। अत समय भेद होने से दोनो भिन्न ही प्रतीत होते है। इतिहासज्ञ विद्वान् स्व० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'पुरातन वाक्य सूची' की प्रस्तवना मे दोनो नेमिचन्द्रो को भिन्न-भिन्न विद्वान बतलाया है। स्व० पं० अजितकुमार जी शास्त्री तथा प० दरबारीलाल जी कोठिया ने भी अपने द्वारा सम्पादित बृहद् द्रव्य सग्रह के सस्करणो में यही अभिप्राय प्रकट किया है। इतना अवश्य है कि लघु द्रव्य सग्रह की जो २५ गाथाए परिशिष्ट मे दी गई है उनमे से ७ वी गाथा 'जिणवरेहिं' के स्थान मे जिणदेहिं' मात्र इतने पाठ भेद के साथ गोम्मटसार जीवकाण्ड१ की ६०१ वी गाथा है और १२ वी गाथा 'असख दव्वाणि' के स्थान पर 'गुणंव्यव्वा' मात्र इतने पाठ भेद को लिये हुए गोम्मटसार जीव काण्ड की ४८८ वी गाथा है। ५ वी गाथा १०। ४६ की गाथा है। सम्भव है द्रव्य संग्रह के कर्ता ने इन पूर्व प्रसिद्ध गाथाओ को ज्यो का त्यो या कुछ हेर फेर के अथवा उनके द्वारा इसी तरह की रची गई के साथ अपने ग्रन्थ का अङ्ग बना लिया हो।

रायमेन ग्रन्थमाला के द्वितीय सस्करण के आधार पर

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने गुरु के रूप मे कई जगह वीरनन्दी, अभयनन्दी, तथा इन्द्रनन्दी आचार्य का स्मरण किया है१ जब कि नेमिचन्द सिद्धान्ति देव ने लघु और वृहद् द्रव्य संग्रह मे किसी भी गुरु का स्मरण न कर अपने को अल्प सूत्र धारी मुनि कहा है। यद्यपि नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने अपने किसी गुरु का उल्लेख नही किया है तो भी वसुनन्दि सिद्धान्ति देव ने अपने गुरु रूप से नेमिचन्द का स्मरण किया है और उन्हे श्रीनन्दि का प्रशिष्य तथा नयनन्दि का शिष्य बतलाया है। नयनन्दि का एक 'सुदंसणचरिउ' है जिसकी रचना उन्होने धारा मे रहते हुए भोजदेव के काल मे (वि० स० ११००) पूर्ण की है। इस तरह नेमिचन्द सिद्धान्तिदेव के गुरु का नाम नयनन्दि जान पडता है। जब कि नयनन्दि का काल 'सुजमणचरिउ'२ के उल्लेख से वि० स० ११०० है। तब नेमिचन्द का काल भी निकट ११२५ वि० स० अर्थात् बारहवी शताब्दी का प्रारम्भ सिद्ध होता है। वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव नाम से प्रसिद्ध है और नेमिचन्द भी सिद्धान्तदेव से प्रसिद्ध है इससे जान पडता है यह उपाधि या उपनाम उस गुरु परम्परा मे प्रचलित रहा होगा। सस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव ने प्रथमाधिकार के बाद चूलिका रूप से वसुनन्दि श्रावकाचार की दो गाथाए (न० २३-२४) उद्धृत कर उनकी मूल गन्थ की तरह व्याख्या की है तथा चूलिका का अर्थ लिखा हे —चूलिका शब्दार्थ कथ्यते।

—चूलिका विशेष व्याख्यान, अथवा उक्तानुक्त व्याख्यानम्। उक्तानुक्त सकीर्ण व्याख्यान चेति

यद्यपि ब्रह्मदेव ने सस्कृत टीका मे बीसो ग्रन्थकारो के उल्लेख उद्धृत किये है परन्तु उक्त च या त दुक्त शब्द के द्वारा ही किये है उन पर कोई वृत्ति नही लिखी है पर वसुनन्दि श्रावकाचार के दो गाथाओ पर उन्होने मूल ग्रन्थ की तरह वृत्ति लिखी है इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मदेव भी वसुनन्दि को नेमिचन्द्र का निकटवर्ती मानते थे।

१—'जस्स य पायपसाएणाणंत ससारजलहिमुत्तिण्णो।
कीरिंदयदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरू ॥४३६॥'
'णमिऊण अमयणदिं सुदसागर पारगिंदणदि गुरू।
वर वरिणदिणाह पयडोण पच्चय वोच्छ' ॥७८५॥
'णनह गुणरयण भूपण सिद्धंतामिय महद्धि भवभावं।
वरवीरणविचद णिम्मलगुणमिंदणदि गुरू' ॥८९६॥ कर्मकाण्ड
'दव्व सगह मिम मुणिणाहा दोससचय शुदासुदपुण्णा।
सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिघन्दमुणिणा भणिय ज ॥५८॥वृहद् द्रव्य सग्रह
'सोमच्छलेग रइया पयत्थलक्खणकराउ गहाओ।
भव्वुनयाररणिमित्त गणिणा सिरिणेमिचन्देण ॥२५॥ लघु द्रव्य संग्रह

२णिवविक्कमकालहो ववगएसु एयारहसवच्छरसएसु। तहिं केवलिचरिउ अभयच्छरेण णयणदी विदयउ वित्थरेण। सुदसण चरिउ अन्तिम प्रशस्ति

लघु और वृहद् द्रव्य संग्रह

यद्यपि संस्कृत टीकाकार के प्रारम्भिक उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि नेमचन्द्र सिद्धान्ति देव ने पहले २६ गाथाओ मे लघु द्रव्य सग्रह रचा अनन्तर उसका विस्तार कर वृहद् द्रव्य सग्रह रचा है तथापि दोनो रचनाओ के अनुसंधान से सिद्ध है कि लघु द्रव्यसंग्रह की सब गाथाए वृहद् द्रव्यसंग्रह मे नही आती हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य के लक्षण बताने वाली ८, ६, १० वी गाथाएं, काल द्रव्य का लक्षण बताने वाली ११ वी गाथा का पूर्वार्ध और १२ तथा १४ वी गाथाएं जो कि वृहद् द्रव्य सग्रह मे क्रमश १७, १८, १६, २१ (पूर्वार्ध २२ और २७ वें नम्बर पर पाई जाती हैं, को छोडकर शेष सब १६।। गाथाएं वृहद् द्रव्य सग्रह मे नही है। इससे सिद्ध होता है कि लघु द्रव्य सग्रह को विस्तृत कर वृहद् द्रव्य संग्रह की रचना नही की गई है किन्तु दोनो की रचना स्वतन्त्र रूप से हुई है दोनो मगल पद्य और उपसहारात्मक अन्तिम पद्य पृथक् पृथक् है। वास्तव मे जिसे सस्कृत टीकाकार ने 'लघु द्रव्य संग्रह' कहा है उसे ग्रन्थ कर्ता ने 'पयत्थ लक्खणकराओ गाहाओ' पदार्थों का लक्षण करने वाली गाथाएं कहा है। और जिस ५८ गाथा की रचना को 'वृहद् द्रव्य संग्रह' कहा है उसे ग्रन्थ कर्ता ने 'दव्वसंगहमिण' पद के द्वारा द्रव्य संग्रह ही कहा है ये लघु और वृहद सज्ञाएं टीकाकार की ही हुई जान पड़ती है।

ग्रन्थ निर्माण का स्थान

संस्कृत टीकाकार के उल्लेखानुसार वृहद् द्रव्य सग्रह की रचना आश्रम नगर के मुनिसुव्रत तीर्थ-ङ्कर के चैत्यालय मे हुई है। यह आश्रम नगर उस समय मालवा के अन्तर्गत था और मालवा के सम्राट धारा नगरी के अधिपति परमारवशी भोजदेव के प्रान्तीय प्रशासक परमार वशीय श्रीपाल के द्वारा प्रशासित था। 'सोम' नामक राज श्रेष्ठी उसका अधिकारी था उसी के अनुरोध पर नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने लघु और वृहद् द्रव्य सग्रह ग्रन्थो की रचना की थी यह आश्रम नगर कौन है तथा वर्तमान मे इसकी क्या स्थिति है। यह जिज्ञासा प्रत्येक जिज्ञासु के हृदय मे उठती है। वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८ अङ्क २३ मे प्रकाशित पं० दीपचन्द्र जी पाड्या केकड़ी का 'क्या पाटण केशोराय ही प्रचीन आश्रम नगर है' शीर्षक लेख तथा अनेकान्त (छोटेलाल स्मृति अङ्क, वर्ष १२ वि० १–२ मे प्रकाशित डा० दशरथ शर्मा का 'आश्रम पत्तन ही केशोराय पट्टन है' शीर्षक निबन्ध देखने मे विदित होता है कि यह 'आश्रम' नगर जिसे साहित्यकारो ने आश्रम, आशारम्य पट्टण, आश्रम पत्तन, पट्टन और पुटभेदन नाम से उल्लिखित किया है, वर्तमान राजस्थान के कोटा से उत्तर पूर्व को ओर लगभग ६ मील की दूरी पर चम्बल नदी पर अवस्थित 'केशोराय पाटण' अथवा 'पाटण केशोराय' ही है। प्रचीन काल मे यह राजा भोज देव के द्वारा शासित मालवा मे रहा है। यह स्थान प्राकृतिक शोभा से सम्पन्न निसर्गरमणीय है। यहां बहुत विशाल लगभग ४० फुट ऊंचा जैन मन्दिर है श्री मुनिसुव्रत नाथ की दिगम्बरीय प्रतिमा मन्दिर के ऊपरी भाग मे भूगर्भ (भोयरा) मे विराजमान है। यह हिन्दुओ का तीर्थ स्थान है नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव ने इस प्रकृति रम्य स्थान में ग्रन्थ रचना की हो इसमें आश्चर्य की कोई बात नही है।

—:*:—

संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव

वृहद् द्रव्य संग्रह के सस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेव सूरि हैं। इन्होने अपनी सुरम्य-सुललित भापा के द्वारा मात्र ५८ गाथाओ के लघु ग्रन्थ को एक विशाल रूप दिया है। यह कहने मे अत्युक्ति नही है कि वृहद् द्रव्य सग्रह का महत्व ब्रह्मदेव की सस्कृत टीका के द्वारा ही वृद्धिगत हुआ है। प्रकृत प्रमेय को समर्थित करने के लिये इन्होने बीसो ग्रन्थो के उद्धरण दिये हैं तथा अनेक दृष्टान्त देकर गहन विपय को बुद्धि गम्य बनाया है। प्रथम तो इन्होने खण्डान्वय के द्वारा गाथा का मूल अर्थ स्पष्ट किया हे तदनन्तर विशेष विवेचन के द्वारा ग्रन्थ को विस्तृत किया है। ये अनेकान्त के तलस्पर्शी विद्वान् थे और किस नय से कहा कैसा विवेचन है यह अच्छी तरह समझते थे। इन्होने प्रकरण पाकर बारह भावनाओ, दशधर्मो ध्यान तथा तीन लोको के अन्तर्गत नरक, मध्यमलोक और ऊर्ध्वलोक का विस्तृत वर्णन किया है। मोक्ष मार्ग के प्रकरण मे चारध्यानो का भी बहुत सुन्दर वर्णन किया है। आपकी कुतूहल पूर्ण भापा का एक नमूना देखिये —

अत्राह शिष्य.—रागद्वेषादय किं कर्मजनिता कि जीव जनिता इति ? तत्रोत्तरम्—स्त्री पुरुष सयोगोत्पन्न पुत्र इव, सुधाहरिद्रा सयोगोत्पन्न वर्णविशेप इवोभय सयोगजनिता इति। पश्चान्नय विवक्षावशेन विवक्षितैक देश शुद्ध निश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तथैवा शुद्ध निश्चयेन जीवजनिता इति। स चाशुद्धनिश्चय. शुद्धनिश्चया पेक्षया व्यवहार एव। अथ मतम्—साक्षाच्छुद्धनिश्चयेन कस्येतिपृच्छामो वयम्। तत्रोत्तरम् साक्षाच्छुद्धनिश्चयेन स्त्री पुरुषसंयोगरहित पुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तर प्रयच्छाम. इति (पृष्ठ १७७--१७८)

अर्थ–शिष्य पूछता है–राग-द्वेष आदि कर्मो से उत्पन्न हुए है या जीव से ? इसका उत्तर–स्त्री और पुरुष इन दोनो के सयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान चूना तथा हल्दी इन दोनो के मेल से उत्पन्न हुए लाल रग की तरह राग द्वेष आदि, जीव और कर्म इन दोनो के वियोग से उत्पन्न हुए हे। नयकी विवक्षा के अनुसार, विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चय से तो राग द्वेष कर्म जनित कहलाते हैं। अशुद्ध निश्चय नय से जीव जनित कहलाते हैं। यह अशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार नय ही है। शङ्का—साक्षात् शुद्ध निश्चय नय से ये राग द्वेप किसके हैं, ऐसा हम पूछते है ? समाधान—स्त्री और पुरुप के संयोग विना पुत्र की अनुत्पत्ति की भाति, और चूना व हल्दी के सयोग विना लाल रग की अनुत्पत्ति के समान, साक्षात् शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से इन राग द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती इसलिये हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर हो कैसे देवे।

किस गुणस्थान मे कौन उपयोग होता है ? पुण्य उपादेय है या हेय ? कार्य की सिद्धि मे निमित्त और उपादान की आवश्यकता क्या है ? तेरहवे गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता हो जाने पर भी तत्काल मोक्ष क्यो नही होता है आदि विवाद ग्रस्त विपयो पर भी अच्छा प्रकाश डाला है।

वृहद् द्रव्य संग्रह के समान योगीन्द्रदेव के परमात्म प्रकाश पर भी आपकी सुन्दर वृत्ति है। यद्यपि परमात्म प्रकाश, निश्चय नय प्रधान रचना है तो भी आपने नय विवक्षा के अनुसार दोनो नयो की सगति बैठाते हुए विवेचन किया है।

ब्रह्मदेव वसुनन्दि [वि० सं११५०] से उत्तरवर्ती और समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति के रचयिता जयसेन [वि० १२१७] तथा प० आशाधर जी [वि० स० १२९६] से पूर्ववर्ती अर्थात् वि० स० ११५० मे वि० स० १२०० तक के विद्वान प्रतीत होते हैं।

हिन्दी टीकाएं

द्रव्य संग्रह पर छात्रोपयोगी टीकाओ के अतिरिक्त श्री पण्डित प्रवर जयचन्द्र जी छावडा कृत देश वचनिका टीका भी है जिसका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थ माला वाराणसी से हुआ है और सम्पादन समाज के मान्य विद्वान् डा० दरवारीलाल जी कोठिया वाराणसी के द्वारा।

पूर्व संस्करण

द्रव्य सग्रह का प्रकाशन सर्व प्रथम प० जवाहरलालजी कृत हिन्दी टीका के साथ रायसेन ग्रन्थमाला बम्बई से हुआ था। इसके वहा से दो सस्करण प्रकाशित हो चुके है। पश्चात् गणेशवर्णी ग्रन्थमाला खरखरी से ब्र० रतनचन्द जी मुख्तार द्वारा और दिल्ली से प० अजितकुमार जी शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशन हुआ। ग्रन्थ की सरलता स्वाध्याय प्रेमी जनता को सदा से आर्कपित करती आ रही है इसलिये इतने प्रकाशन होने पर भी स्वाध्याय प्रेमियो के लिये ग्रन्थ दुष्प्राप्य था अन श्री शान्तिसागर दिगम्बर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था शान्तिवीर नगर महावीर जी की ओर से इसका पुन प्रकाशन किया जा रहा है ग्रन्थ का सशोधन श्री अशोक बडजात्या शान्तिवीर नगर ने किया है इसलिये ये सब धन्यवाद के पात्र है।

ग्रन्थ का प्रकाशन स्व० आचार्य शिवसागर जी महाराज की सम्मत्यनुसार शुरू हुआ था परन्तु खेद है कि प्रकाशन की पूर्णता उनकी समाधि के पश्चात् हो रही है। अन्त में दिवगत आचार्य वर्य के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हुआ प्रस्तावना लेख समाप्त करता हूँ। प्रस्तावना लेख मे पूर्व सस्करणो के प्रस्तावना लेखो से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुयी है अत उन सव के प्रति आभारी हूँ। त्रुटियो के लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

विनीत :—
पन्नालाल साहित्याचार्य

सागर
महावीर जयन्ती
२४९५ वीर निर्वाण सवत्

वृहद् द्रव्य संग्रह

विषय सूची

प्रथम अधिकार

(गाथा १ से २७ तक तथा पृष्ठ स० १ से ६४ तक)

गाथा नं०	विषय	पृ० संख्या

गाथा नं०	विषय	पृ० संख्या

प्रथमाधिकार समाप्त:

चूलिका

दूसराधिकार

गाथा नं०	विषय	पृष्ठ सं०

तृतीय अधकार

द्रव्यसंग्रह–संस्कृत टीकायामुक्तानां पद्यादीनां वर्णानुक्रमसूची

*इन पद्यो का रूपान्तर होने पर भी भाव वही है



श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित

बृहद्द्रव्यसंग्रहः ।

[संस्कृत टीकया हिन्दीटीकया च समेत]

श्रीब्रह्मदेवकृत-संस्कृतटीका ।

प्रणम्य परमात्मानं सिद्धं त्रैलोक्यवन्दितम् ।
स्वाभाविकचिदानन्दस्वरूपं निर्मलाव्ययम् ॥१॥
शुद्धजीवादिद्रव्याणां[1] देशकं च जिनेश्वरम् ।
द्रव्यसंग्रहसूत्राणां वृत्तिं वक्ष्ये समासतः ॥२॥ युग्मम् ।

अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमहामण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्य-

---

निःसीमज्ञानादिकशक्तियुक्त जो शुद्ध प्रबुद्ध वसुकर्ममुक्त है ।
प्रणाम करता हूं जिनेन्द्रदेव को त्रिलोक-वंद्य जो युक्तियुक्त है ॥

भावार्थ—त्रिलोक से वंदनीय, स्वाभाविक चैतन्य (ज्ञान) व आनन्द (सुख) मयी, कर्म रूपी मल से रहित तथा अविनश्वर, ऐसे सिद्ध परमात्मा को और शुद्ध जीव आदि छह द्रव्यों का उपदेश देने वाले श्री जिनेन्द्र [अरिहन्त] भगवान को नमस्कार करके मैं [ब्रह्मदेव] द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के सूत्रों की वृत्ति [टीका] को संक्षेप से कहूंगा ॥ १-२ ॥

वृत्त्यर्थ—मालवा देश में धारा नगरी के शासक कलिकालचक्रवर्ती 'भोजदेव' राजाका सम्बन्धी 'श्रीपाल' महामण्डलेश्वर [राज्य के कुछ अंश का शासक] था । उस श्रीपाल के 'आश्रम' नगर में श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्कर के मन्दिर में 'सोम' सेठ के लिये 'श्रीनेमिचन्द्र' सिद्धान्त चक्रवर्ती ने लघु

१-'तत्त्वानाम्' इति पाठान्तरम् ।

नेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्त श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवै पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसग्रह कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य वृहद्द्रव्यसग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्या वृत्ति. प्रारभ्यते। तत्रादौ "जीवमजीवं दव्व इत्यादि सप्तविंशतिगाथापर्यन्त षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकार। तदनन्तर "आसववंधरण" इत्याद्येकादशगाथापर्यन्त सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादनमुख्यतया द्वितीयो महाधिकार। तत पर "सम्मद्दंसरणगाण" इत्यादिविंशतिगाथापर्यन्त मोक्षमार्गकथनमुख्यत्वेन[1] तृतीयोऽधिकारश्च। इत्यष्टाधिकपञ्चाशद्गाथाभिरधिकारत्रय ज्ञातव्यम्। तत्राप्यादौ प्रथमाधिकारे चतुर्दशगाथापर्यन्त जीवद्रव्यव्याख्यानम्। तत परं "अज्जीवो पुण ग्रेओ" इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्तमजीवद्रव्यकथनम्। तत पर "एवं छब्भेयमिद" एव

द्रव्यसंग्रह का पहले २६ गाथाओ मे निर्माण किया था वह सोम सेठ शुद्ध आत्म-द्रव्य के सवेदन से उत्पन्न होने वाले सुखामृत रस के आस्वाद से विपरीत नरकादि के दुख से भयभीत था और परमात्मा की भावना से प्रगट होने वाले सुखरूपी अमृत रस का प्यासा था, भेद-अभेद रूप रत्नत्रय [निश्चय व्यवहार रूप रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र] भावना का वहुत प्रेमी था, भव्य जनो मे श्रेष्ठ था तथा राजकोष (राज-खजाने) का कोषाध्यक्ष (खजानची) आदि अनेक राज-कार्यो का अधिकारी था। फिर श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उस लघु द्रव्यसंग्रह को विशेष तत्त्वज्ञान कराने के लिये वढाकर ५८ गाथाओ मे रचा, उस वडे द्रव्यसग्रह के अधिकारो का विभाजन करते हुये मैं [ब्रह्मदेव] वृत्ति आरम्भ करता हू।

उस वृहद्द्रव्यसंग्रह नामक शास्त्र मे पहले "जीवमजीव दव्व" इस गाथासे लेकर "जीवदिय आयास" इस सत्ताईसवी गाथा तक जीव १, पुद्गल २, धर्म ३, अधर्म ४, आकाश ५ और काल ६ इन छः द्रव्यो का तथा जीव १, पुद्गल २, धर्म ३, अधर्म ४ और आकाश ५ इन पाचो अस्तिकायो का वर्णन करने वाला षड्द्रव्य पंचास्तिकायप्रतिपादक नामक पहला अधिकार है। इसके वाद "आसववंधरणसंवर" इस गाथा से लेकर "सुहअसुहभावजुत्ता" इस अडतीसवी गाथा तक जीव १, अजीव २, आस्रव ३ वध ४, सवर ५, निर्ज्जरा ६ और मोक्ष ७ इन सातो तत्वो का और जीव १,अजीव २,आस्रव ३; बंध ४, सवर ५, निर्ज्जरा ६, मोक्ष ७, पुण्य ८ और पाप ९ इन नव पदार्थो का मुख्यता से प्रतिपादन करने वाला "सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादक" नामक दूसरा महाअधिकार है। तदनन्तर "सम्मद्दसणंणाण" इस गाथा से लेकर अगली वीस गाथाओ तक मुख्यता से मोक्षमार्ग का वर्णन करने वाला तीसरा अधिकार है। इस प्रकार अट्ठावन गाथाओ द्वारा तीन अधिकार जानने चाहिये।

उन तीनो अधिकारो मे भी आदि का जो पहला अधिकार है उस मे १४ गाथा द्वारा "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" इस गाथा तक जीवद्रव्य का व्याख्यान है। उसके आगे "अज्जीवो पुण णेओ"

१—'मुख्यतया' इति पाठान्तरम्।

सूत्रपञ्चकपर्यन्त पञ्चास्तिकायविवरणम् । इति प्रथमाधिकारमध्येऽन्तराधिकारत्रयमवबोद्धव्यम् । तत्रापि चतुर्दशगाथासु मध्ये नमस्कारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा । जीवादिनवाधिकारसूचनरूपेण "जीवो उवओगमओ" इत्यादि द्वितीयसूत्रगाथा । तदनन्तर नवाधिकारविवरणरूपेण द्वादशसूत्राणि भवन्ति । तत्राप्यादौ जीवसिद्ध्यर्थं "तिक्काले चदुपाणा" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम् । तदनन्तर ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयकथनार्थं "उवओगो दुवियप्पो" इत्यादिगाथात्रयम्, तत परममूर्त्तत्वकथनेन "वण्णरसपच" इत्यादिसूत्रमेकम्, ततोऽपि कर्मकर्तृत्वप्रतिपादनरूपेण "पुग्गलकम्मादीण" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, तदनन्तर भोक्तृत्वनिरूपणार्थं "ववहारा सुहदुक्ख" इत्यादिसूत्रमेकम्, तत पर स्वदेहप्रमितिसिद्ध्यर्थं "अणुगुरुदेहपमाणो" इतिप्रभृतिसूत्रमेकम्, ततोऽपि ससारिजोवस्वरूपकथनेन "पुढविजलतेउवाऊ" इत्यादिगाथात्रयम्, तदनन्तर "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" इति प्रभृतिगाथापूर्वार्धेन सिद्धस्वरूपकथनम्, उत्तरार्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभाव । इति नमस्कारादिचतुर्दशगाथामेलापकेन प्रथमाधिकारे समुदायपातनिका ।

अथेदानी गाथापूर्वार्धेन सम्बन्धाऽभिधेयप्रयोजनानि कथयाम्युत्तरार्धेन च मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कार करोमीत्यभिप्राय मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिद प्रतिपादयति,—

इस गाथा से लेकर "लोयायासपदेसे" गाथा तक की आठ गाथाओ मे अजीवद्रव्य का वर्णन है। तदनन्तर "एव छब्भेयमिद" इस गाथा से लेकर पाच गाथाओ मे "जावदिय आयास" इस गाथा तक पाच अस्तिकायो का वर्णन करने वाला तीसरा अन्तराधिककार है। इस तरह प्रथम अधिकार मे तीन अन्तराधिकार समझने चाहिये । प्रथम अधिकार के पहले अन्तराधिकार मे जो चौदह गाथाए है उनमे नमस्कार की मुख्यता से पहली गाथा है। जीव आदि नव ९ अधिकारो के सूचना रूप से "जीवो उवओगमओ" दूसरी सूत्र गाथा है। इसके पश्चात् नौ अधिकारो का विशेष वर्णन करने रूप बारह गाथाए है। इन १२ सूत्रो मे भी प्रथम ही जीव की सिद्धि के लिये "तिक्काले चदुपाणा" इत्यादि एक गाथा है। इसके बाद ज्ञान और दर्शन इन दोनो उपयोगो को कहने के लिये "उवओगो दुवियप्पो" इत्यादि तीन गाथा सूत्र है। तदनन्तर जीव की अमूर्त्तता का कथन रूप "वण्णरसपचगधा" एक गाथासूत्र है। तत्पश्चात् जीव के कर्मकर्तृता का प्रतिपादन करने रूप "पुग्गलकम्मादीण" एक गाथा सूत्र है। इसके पीछे जीव के कर्मफलो के भोक्तापने का कथन करने के लिये "ववहारा सुहदुक्ख" इत्यादिक एक गाथा है। उसके पीछे जीव को अपने देह-प्रमाण सिद्ध करने के लिये "अणुगुरुदेहपमाणो" एक गाथासूत्र है। इसके बाद ससारी जीव के स्वरूप का कथन करने रूप "पुढविजलतेउवाऊ आदि तीन गाथासूत्र है। इसके अनन्तर "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" गाथा के पूर्वार्ध मे जीव के सिद्ध स्वरूप का कथन किया है और उत्तरार्ध मे जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का वर्णन किया है। इस प्रकार नमस्कार गाथा से लेकर जो चौदह गाथासूत्र हैं, उनका मेल करने से प्रथम अधिकार मे समुदाय रूप मे पातनिका का कथन है।

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥ १ ॥

जीवमजीवं द्रव्यं जिनवरवृषभेण येन निर्दिष्टम् ।
देवेन्द्रवृन्दवन्द्यं वन्दे तं सर्वदा शिरसा ॥ १ ॥

व्याख्या—'वंदे' इत्यादिक्रियाकारकसम्बन्धेन पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। 'वंदे' एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनालक्षणभावस्तवनेन तथा च असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च 'वंदे' नमस्करोमि। परमशुद्धनिश्चयनयेन पुनर्वन्द्यवन्दकभावो नास्ति। स कः कर्ता? अहं नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवः। कथं वन्दे? "सव्वदा" सर्वकालम्। केन? 'सिरसा" उत्तमाङ्गेन। "तं" कर्म्मतापन्नं। तं कं? वीतरागसर्वज्ञम्। किं विशिष्टम्? 'देविंदविंदवंदं' मोक्षपदाभिलाषिदेवेन्द्रादिवन्द्यम्, "भवणालयचालीसा विंतरदेवाण होंति बत्तीसा। कप्पामरचउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ" ॥ १ ॥" इति गाथाकथितलक्षणेन्द्राणां शतेन वन्दितं देवेन्द्रवृन्दवन्द्यम्। "जेण" येन भगवता। किं कृतं? 'णिद्दिट्ठं" निर्दिष्टं कथितं प्रतिपादितम्। किं? "जीवमजीवं दव्वं"

अब गाथा के पूर्वार्ध द्वारा सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन कहता हूं, और गाथा के उत्तरार्ध से मङ्गल के लिये इष्ट देवता को नमस्कार करता हूं, इस अभिप्राय को मन मे रखकर भगवान् "श्रीनेमिचन्द्र आचार्य" प्रथम सूत्र कहते हैं —

गाथार्थ—मैं [नेमिचन्द्र आचार्य] जिस जिनवरोंमे प्रधानने जीव और अजीव द्रव्यका वर्णन किया, उस देवेन्द्रादिको के समूहमे वंदित तीर्थङ्कर परमदेव को सदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥१॥

वृत्यर्थ—'वंदे' इत्यादि पदो का क्रियाकारकभावसंबन्ध से पदखंडना रीतिद्वारा व्याख्यान किया जाता है। "वंदे" एक देश शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से निज-शुद्ध आत्मा का आराधन करने रूप भावस्तवन से और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा उस निज-शुद्ध आत्मा का प्रतिपादन करने वाले वचनरूप द्रव्यस्तवन से नमस्कार करता हूं। तथा परमशुद्ध निश्चयनय से वन्द्यवन्दक भाव नहीं है। [अर्थात् एक देश शुद्धनिश्चयनय और असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से जिनेन्द्रदेव वन्दनीय हैं और मैं वन्दना करने वाला हूँ किन्तु परमशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वन्द्यवन्दक भाव नही है, क्योकि जिनेन्द्र भगवान और मेरी आत्मा समान हैं।] वह नमस्कार करने वाला कौन है ? मैं द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ का निर्माता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव हूं। कैसे नमस्कार करता हूं? "सव्वदा" सदा "सिरसा" शिर झुका करके नमस्कार करता हूं। "तं" वन्दना क्रिया के कर्मपने को प्राप्त। किसको नमस्कार करता हूं ? उस वीतराग-सर्वज्ञ को। वह वीतरागसर्वज्ञ देव कैसा है? "देविंदविंद वंदं" मोक्ष पद के अभिलाषी देवेन्द्रादि से वन्दनीक हैं। 'भवनवासी देवो के ४० इन्द्र, व्यन्तर देवो के ३२ इन्द्र, कल्पवासी देवो के २४ इन्द्र, ज्योतिष्क देवो के चन्द्र और सूर्य ये २ इन्द्र, मनुष्यो का १ इन्द्र—चक्रवर्ती तथा तिर्यञ्चो का १ इन्द्र सिंह ऐसे सब मिल कर १०० इन्द्र हैं ॥ १ ॥ इस गाथा मे कहे १०० इन्द्रो से वंदनीय है। जिस भगवान् ने क्या किया है? "णिद्दिट्ठं" कहा है। क्या कहा है? जीवमजीवं दव्वं" जीव और अजीव

जीवाजीवद्रव्यद्वयम् । तद्यथा,—सहजशुद्धचैतन्यादिलक्षणं जीवद्रव्यं तद्विलक्षणं पुद्गलादिपञ्चभेदमजीवद्रव्यं च, तथैव चिच्चमत्कारलक्षणशुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायानां, परमचिज्ज्योतिःस्वरूपशुद्धजीवादिसप्ततत्त्वानां निर्दोषपरमात्मादिनवपदार्थानां च स्वरूपमुपदिष्टम् । पुनरपि कथम्भूतेन² भगवता ? "जिणवरवसहेण" जिनमिथ्यात्वरागादित्वेन एकदेशजिना असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयस्तेषां वरा गणधरदेवास्तेषां जिनवराणां वृषभः प्रधानो जिनवरवृषभस्तीर्थंकरपरमदेवस्तेन जिनवरवृषभेणेति । अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कारः उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थमर्हत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः । तथा चोक्तं—"श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः । इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥ १ ॥" अत्र गाथापरार्द्धेन—'नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम् । पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः ॥२॥" इति श्लोककथितफलचतुष्टयं समीक्षमाणा ग्रन्थकाराः शास्त्रादौ त्रिधा देवतायै त्रिधा नमस्कारं कुर्वन्ति । त्रिधा देवता कथ्यते । केन प्रकारेण ? इष्टाधिकृताभिमतभेदेन । इष्टः स्वकीयपूज्यः (१) । अधिकृतः ग्रन्थस्यादौ प्रकरणस्य वा नमस्करणीयत्वेन विवक्षितः (२) । अभिमतः—सर्वेषां लोकानां विवादं विना सम्मतः (३) । इत्यादिमङ्गलव्याख्यानं सूचितम् । मङ्गलमित्युपलक्षणम् ।

दो द्रव्य कहे हैं । जैसे कि स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य आदि लक्षणवाला जीव द्रव्य है, और इनसे विलक्षण गुणी यानी—अचेतन १ पुद्गल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल, इन पांच भेदों वाला अजीव द्रव्य है । तथा चित्चमत्काररूप लक्षणवाला शुद्ध जीव—अस्तिकाय, एवं पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच अस्तिकाय हैं । परमज्ञान—ज्योति-स्वरूप शुद्ध जीव तथा अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं और दोषरहित परमात्मा जीव आदि नौ पदार्थ हैं, उन सबका स्वरूप कहा है । पुनः वे भगवान् कैसे हैं ? "जिणवरवसहेण" मिथ्यात्व तथा राग आदि को जीतने के कारण असंयतसम्यग्दृष्टि आदि एकदेशी जिन हैं, उनमें जो वर—श्रेष्ठ हैं वे जिनवर यानी गणधरदेव हैं, उन जिनवरों—गणधरों में भी जो प्रधान हैं, वह जिनवरवृषभ अर्थात् तीर्थंकर परम देव हैं । उन जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये हैं, इति ।

आध्यात्मिक शास्त्र में यद्यपि सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार करना उचित है तो भी व्यवहारनय का अवलम्बन लेकर जिनेन्द्र के उपकार—स्मरण करने के लिये अर्हत्परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है । ऐसा कहा भी है कि "अर्हत्परमेष्ठी के प्रसाद से मोक्ष-मार्ग की सिद्धि होती है । इसलिये प्रधान मुनियों ने शास्त्र के प्रारम्भ में अर्हत्परमेष्ठी के गुणों की स्तुति की है ॥ १ ॥" यहां गाथा के उत्तरार्द्ध से "१ नास्तिकता का त्याग, २ सभ्य पुरुषों के आचरण का पालन, ३ पुण्य की प्राप्ति और ४ विघ्न विनाश, इन चार लाभों के लिये शास्त्र के आरम्भ में इष्टदेव की स्तुति की जाती है ॥ १ ॥" इस तरह

१—'पञ्चत्वात्' इति पाठान्तरम् । २—'कथम्भूतेन ? तेन भगवता जिणवरवसहेण' इति पाठान्तरम् ।

उक्तं च—मङ्गलणिमित्तहेउ परिमाण णाम तह य कत्तार। वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमायरिओ ॥ १ ॥" "वक्खाणउ" व्याख्यातु। स क? "आयरिओ" आचार्य। क? "सत्थ" शास्त्र। "पच्छा" पश्चात्। किं कृत्वा पूर्व? "वागरिय" व्याकृत्य व्याख्याय। कान्? 'छप्पि" षडप्यधिकारान्। कथंभूतान्? "मङ्गलणिमित्तहेउ परिमाण णाम तह य कत्तार" मङ्गल निमित्त हेतु परिमाण नाम कर्तृसंज्ञामिति। इति गाथाकथितक्रमेण मङ्गलाद्यधिकारषट्कमपि ज्ञातव्यम्। गाथापूर्वार्धेन तु सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि सूचितानि। कथमिति चेत्?—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मस्वरूपादिविवरणरूपो वृत्तिग्रन्थो व्याख्यानम्। व्याख्येय तु तत्प्रतिपादकसूत्रम्। इति व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धो विज्ञेय। यदेव व्याख्येयसूत्रमुक्तं तदेवाभिधान वाचक प्रतिपादक भण्यते, अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारपरमात्मादिस्वभावोऽभिधेयो वाच्य प्रतिपाद्य। इत्यभिधानाभिधेयस्वरूप बोधव्यम्। प्रयोजन तु व्यवहारेण षड्द्रव्यादिपरिज्ञानम्, निश्चयेन निजनिरञ्जनशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरूप स्वसवेदनज्ञानम्। परमनिश्चयेन पुनस्तत् फलरूपा केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाविनाभूता निजात्मोपादानसिद्धानन्तसुखावाप्तिरिति। एव नमस्कारगाथा व्याख्याता।

श्लोक मे कहे हुए चार फलो को देखते हुए शास्त्रकार तीन प्रकार के देवता के लिये मन, वचन और काय द्वारा नमस्कार करते हैं। तीन प्रकार के देवता कहे जाते हैं। किस प्रकार? इष्ट, अधिकृत और अभिमत ये तीन भेद हैं। 'इष्ट'—अपने द्वारा पूज्य वह इष्ट है [१]। 'अधिकृत'—ग्रन्थ अथवा प्रकरण के आदि मे नमस्कार करने के लिये जिसकी विवक्षा की जाती है वह अधिकृत है [२]। 'अभिमत' विवाद विना सब लोगो को सम्मत हो, वह अभिमत है [३]। इस तरह मङ्गल का व्याख्यान किया।

यहा मङ्गल यह उपलक्षण पद है। कहा भी है कि "आचार्य १ मङ्गलाचरण, २ शास्त्र बनाने का निमित्त—कारण, ३ शास्त्र का प्रयोजन, ४ शास्त्र का परिमाण यानी श्लोकसख्या, ५ शास्त्र का नाम और शास्त्र का कर्ता, इन छ अधिकारो को बतला करके शास्त्र का व्याख्यान करे ॥ १ ॥" इस गाथा मे कहे हुए मङ्गल आदि ६ अधिकार भी जानने चाहिये। गाथा के पूर्वार्ध से सम्बन्ध, अभिधेय तथा प्रयोजन सूचित किया है। कैसे सूचित किया है? इसका उत्तर यह है कि निर्मल ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव-धारक जो परमात्मा है, उसके स्वरूप को विस्तार से कहने वाली जो वृत्ति है, वह तो व्याख्यान है और उसके प्रतिपादन करने वाले जो गाथा सूत्ररूप है वह व्याख्येय (व्याख्या करने योग्य) है। इस प्रकार व्याख्यानव्याख्येयरूप "सम्बन्ध" जानना चाहिये। और जो व्याख्यान करने योग्य सूत्र है वही अभिधान अर्थात् वाचक कहलाता है। तथा अनन्त ज्ञानादि अनन्त गुणो का आधार जो परमात्मा आदि का स्वभाव है वह अभिधेय है अर्थात् कथन करने योग्य विषय है। इस प्रकार "अभिधान–अभिधेय का" स्वरूप जानना चाहिये। व्यवहारनय की अपेक्षा से 'षट्द्रव्य आदि का जानना' इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। और निश्चयनय से अपने निर्लेप शुद्ध आत्मा के ज्ञानमे प्रगट हुआ जो विकार रहित परम आनन्दरूपी

अथ नमस्कारगाथाया प्रथम यदुक्त जीवद्रव्य तत्सम्बन्धे नवाधिकारान् सक्षेपेण सूचयामीति अभिप्राय मनसि सम्प्रधार्य कथनसूत्रमिति निरूपयति —

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥ २ ॥

जीवः उपयोगमयः अमूर्त्तिः कर्ता स्वदेहपरिमाणः ।
भोक्ता ससारस्थः सिद्धः स विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥ २ ॥

व्याख्या—"जीवो" शुद्धनिश्चयनयेनादिमध्यान्तवर्जितस्वपरप्रकाशकाविनश्वरनिरुपाधिशुद्धचैतन्यलक्षणनिश्चयप्राणेन यद्यपि जीवति, तथाप्यशुद्धनयेनानादिकर्मबन्धवशादशुद्धद्रव्यभावप्राणैर्जीवतीति जीव । "उवओगमओ" शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तथाप्यशुद्धनयेन क्षायोपशमिकज्ञानदर्शननिर्वृत्तत्वात् ज्ञानदर्शनोपयोगमयो भवति । "अमुत्ति" यद्यपि व्यवहारेण मूर्तकर्माधीनत्वेन स्पर्शरसगन्धवर्णवत्या मूर्त्या सहितत्वान्मूर्त्तस्तथापि परमार्थेनामूर्त्तातीन्द्रियशुद्धबुद्धैकस्वभावत्वादमूर्त्त । "कत्ता" यद्यपि भूतार्थनयेन निष्क्रियटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावोऽय जीव तथाप्यभूतार्थनयेन मनो-

---

रूपी अमृत रस का आस्वादन करने रूप जो स्वसवेदन ज्ञान है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। परम निश्चयनय से उस आत्मज्ञान के फलरूप--केवलज्ञान आदि अनन्त गुणो के विना न होने वाली और निज आत्मारूप उपादान कारण से सिद्ध होने वाली ऐसी जो अनन्त सुख की प्राप्ति है, वह इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। इस तरह पहली नमस्कार--गाथा का व्याख्यान किया है।

अब 'नमस्कार गाथा मे जो प्रथम ही जीवद्रव्य कहा गया है, उस जीवद्रव्य के सम्बन्ध मे नौ अधिकारो को मै सक्षेप से सूचित करता हू।' इस अभिप्राय को मन मे धारण करके श्रीनेमिचन्द्र आचार्य जीव आदि नौ अधिकारो को कहने वाले सूत्र का निरूपण करते है —

गाथार्थ—जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, अपने शरीर के बराबर है, भोक्ता है, संसार मे स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है, वह जीव है ॥ २ ॥

वृत्त्यर्थ—"जीवो" यह जीव यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से आदि, मध्य और अन्त से रहित, निज तथा अन्य का प्रकाशक, अविनाशी उपाधिरहित और शुद्ध चैतन्य लक्षणवाले निश्चय प्राणसे जीता है, तथापि अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अनादिकर्मबन्धन के वश अशुद्ध द्रव्यप्राण और भावप्राण से जीता है, इसलिये जीव है। "उवओगमओ" यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से पूर्ण निर्मल, केवल ज्ञान व दर्शन दो उपयोगमय जीव है; तो भी अशुद्धनय से क्षायोपशमिक-ज्ञान और दर्शन से बना हुआ है, इस कारण ज्ञानदर्शनोपयोगमय है। "अमुत्ति" यद्यपि जीव व्यवहारनयसे मूर्तिककर्मों के अधीन होने से स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाली मूर्त्तिसे सहित होनेके कारण मूर्तिक है, तो भी निश्चयनय से अमूर्त्तिक, इन्द्रियो के आगोचर,

वचनकायव्यापारोत्पादककर्मसहितत्वेन शुभाशुभकर्म्मकर्तृत्वात् कर्त्ता। "सदेहपरिमाणो" यद्यपि निश्चयेन सहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशस्तथापि व्यवहारेणानादिकर्म्मबन्धाधीनत्वेन शरीरनामकर्मोदयजनितोपसंहारविस्ताराधीनत्वात् घटादिभाजनस्थप्रदीपवत् स्वदेहपरिमाण। "भोत्ता" यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वात्मोत्थसुखामृतभोक्ता, तथाप्यशुद्धनयेन तथाविधसुखामृतभोजनाभावाच्छुभाशुभकर्मजनितसुखदुःखभोक्तृत्वाद्भोक्ता। "संसारत्थो" यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन निःसंसारनित्यानन्दैकस्वभावस्तथाप्यशुद्धनयेन द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारसंसारे तिष्ठतीति संसारस्थ। 'सिद्धो' व्यवहारेण स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धत्वप्रतिपक्षभूतकर्मोदयेन यद्यप्यसिद्धस्तथापि निश्चयनयेनानन्तज्ञानानन्तगुणस्वभावत्वात् सिद्ध। 'सो' स एव गुणविशिष्टो जीव। 'विस्ससोड्ढगई' यद्यपि व्यवहारेण चतुर्गतिजनककर्मोदयवशेनोर्द्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावस्तथापि निश्चयेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणावाप्तिलक्षणमोक्षगमनकाले विस्रसा स्वभावेनोर्द्ध्वगतिश्चेति

शुद्ध, बुद्धरूप एक स्वभाव का धारक होनेसे अमूर्त्तिक है। "कत्ता" यद्यपि यह जीव निश्चयनय से क्रिया रहित, टंकोत्कीर्ण—अविचल ज्ञायक एक स्वभाव का धारक है, तथापि व्यवहारनयसे मन, वचन, काय के व्यापार को उत्पन्न करने वाले कर्मों से सहित होनेके कारण शुभ और अशुभ कर्मोंका करनेवाला होनेसे कर्ता है। "सदेहपरिमाणो" यद्यपि जीव निश्चयनय से लोकाकाश के प्रमाण असंख्यात स्वाभाविक शुद्ध प्रदेशो का धारक है, तो भी व्यवहार से अनादि कर्मबन्धवशात् शरीर कर्म के उदय से उत्पन्न, संकोच तथा विस्तार के अधीन होनेसे, घट आदि मे स्थित दीपक की तरह, अपने देह के बराबर है। "भोत्ता" यद्यपि जीव शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से रागादिविकल्प रूप उपाधियो से रहित तथा अपनी आत्मा से उत्पन्न सुख रूपी अमृत का भोगने वाला है, तो भी अशुद्धनय की अपेक्षा उस प्रकार के सुख अमृत भोजन के अभाव से शुभ कर्म से उत्पन्न सुख और अशुभ कर्म से उत्पन्न दुख का भोगने वाला होनेके कारण भोक्ता है। "संसारत्थो" यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से संसार रहित है और नित्य आनन्द एक स्वभाव का धारक है, फिर भी अशुद्धनय की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव इन पाच प्रकार के संसार मे रहता है, इस कारण संसारस्थ है। "सिद्धो" यद्यपि यह जीव व्यवहारनय से निज-आत्मा की प्राप्ति-स्वरूप जो सिद्धत्व है उसके प्रतिपक्षी कर्मों के उदय से असिद्ध है, तो भी निश्चयनय से अनन्त ज्ञान और अनन्त-गुण-स्वभाव होने से सिद्ध है। "सो" वह इस प्रकार के गुणो से युक्त जीव है। 'विस्ससोड्ढगई' यद्यपि व्यवहार से चार गतियो को उत्पन्न करने वाले कर्मों के उदय-वश ऊचा, नीचा तथा तिरछा गमन करने वाला है, फिर भी निश्चयनय से केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणो की प्राप्ति स्वरूप जो मोक्ष है उसमे पहुँचने के समय स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है। यहा पर खडान्वय के ढंग से शब्दो का अर्थ कहा, तथा शुद्ध, अशुद्ध नयो के विभाग से नय का अर्थ भी कहा है। अब मत का अर्थ कहते है। चार्वाक के लिये जीव की सिद्धि की गई है। नैयायिक के लिये जीव का ज्ञान तथा दर्शन उपयोगमय लक्षण का कथन है। भट्ट तथा चार्वाक के प्रति जीवका अमूर्त स्थापन है, 'आत्मा कर्म का कर्ता है' ऐसा कथन सांख्य के प्रति है। 'आत्मा अपने शरीर प्रमाण है' यह कथन नैयायिक, मीमांसक और सांख्य

अत्र पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः, शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्थोऽप्युक्तः। इदानी मतार्थः कथ्यते। जीवसिद्धिश्चार्वाकं प्रति, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं नैयायिकं प्रति, अमूर्तजीवस्थापनं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, कर्मकर्तृत्वस्थापनं साख्यं प्रति, स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसाख्यत्रयं प्रति, कर्मभोक्तृत्वव्याख्यानं बौद्धं प्रति, ससारस्थव्याख्यानं सदाशिवं प्रति, सिद्धत्वव्याख्यानं भट्टचार्वाकद्वयं प्रति, ऊर्ध्वगतिस्वभावकथनं माण्डलिकग्रन्थकारं प्रति, इति मतार्थो ज्ञातव्यः। आगमार्थः पुनः 'अस्त्यात्मानादिबद्धः' इत्यादि प्रसिद्ध एव। शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयम्, शेषं च हेयम्। इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः। एवं शब्दनयमतागमभावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः। इति जीवादिनवाधिकारसूचनसूत्रगाथा ॥२॥

अतः परं द्वादशगाथाभिर्नवाधिकारान् विवृणोति, तत्रादौ जीवस्वरूपं कथयति —

तिक्काले चदुपाणा इन्दियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥ ३ ॥

त्रिकाले चतुःप्राणा इन्द्रियं बलं आयुः आनप्राणश्च।
व्यवहारात् स जीवः निश्चयनयतस्तु चेतना यस्य ॥ ३ ॥

इन तीनों के प्रति है। 'आत्मा कर्मों का भोक्ता है' यह कथन बौद्ध के प्रति है। 'आत्मा ससारस्थ है' ऐसा वर्णन सदाशिव के लिये है। 'आत्मा सिद्ध है' यह कथन भट्ट और चार्वाक के प्रति है। 'जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है' यह कथन मण्डलीक मतानुयायी के लिये है। इस तरह मत का अर्थ जानना चाहिये। 'अनादिकाल से कर्मों से बधा हुआ आत्मा है' इत्यादि आगम का अर्थ तो प्रसिद्ध ही है। शुद्ध नय के आश्रित जो जीव का स्वरूप है वह तो उपादेय यानी—ग्रहण करने योग्य है और शेष सब त्याज्य है। इस प्रकार हेयोपादेयरूपसे भावार्थ भी समझना चाहिये। इस तरह शब्द, नय, मत, आगमार्थ, भावार्थ यथासम्भव व्याख्यान के समय मे सब जगह जानना चाहिये। इस तरह जीव आदि नौ अधिकारों को सूचित करने वाली यह दूसरी गाथा है ॥ २ ॥

अब इसके आगे १२ गाथाओं द्वारा नौ अधिकारों का विवरण कहते हैं। उनमे पहले जीवका स्वरूप कहते हैं —

गाथार्थ—तीन काल मे इन्द्रिय, बल, आयु, श्वास-निश्वास इन चारों प्राणों को जो धारण करता है व्यवहारनय से वह जीव है। निश्चयनय से जिसके चेतना है, वही जीव है ॥ ३ ॥

वृत्त्यर्थ —"तिक्काले चदुपाणा" तीन काल मे जीव के चार प्राण होते हैं। वे कौन से? "इंदियबलमाउआणपाणो य" इन्द्रियों के अगोचर जो शुद्ध चैतन्य प्राण है उसके प्रतिपक्षभूत क्षयोपशमिक (क्षयोपशम से होने वाले) इन्द्रिय प्राण है, अनन्त-वीर्यरूप जो बलप्राण है उसके अनन्तवें भाग के प्रमाण मनोबल वचनबल और कायबल प्राण है, अनादि, अनन्त तथा शुद्ध जो चैतन्य प्राण है

व्याख्या—'तिक्काले चदुपाणा' कालत्रये चत्वार प्राणा भवन्ति । ते के 'इंदियबलमाउआणपाणो य' अतीन्द्रियशुद्धचैतन्यप्राणात्प्रतिशत्रुपक्षभूत क्षायोपशमिक इन्द्रियप्राण, अनन्तवीर्यलक्षणबलप्राणादनन्तैकभागप्रमिता मनोवचनकायबलप्राणा, अनाद्यनन्तशुद्धचैतन्यप्राणविपरीततद्विलक्षण सादि सान्तश्चायु प्राण, उच्छ्वासपरावर्त्तोत्पन्नखेदरहितविशुद्धचित्प्राणाद्विपरीतसदृश आनपानप्राण । 'ववहारा सो जीवो' इत्थभूतैश्चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणैर्यथासभव जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा यो व्यवहारनयात्स जीव, द्रव्येन्द्रियादिद्रव्यप्राणा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, भावेन्द्रियादि क्षायोपशमिकभावप्राणा पुनरशुद्धनिश्चयेन, सत्ताचैतन्यबोधादि शुद्धभावप्राणा निश्चयेनेति । 'णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स' शुद्धनिश्चयनयन सकाशादुपादेयभूता शुद्धचेतना यस्य स जीव, एव 'वच्छरक्खभवसारिच्छ, सग्गणिरयपियराय । चुल्लयहडिय पुण मडउ णव दिट्ठता जाय ॥ १ ॥' इति दोहककथितनवदृष्टान्तैश्चार्वाकमतानुसारिशिष्यसबोधनार्थं जीवसिद्धिव्याख्यानेन गाथा गता । अथ अध्यात्मभाषया नयलक्षण कथ्यते । सर्वेजीवा शुद्धबुद्धैकस्वभावा, इति शुद्धनिश्चयनयल-

---

उससे विपरीत एव विलक्षण सादि (आदि सहित) और सान्त (अन्त सहित) आयु प्राण है, श्वासोच्छ्वास के आने जाने से उत्पन्न खेद से रहित जो शुद्ध चित्-प्राण है उससे विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। "ववहारा सोजीवो" व्यवहारनय से, इस प्रकार के चार द्रव्य व भाव प्राणो से जो जीता है, जीवेगा या पहले जी चुका है, वह जीव है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्येन्द्रिय आदि द्रव्य प्राण हैं, और अशुद्ध निश्चयनय से भावेन्द्रिय आदि क्षायोपशमिक भावप्राण है, और निश्चयनय से सत्ता चैतन्य, बोध आदि शुद्धभाव जीव के प्राण है। "णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स" शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा उपादेयभूत यानी ग्रहण करने योग्य शुद्ध चेतना जिसके हो वह जीव है। "वच्छ रक्ख भवसारिच्छ सग्गणिरय पियराय । चुल्लय हडय पुण मडउ णव दिठ्ठता जाय।" १ वत्स—जन्म लेते ही बछडा पूर्व जन्म के सस्कार से, विना सिखाये अपने आप ही माता के स्तन पीने लगता है। २ अक्षर-अक्षरो का उच्चारण जीव जानकारी के साथ आवश्यकतानुसार करता है, जड पदार्थों मे शब्द उच्चारण मे यह विशेषता नही होती । ३ भव—आत्मा यदि एक स्थायी पदार्थ न हो तो जन्म-ग्रहण किसका होगा ४ सादृश्य—आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, हर्ष, विषाद आदि सब जीवो मे एक समान दृष्टिगोचर होते हैं। ५-६ स्वर्ग-नरक—जीव यदि स्वतत्र पदार्थ न हो तो स्वर्ग मे जाना तथा नरक मे जाना किसके सिद्ध होगा। ७ पितर—अनेक मनुष्य मर कर भूत आदि हो जाते हैं और फिर अपने पुत्र, पत्नी आदि को कष्ट, सुख आदि देकर अपने पूर्व भव का हाल बताते है। ८ चूल्हा हंडी—जीव यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पाच भूतो से बन जाता हो तो दाल बनाते समय चूल्हे पर रक्खी हुई हडिया मे पाचो भूत पदार्थों का संसर्ग होने के कारण वहा भी जीव उत्पन्न हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता नही है। ९ मृतक—मुर्दा शरीर मे पाचो भूत पदार्थ पाये जाते हैं, किन्तु फिर भी उसमे जीव के ज्ञान आदि नही होते। इस तरह जीव एक पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध होता है। इस दोहे मे कहे हुए नौ दृष्टान्तो द्वारा चार्वाकमतानुयायी शिष्यो को समझाने के लिए जीव की सिद्धि के व्याख्यान से यह गाथा

क्षणम् । रागादय एव जीवा इत्यशुद्धनिश्चयनयलक्षणम् । गुणगुणिनोरभेदोऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहारलक्षणम् । भेदेऽपि त्वभेदोपचार इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षण चेति । तथा हि—जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा इत्यनुपचरितसंज्ञा शुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । जीवस्यमतिज्ञानादयो विभावगुणा इत्युपचरितसज्ञाऽशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । 'मदीयो-देहमित्यादि' सश्लेषसवन्धसहितपदार्थ पुनरनुपचरितसज्ञाऽसद्भूतव्यवहारलक्षणम् । यत्र तु सश्लेषसवन्धोनास्ति तत्र 'मदीय पुत्र इत्यादि' उपचरिताभिधानासद्भूतव्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूतम् । सक्षेपेणनयषट्क ज्ञातव्य मिति ॥ ३ ॥

अथ गाथात्रयपर्यन्त ज्ञानदर्शनोपयोगद्वय कथ्यते । तत्र प्रथमगाथाया मुख्यवृत्त्या दर्शनोपयोगव्याख्यान करोति । यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासभवमन्यदपि विवक्षित लभ्यत इति ज्ञातव्यम् —

उवओगो दुवियप्पो दसरण णाण च दसरण चदुधा ।
चक्खु अचक्खू ओही दसरणमध केवल णेय ॥ ४ ॥

उपयोगः द्विविकल्पः दर्शनं ज्ञानं च दर्शनं चतुर्धा ।
चक्षुः अचक्षुः अवधिः दर्शन अथ केवल ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

समाप्त हुई । अव अध्यातम भाषा द्वारा नय का लक्षण कहते है । "सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले हैं ।" यह शुद्ध निश्चय नय का लक्षण है । "रागादि ही जीव हैं" यह अशुद्ध निश्चय नय का लक्षण है । "गुण और गुणी का अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना" यह सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण हैं । 'भेद होने पर भी अभेद का उपचार" यह असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है । विशेष इस प्रकार है—'जीव के केवल ज्ञान आदि गुण हैं' यह अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है । जीव के मतिज्ञानादि विभाव गुण हैं' वह उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है । 'सश्लेष संबंध सहित पदार्थ शरीरादि मेरे हैं' अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का लक्षण है । 'जिनका सश्लेष सबध नही है, ऐसे पुत्र आदि मेरे हैं' यह उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका लक्षण है । यह नय चक्र का मूल है । संक्षेप मे यह छह नय जाननी चाहिए ॥ ३ ॥

अव तीन गाथा पर्यन्त ज्ञान तथा दर्शन इन दो उपयोगो का वर्णन करते है । उनमे भी पहली गाथा मे मुख्य रूप से दर्शनोपयोग का व्याख्यान करते है । जहा पर यह कथन हो कि 'अमुक विषय का मुख्यता से वर्णन करते हैं', वहा पर गौणता से अन्य विषय का भी यथासभव कथन प्राप्त होता है' यह जानना चाहिये —

गाथार्थः—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान । उनमे दर्शनोपयोग, चक्षुदर्शन अचक्षु-दर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन ऐसे चार प्रकार का जानना चाहिये ।

वृत्त्यर्थः—उपयोग दो प्रकार का है—दर्शन और ज्ञान । दर्शन तो निर्विकल्पक है और ज्ञान

व्याख्या—'उवओगो दुवियप्पो' उपयोगो द्विविकल्प 'दसणणाण च' निर्विकल्पक दर्शन सविकल्पक ज्ञान च, पुन दसण चदुधा' दर्शन चतुर्धा भवति 'चक्खु अचक्खू ओही दसणमथ केवल णेय' चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनमथ अहो केवलदर्शनमिति विज्ञेयम् । तथाहि—आत्मा हि जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिसमस्तवस्तुसामान्यग्राहकसकलविमलकेवलदर्शन-स्वभावस्तावत् पश्चादनादिकर्मबन्धाधीन सन् चक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमाद्बहिरङ्गद्रव्येन्द्रि-यालम्बनाच्च मूर्त सत्तासामान्य निर्विकल्पम् सव्यवहारेण प्रत्यक्षमपि निश्चयेन परोक्षरूपे-णैकदेशेन यत्पश्यति तच्चक्षुर्दर्शन । तथैव स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात्स्व-कीयस्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्त सत्तासामान्य विकल्परहित परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम् । तथैव च मनइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्सहकारिकारणभूताष्टदल-पद्माकारद्रव्यमनोऽवलम्बाताच्च मूर्त्तामूर्त्तसमस्तवस्तुगतसत्तासामान्य विकल्परहित परोक्षरू-पेण यत्पश्यति तन्मानसमचक्षुर्दर्शनम् । स एवात्मा यदवधिदर्शनावरणक्षयोपशमान्मूर्त्तव-स्तुगतसत्तासामान्यं निर्विकल्परूपेणैकदेशप्रत्यक्षेण यत्पश्यति तदवधिदर्शनम् । यत्पुन सह-जशुद्धसदानन्दैकरूपपरमात्मतत्त्वसवित्तिप्राप्तिबलेन केवलदर्शनावरणक्षये सति मूर्तामूर्त्तसम-स्तवस्तुगतसत्तासामान्य विकल्परहित सकलप्रत्यक्षरूपेणैकसमये पश्यति तदुपादेयभूत क्षायिक केवलदर्शन ज्ञातव्यमिति ॥ ४ ॥

सविकल्पक है। दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है—चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधिदर्शन तथा केवल-दर्शन, ऐसा जानना चाहिये।

विशेष विवरण —आत्मा तीन लोक और भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनो कालो मे रहने वाले संपूर्ण द्रव्य सामान्य को ग्रहण करने वाला जो पूर्ण निर्मल केवलदर्शन स्वभाव है उसका धारक है, किन्तु अनादि कर्मबन्ध के अधीन होकर चक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम से तथा बहिरंग द्रव्ये-न्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक पदार्थ के सत्ता सामान्य को जो कि सव्यवहार से प्रत्यक्ष है किन्तु निश्चय से परोक्षरूप है उसको एक देश से विकल्परहित जो देखता है वह चक्षु दर्शन है, उसी तरह स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा कर्णइन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और अपनी-अपनी बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्तिक सत्तासामान्य को परोक्षरूप एक देश से जो विकल्परहित देखना है वह अचक्षु दर्शन है। और इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से तथा सहकारी कारण रूप जो आठ पांखडी के कमल के आकार द्रव्य मन है उसके अवलम्बन से मूर्त्त तथा अमूर्त्त समस्त द्रव्यो मे विद्यमान सत्तासामान्य को परोक्ष रूप से विकल्परहित जो देखता है वह मानस अचक्षु दर्शन है। वही आत्मा अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त्त वस्तु मे सत्तासामान्य को एक देश प्रत्यक्ष से विकल्परहित जो देखता है, वह अवधिदर्शन है। तथा सहज शुद्ध अविनाशी आनन्द रूप एक स्वरूप का धारक परमात्म तत्त्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के बल से केवल-दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त्त, अमूर्त्त वस्तु के सत्तासामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय मे विकल्परहित जो देखता है उसको उपादेय रूप

अथाष्टविकल्पं ज्ञानोपयोगं प्रतिपादयति —

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ॥ ५ ॥

ज्ञानं अष्टविकल्पं मतिश्रुतावधयः अज्ञानज्ञानानि ।
मनःपर्ययः केवलं अपि प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च ॥ ५ ॥

व्याख्या—'णाणं अट्ठवियप्पं' ज्ञानमष्टविकल्पं भवति । 'मदिसुदिओहीअणाणणाणाणि' अत्राष्टविकल्पमध्ये मतिश्रुतावधयो मिथ्यात्वोदयवशाद्विपरीताभिनिवेशरूपाण्यज्ञानानि भवन्ति तान्येव शुद्धात्मादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन सम्यग्दृष्टिजीवस्य सम्यग्ज्ञानानि भवन्ति । 'मणपज्जवकेवलमवि' मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमप्येवमष्टविधं ज्ञानं भवति । 'पच्चक्खपरोक्खभेयं च' प्रत्यक्षपरोक्षभेदं च । अवधिमनःपर्ययद्वयमेकदेशप्रत्यक्षं विभङ्गावधिरपि देशप्रत्यक्षं, केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षं, शेषचतुष्टयं परोक्षमिति ।

इतोविस्तरः—आत्मा हि निश्चयनयेन सकलविमलाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयकेवलज्ञानरूपस्तावत् । स च व्यवहारेणानादिकर्मबन्धप्रच्छादितः सन् मतिज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च वहिरङ्गपञ्चेन्द्रियमनोऽवलम्बनाच्च मूर्त्तामूर्त्तं वस्त्वेकदेशेन

क्षायिक केवलदर्शन जानना चाहिये ॥ ४ ॥

अब आठ भेद सहित ज्ञानोपयोग प्रतिपादन करते हैं —

गाथार्थः—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ऐसे आठ प्रकार का ज्ञान है । इनमे कुअवधि, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल ये चार प्रत्यक्ष हैं और शेष चार परोक्ष है ॥ ५ ॥

वृत्त्यर्थ —"णाणं अट्ठवियप्पं" ज्ञान आठ प्रकार का है । "मदिसुदिओही अणाणणाणाणि" उन आठ प्रकार के ज्ञानो मे मति, श्रुत तथा अवधि ये तीन मिथ्यात्व के उदय के वश मे विपरीताभिनिवेश रूप अज्ञान होते हैं इसीसे कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि [विभगावधि] इनके नाम हैं, तथा वे ही मति, श्रुत तथा अवधि ज्ञान आत्मा आदि तत्त्व के विषय मे विपरीत श्रद्धा न होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान होते है । इस तरह कुमति आदि तीन अज्ञान और मति आदि तीन ज्ञान, ज्ञान के ये ६ भेद हुए तथा "मणपज्जवकेवलमपि" मनःपर्यय और केवल ज्ञान ये दोनो मिलकर ज्ञान के सब आठ भेद हुए । "पच्चक्खपरोक्खभेयं च" प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद रूप है । इन आठो मे अवधि और मनःपर्यय ये दोनो तथा विभगावधि तो देश प्रत्यक्ष हैं और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, शेष कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुत ये चार परोक्ष हैं ।

विस्तार—जैसे आत्मा निश्चयनय से पूर्ण, विमल अखंड एक प्रत्यक्ष केवल ज्ञानस्वरूप है ।

विकल्पाकारेण परोक्षरूपेण सांव्यवहारिकप्रत्यक्षरूपेण वा यज्जानाति तत्क्षायोपशमिकं मतिज्ञानम् । किञ्च छद्मस्थानां वीर्यान्तरायक्षयोपशमः केवलिनां तु निरवशेषक्षयो ज्ञान-चारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्य । संव्यवहारलक्षणं कथ्यते—समीचीनो व्यवहारः संव्यवहारः । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः संव्यवहारो भण्यते । संव्यवहारे भवं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम् । यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि । तथैव श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमान्नोइन्द्रि-यावलम्बनाच्च प्रकाशोपाध्यायादिबहिरङ्गसहकारिकारणाच्च मूर्त्तामूर्त्तवस्तुलोकालोकव्याप्ति-ज्ञानरूपेण यदस्पष्टं जानाति तत्परोक्षं श्रुतज्ञानं भण्यते । किञ्च विशेषः—शब्दात्मकं श्रुत-ज्ञानं परोक्षमेव तावत्, स्वर्गापवर्गादिबहिर्विषयपरिच्छित्तिपरिज्ञानं विकल्परूपं तदपि परोक्षं, यत्पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत् परो-क्षम्, यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेणस-विकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्, अभेदनयेन तदेवात्म-शब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणां क्षायि-कज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते । अत्राह शिष्यः—आद्ये परोक्षमिति

वही आत्मा व्यवहारनय से अनादिकालीन कर्मबन्ध से आच्छादित हुआ, मतिज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और बहिरंग पांच इन्द्रिय तथा मनके अवलम्बन से मूर्त और अमूर्त वस्तुको एक देश से विकल्पाकार परोक्ष रूपसे अथवा संव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूपसे जो जानता है वह क्षायोपशमिक 'मतिज्ञान' है । छद्मस्थोंके तो वीर्यान्तरायका क्षयोपशम सर्वत्र ज्ञान चारित्र आदि की उत्पत्ति में सहकारी कारण है और केवलियों के वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय, ज्ञान चारित्र आदि की उत्पत्ति मे सर्वत्र सहकारी कारण है, ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए । अब सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहते है—समीचीन अर्थात् ठीक जो व्यवहार है वह संव्यवहार कहलाता है, संव्यवहार का लक्षण प्रवृत्ति निवृत्ति रूप है । संव्यवहार में जो हो सो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । जैसे-यह घटका रूप मैंनेदेखा इत्यादि, ऐसे ही श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और नो इन्द्रिय मन के अवलम्बन से प्रकाश और अध्यापक आदि बहिरंग सहकारी कारण के संयोग से मूर्त्ति तथा अमूर्तिकवस्तु को, लोक तथा अलोक को व्याप्ति रूप ज्ञान से जो अस्पष्ट जानता है उसको परोक्ष "श्रुतज्ञान" कहते हैं । इसमे विशेष यह है कि शब्दात्मक जो श्रुतज्ञान है वह तो परोक्ष है ही, तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि बाह्य विषयों का बोध कराने वाला विकल्परूप जो ज्ञान है वह भी परोक्ष है और जो आभ्यन्तर मे सुख दुःख विकल्परूप मैं हूं अथवा मैं अनन्त ज्ञान आदि रूप हूं, इत्यादिक ज्ञान है वह ईषत् (किंचित्) परोक्ष है । तथा जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है वह शुद्ध आत्मा के अभिमुख (सन्मुख) होनेसे सुखसंवित्ति-सुखानुभव-स्वरूप है और वह निज आत्मज्ञान के आकार से सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मन से उत्पन्न जो रागादि विकल्पसमूह है, उनसे रहित होनेके कारण निर्विकल्प है, और अभेदनय से वही ज्ञान 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक्चारित्रके विना नहीं होता, वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है, तथापि संसारियों को क्षायिक ज्ञान का अभाव होने से क्षायोपशमिक होने पर भी "प्रत्यक्ष" कहलाता है ।

तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वय परोक्ष भणित तिष्ठति कथ प्रत्यक्ष भवतीति ? परिहारमाह—तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इद पुनरपवादव्याख्यानम्, यदि तदुत्सर्गव्याख्यान न भवति तर्हि मतिज्ञान कथ तत्त्वार्थे परोक्षं भणित तिष्ठति। तर्कशास्त्रे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कथ जानम्। यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञान परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानम्, तथा स्वात्माभिमुख भावश्रुतज्ञानमपि परोक्ष सत्प्रत्यक्ष भण्यते। यदि पुनरेकान्तेन परोक्ष भवति तर्हि सुखदुःखादिसवेदनमपि परोक्ष प्राप्नोति, न च तथा। तथैव च स एवात्मा, अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्त्त वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्प जानाति तदवधिज्ञानम्। यत्पुनर्मन पर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमाच्च स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगत मूर्त्तमर्थमेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्प जानाति तदीहामतिज्ञानपूर्वक मन पर्ययज्ञानम्। तथैव निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणैकाग्रध्यानेन केवलज्ञानावरणादिघातिचतुष्टयक्षये सति यत्समुत्पद्यते तदेक समये समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभाव ग्राहक सर्वप्रकारोपादेयभूत केवलज्ञानमिति ॥ ५ ॥

अथ ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयव्याख्यानस्य नयविभागेनोपसहार कथ्यते –

यहा पर शिष्य शका करता है कि "आद्ये परोक्षम्" इस तत्त्वार्थसूत्र मे मति और श्रुत इन दोनो ज्ञानो को परोक्ष कहा है फिर श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

अब शका का उत्तर देते है कि तत्वार्थ सूत्रमे जो श्रुत को परोक्ष कहा है सो उत्सर्ग व्याख्यान है और 'भाव श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है' यह अपवादकी अपेक्षासे कथन है। यदि तत्त्वार्थसूत्रमे उत्सर्गका कथन न होता तो तत्त्वार्थसूत्रमे मतिज्ञान परोक्ष कैसे कहा जाता ? और यदि वह सूत्रमे परोक्ष ही कहा गया है तो तर्कशास्त्र मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसे हुआ ? इसलिए जैसे अपवाद व्याख्यानमे परोक्षरूप मतिज्ञान को भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है वैसे ही अपने आत्मा के सन्मुख जो भावश्रुत ज्ञान है वह परोक्ष है तो भी उसको प्रत्यक्ष कहा जाता है। यदि एकान्तसे ये मति, श्रुत दोनो परोक्ष ही हो तो सुख-दुख आदिका जो स्वसवेदन-स्वानुभव है वह भी परोक्ष ही होगा। किन्तु वह स्वसवेदन परोक्ष नही है। इसी तरह वही आत्मा अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्तिक पदार्थ जो एक देश प्रत्यक्ष द्वारा सविकल्प जानता है वह "अवधिज्ञान" है। तथा जो मन पर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम से, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अपने मन के अवलम्बन द्वारा पर के मन मे प्राप्त हुए मूर्त्त पदाथ को एक देश प्रत्यक्ष से सविकल्प जानता है वह ईहा मतिज्ञान पूर्वक "मन पर्यय ज्ञान" है। एव अपने शुद्ध आत्म-द्रव्य के यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप एकाग्र ध्यान द्वारा केवल ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर जो उत्पन्न होता है वह एक समय मे समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव को ग्रहण करने वाला और सब प्रकार से उपादेय [ग्रहण करने योग्य] "केवल ज्ञान" है ॥ ५ ॥

अब ज्ञान, दर्शन दोनो उपयोगो के व्याख्यान का नय-विभाग द्वारा उपसहार कहते है।—

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खण भणिय ।
ववहारा सुद्धणया सुद्ध पुण दंसण णाण ॥ ६ ॥

अष्टचतुर्ज्ञानदर्शने सामान्य जीवलक्षण भणितम् ।
व्यवहारात् शुद्धनयात शुद्ध पुन' दर्शन ज्ञानम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—'अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्ण जीवलक्खण भणिय' अष्टविध ज्ञान चतुर्विध दर्शन सामान्य जीवलक्षण भणितम् । सामान्यमिति कोऽर्थ ससारिजीवमुक्तजीवविवक्षा नास्ति, अथवा शुद्धाशुद्धज्ञानदर्शनविवक्षा नास्ति । तदपि कथमितिचेद् ? विवक्षाया अभाव सामान्यलक्षणमिति वचनात् । कस्मात् सामान्यम् जीव लक्षण भणितम् ? 'ववहारा' व्यवहारात् व्यवहारनयात् । अत्र केवलज्ञानदर्शन प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहार, छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहार, कुमतिकुश्रुतविभङ्गत्रये पुनरुपचरितासद्भूतव्यवहार । 'सुद्धणया सुद्ध पुण दसण णाण' शुद्धनिश्चयनयात्पुन शुद्धमखण्ड केवलज्ञानदर्शनद्वय जीव लक्षणमिति । किञ्चज्ञानदर्शनोपयोगविवक्षायामुपयोगशब्दन विवक्षितार्थपरिच्छित्तिलक्षणोऽर्थग्रहणव्यापारो गृह्यते । शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयविवक्षाया पुनरुपयोगशब्देन शुभाशुभशुद्ध-

---

गाथार्थ:—व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान और चार प्रकार के दर्शन का जो धारक है वह सामान्य रूप से जीव का लक्षण है और शुद्ध नय की अपेक्षा जो शुद्ध ज्ञान, दर्शन है वह जीव का लक्षण कहा गया है।

वृत्त्यर्थ —"अट्ठ चदु णाण दंसण सामण्णं जीवलक्खण भणियं" आठ प्रकार का ज्ञान तथा चार प्रकार का दर्शन सामान्य रूप से जीव का लक्षण कहा गया है।

यहा पर सामान्य इस कथन का यह तात्पर्य है कि इस लक्षण मे संसारी तथा मुक्त जीव की विवक्षा नही है, अथवा शुद्ध अशुद्ध ज्ञान दर्शन की भी विवक्षा नही है।

सो कैसे ? इस शंका का उत्तर यह है कि "विवक्षा का अभाव ही सामान्य का लक्षण है" ऐसा कहा है। किस अपेक्षा से जीव का सामान्य लक्षण कहा है ? इसका उत्तर यह है कि "ववहारा" अर्थात् व्यवहार नय की अपेक्षा से कहा है। यहा केवलज्ञान, केवल दर्शन के प्रति शुद्ध-सदभूत शब्द से वाच्य (कहने योग्य) अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहार है और छद्मस्थ के अपूर्ण ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से अशुद्ध-सद्भूत-शब्द से वाच्य उपचरित सद्भूत-व्यवहार है, तथा कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि इनमे उपचरित-असद्भूत-व्यवहार नय है।

"सुद्धणया सुद्धं पुण दंसण णाण" शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध अखंड केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन ये दोनो जीव के लक्षण हैं। यहा ज्ञान दर्शनरूप उपयोग की विवक्षा मे उपयोग शब्द से विवक्षित

भावनैकरूपमनुष्ठान ज्ञातव्यमिति । अत्र सहजशुद्धनिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्य साक्षादुपादेयभूतस्याक्षयसुखस्योपादानकारणत्वात् केवलज्ञानदर्शनद्वयमुपादेयमिति । एव नैयायिक प्रति गुणगुणिभेदैकान्तनिराकरणार्थमुपयोगव्याख्यानेन गाथात्रय गतम् ॥ ६ ॥

अथामूर्त्तातीन्द्रियनिजात्मद्रव्यसवित्तिरहितेन मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च यदुपार्जित मूर्त कर्म तदुदयेन व्यवहारेण मूर्तोऽपि निश्चयेनामूर्तो जीव इत्युपदिशति —

वण्ण रस पच गधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।

णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बधादो ॥ ७ ॥

वर्णाः रसाः पच गन्धौ द्वौ स्पर्शाः अष्टौ निश्चयात् जीवे ।

नो संति अमूर्त्तिः ततः व्यवहारात् मूर्त्तिः बन्धन ॥ ७ ॥

व्याख्या—"वण्ण रस पञ्च गधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो सति" श्वेतपीतनीलारुणकृष्णसज्ञा पञ्च वर्णाः, तिक्तकटुकषायाम्लमधुरसज्ञा पञ्च रसा, सुगन्धदुर्गन्धसज्ञौ द्वौ गन्धौ, शीतोष्णस्निग्धरुक्षमृदुकर्कशगुरुलघुसज्ञा अष्टौ स्पर्शा, "णिच्छया" शुद्धनिश्चयनयात् शुद्धबुद्धैकस्वभावे शुद्धजीवे न सन्ति । 'अमुत्ति तदो' तत कारणादमूर्त,

---

पदार्थ के जानने रूप वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार का ग्रहण किया जाता है और शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनो उपयोगोकी विवक्षामे उपयोग शब्दसे शुभ, अशुभ तथा शुद्ध भावनामे एक रूप अनुष्ठान जानना चाहिये । यहा सहज शुद्ध निर्विकार परमानन्द रूप साक्षात् उपादेय जो अक्षय सुख है उनका उपादान कारण होने से केवल ज्ञान और केवल दर्शन ये दोनो उपादेय है। इस प्रकार नैयायिक के प्रति गुण, गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्मा इन दोनो के एकान्त रूप से भेद के निराकरण के लिये उपयोग के व्याख्यान द्वारा तीन गाथा समाप्त हुई ॥ ६ ॥

अब अमूर्त्तिक तथा अतीन्द्रिय निज आत्मा के ज्ञान से रहित होने के कारण तथा मूर्त्त जो पाचो इन्द्रियो के विषय है उनमे आसक्ति के द्वारा जीव ने जो मूर्त्तिक कर्म उपार्जन किया है उनके उदय से व्यवहार नय की अपेक्षा से जीव मूर्त्तिक है तथापि निश्चयनय से अमूर्त्तिक है ऐसा उपदेश देते है —

गाथार्थ —निश्चयनय से जीव मे पाच वर्ण, पाच रस, दो गध और आठ स्पर्श नही है, इसलिये जीव अमूर्त्तिक है और व्यवहारनय की अपेक्षा कर्म-बंध होने के कारण जीव मूर्त्तिक है ॥ ७ ॥

वृत्त्यर्थः—"वण्ण रस पच गधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे णो सति" सफेद, पीला, नीला, लाल तथा काला ये पाच वर्ण, चरपरा, कडुआ, कषायला, खट्टा और मीठा ये पाच रस, सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध तथा ठडा, गर्म, चिकना, रूखा, नरम कड़ा, भारी और हलका यह आठ प्रकारके स्पर्श शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध स्वभाव-धारक शुद्ध जीव मे नही है । "अमुत्ति तदो" इस कारण यह जीव

यद्यमूर्तस्तर्हि तस्य कथ कर्मवन्ध इति चेत् ? 'ववहारा मुत्ति' अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्तो यत.। तदपि कस्मात् ? 'वधादो' अनन्तज्ञानाद्युपलम्भलक्षणमोक्षविलक्षणादनादिकर्मवन्धनादिति। तथा चोक्तम्—कथचिन्मूर्तामूर्तजीवलक्षणम्—'व ध पडि एयत्त लक्खणादो हवदि तस्स भिण्णत्त । तम्हा अमुत्तिभावो णेगतो होदि जीवस्स ॥ १ ॥' अयमत्रार्थ—यस्यैवामूर्तस्यात्मन प्राप्त्यभावादनादिससारे भ्रमितोऽय जीव स एवामूर्तो मूर्तपञ्चेन्द्रियविपयत्यागेन निरतर ध्यातव्य । इति भट्टचार्वाकमत प्रत्यमूर्तजीवस्थापनमुख्यत्वेन मूत्र गतम् ॥ ७ ॥

अथ निष्क्रियामूर्तटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावेन कर्मादिकर्तृत्वरहितोऽपि जीवो व्यवहारादिनयविभागेन कर्ता भवतीति कथयति —

पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।

चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाण ॥ ८ ॥

पुद्गलकर्म्मादीना कर्त्ता व्यवहारतः तु निश्चयतः ।

चेतनकर्म्मणा आत्मा शुद्धनयात् शुद्धभावानाम् ॥ ८ ॥

अमूर्तिक है अर्थात् मूर्ति रहित है।

शका—यदि जीव अमूर्तिक है तो इस जीव के कर्म का वध कैसे होता है ?

उत्तरः—"ववहारा मुत्ति" क्योकि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जीव मूर्त्तिक है, अत कर्म बंध होता है।

शका—जीव मूर्त्त भी किस कारण से है ?

उत्तरः—"बधादो" अनतज्ञान आदि की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उस मोक्ष से विपरीत अनादि कर्मोके वन्धनके कारण जीव मूर्त्त है। कथचित् मूर्त्त तथा कथचित् अमूर्त्त जीव का लक्षण है। कहा भी है—कर्मवध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उस कर्मवध की भिन्नता है इसलिये एकान्त से जीव के अमूर्तभाव नही है ॥ १ ॥ इसका तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त्त आत्मा की प्राप्ति के अभाव से इस जीव ने अनादि ससार मे भ्रमण किया है उसी अमूर्त्तिक शुद्धस्वरूप आत्मा को मूर्त्त पाचो इन्द्रियो के विपयो का त्याग करके ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार भट्ट और चार्वाक के प्रति जीव को मुख्यता से अमूर्त्त सिद्ध करने वाला सूत्र कहा ॥ ७ ॥

अव "क्रिया-शून्य अमूर्त्तिक" टंकोत्कीर्ण [टाकी से उकेरी हुई मूर्ति समान अविचल] ज्ञायक एक स्वभाव से जीव यद्यपि कर्म आदि के कर्त्तापने से रहित है फिर भी व्यवहार आदि नय की अपेक्षा कर्त्ता होता है, ऐसा कहते हैः—

गाथार्थः—आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है; निश्चयनय से चेतन कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध भावो का कर्त्ता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—अत्र सूत्रे भिन्नप्रक्रमरूपव्यवहितसम्बन्धेन मध्यपद गृहीत्वा व्याख्यान क्रियते। 'आदा' आत्मा 'पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु' पुद्गलकर्मादीना कर्त्ता व्यवहारतस्तु पुन, तथाहि—मनोवचनकायव्यापारक्रियारहितनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्य सन्ननुपचरितासद्भूतव्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामादिशब्देनौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तियोग्यपुद्गलपिण्डरूपनोकर्मणा तथैवोपचरितासद्भूतव्यवहारेण बहिर्विषयघटपटादीना च कर्ता भवति। 'णिच्छयदो चेदणकम्माणादा' निश्चयनयतश्चेतनकर्मणा तद्यथा रागादिविकल्पोपाधिरहितनिष्क्रियपरमचैतन्यभावनारहितेन यदुपार्जित रागाद्युत्पादकं कर्म तदुदये सति निष्क्रियनिर्मलस्वसवित्तिमलभमानो भावकर्मशब्दवाच्यरागादिविकल्परूपचेतनकर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति। अशुद्धनिश्चयस्यार्थ कथ्यते—कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्ध, तत्काले तप्ताय पिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चय, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते। 'सुद्धणया सुद्धभावाण' शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावाना छद्मस्थावस्थाया भावनारूपेण विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्ता, मुक्तावस्थाया तु शुद्धनयेनेति। किन्तु शुद्धाशुद्धभावाना परिणममानानाम् एव कर्तृत्व ज्ञातव्यम्, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति। यतो हि नित्य-

---

वृत्त्यर्थः—इस सूत्र मे भिन्न प्रक्रमरूप व्यवहित सबध से बीच के पद को ग्रहण करके व्याख्यान किया जाता है। "आदा" आत्मा "पुग्गलकम्मादीण कत्ता ववहारदो दु" व्यवहार नय की अपेक्षा से पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है। जैसे—मन, वचन तथा शरीर की क्रिया से रहित निज शुद्ध आत्मतत्त्व की जो भावना है उस भावना से शून्य होकर अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मो का तथा आदि शब्दसे औदारिक, वैक्रियिक और आहारक रूप तीन शरीर तथा आहार आदि ६ पर्याप्तियो के योग्य जो पुद्गल पिंड रूप नो कर्म हैं उनका तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे बाह्य विषय घट, पट आदि का भी यह जीव कर्त्ता होता है। "णिच्छयणयदो चेदणकम्मणादा" और निश्चय नय की अपेक्षा से यह आत्मा चेतन कर्मोका कर्त्ता है। वह इस तरह—राग आदि विकल्प उपाधि से रहित निष्क्रिय, परमचैतन्य भावना से रहित होने के कारण जीव ने राग आदि को उत्पन्न करनेवाले कर्मों का जो उपार्जन किया है उन कर्मों का उदय होने पर निष्क्रिय और निर्मल आत्मज्ञान को नहीं प्राप्त होता हुआ यह जीव भावकर्म इस शब्द से वाच्य जो रागादि विकल्प रूप चेतन-कर्म हैं उनका अशुद्ध निश्चय नय से कर्त्ता होता है। अशुद्ध निश्चय का अर्थ यह है—कर्म उपाधि से उत्पन्न होने से अशुद्ध कहलाता है और उस समय अग्निमे तपे हुए लोहेके गोलेके समान तन्मय (उसी रूप) होनेसे निश्चय कहा जाता है इस रीति से अशुद्ध और निश्चय इन दोनो को मिलाकर अशुद्ध निश्चय कहा जाता है। 'सुद्धणया सुद्धभावाणं' जब जीव शुभ, अशुभ मन, वचन, काय इन तीनो योगोके व्यापारसे रहित शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव से परिणमन करता है तब अनत ज्ञान, सुख आदि शुद्ध भावो का छद्मस्थ अवस्था मे भावना रूपसे विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनयमे कर्त्ता होता है और मुक्त अवस्था मे शुद्ध निश्चनय से

निरञ्जननिष्क्रियनिजात्मस्वरूपभावनारहितस्य कर्मादिकर्तृत्व व्याख्यातम्, ततस्तत्रैव निजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्या। एवं साख्यमत प्रत्येकान्ताकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथा गता ॥ ८ ॥

अथ यद्यपि शुद्धनयेन निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतस्य भोक्ता तथाप्यशुद्धनयेन सासारिकसुखदुःखस्यापि भोक्तात्मा भवतीत्याख्याति –

ववहारा सुहदुक्ख पुग्गलकम्मप्फल पभु जेदि ।

आदा णिच्छयणयदो चेदणभाव खु आदस्स ॥ ९ ॥

व्यवहारात् सुखदुःख पुद्गलकर्म्मफल प्रभुङ्क्ते ।

आत्मा निश्चयनयतः चेतनभावं खलु आत्मनः ॥ ९ ॥

व्याख्या—'ववहारा सुहदुक्ख पुग्गलकम्मप्फल पभु जेदि' व्यवहारात् सुखदुःखरूप पुद्गलकर्मफल प्रभुङ्क्ते। स क कर्त्ता? 'आदा' आत्मा। 'णिच्छयणयदो चेदणभाव आदस्स' निश्चयनयतश्चेतनभाव भुङ्क्ते। 'खु' स्फुटम्। कस्य सम्बन्धिनमात्मन स्वस्येति। तद्यथा—आत्माहि निजशुद्धात्मसवित्ति समुद्भूतपारमार्थिकसुखसुधारसभोजनमलभमान उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयजनितसुखदुःख भुङ्क्ते, तथैवानुपचरितासद्भूतव्यवहारेणाभ्यन्तरे सुखदुःखजनक द्रव्यकर्म्मरूपं सातासातोदय भुङ्क्ते। स एवाशुद्धनिश्चयनयेन

अनतज्ञानादि शुद्ध भावो का कर्त्ता है। किन्तु परिणमन करते हुए शुद्ध, अशुद्ध भावो का कर्तृत्व जीव मे जानना चाहिये और हस्त आदि के व्यापार रूप परिणमनो का कर्तापन न समझना चाहिए। क्योकि नित्य, निरंजन, निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूप की भावना से रहित जीव के कर्म आदि का कर्तृत्व कहा गया है, इसलिये उस निज शुद्ध आत्मा मे ही भावना करनी चाहिये। इस तरह साख्यमत के प्रति "एकान्त मे जीव कर्त्ता नही है" इस मत के निराकरण की मुख्यता से गाथा समाप्त हुई ॥ ८ ॥

अब यद्यपि आत्मा शुद्ध नय से विकार रहित परम आनन्द रूप लक्षण वाले ऐसे सुख रूपी अमृत को भोगने वाला है तो भी अशुद्ध नय से सासारिक सुख-दुःखका भी भोगने वाला है, ऐसा कहते हैं

गाथार्थ—व्यवहार नय से आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मो के फल को भोगता है और निश्चय नय मे अपने चेतन भाव को भोगता है ॥ ९ ॥

वृत्त्यर्थ—"ववहारा सुहदुक्ख पुग्गलकम्मफल पभु जेदि" व्यवहार नय की अपेक्षा से सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म फलो को भोगता है। वह कर्म फलो का भोक्ता कौन है? "आदा" आत्मा। "णिच्छयणयदो चेदणभाव खु आदस्स" और निश्चय नयसे तो स्पष्ट रीतिसे चेतन भावका ही भोक्ता आत्मा है। वह चेतन भाव किस सम्बन्धी है? आत्मा का अपना ही है। वह ऐसे—अपने शुद्ध आत्मअनुभव से उत्पन्न पारमार्थिक सुखरूप अमृत रस का भोजन न प्राप्त करता हुआ आत्मा, उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे इष्ट, अनिष्ट पाचो इन्द्रियोके विषयोमे उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता है, उसी तरह अनुपचरित

हर्षविषादरूप सुखदु ख च भु क्ते । शुद्धनिश्चयनयेन तु परमात्मस्वभावसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानोत्पन्नसदानन्दैकलक्षण सुखामृत भुंक्त इति । अत्र यस्यैव स्वाभाविकसुखामृतस्य भोजनाभावादिन्द्रियसुख भुज्जान सन् ससारे परिभ्रमति तदेवातीन्द्रियसुख सर्वप्रकारेणोपादेयमित्यभिप्राय । एव कर्ता कर्मफल न भुंक्त इति बौद्धमतनिषेधार्थ भोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण सूत्र गतम् ॥ ९ ॥

अथ निश्चयेन लोकप्रमितासख्येयप्रदेशमात्रोऽपि व्यवहारेण देहमात्रो जीव इत्यावेदयति —

अणुगुरुदेहपमाणो उवसहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असखदेसो वा ॥ १० ॥

अणुगुरुदेहप्रमाण' उपसहारप्रसर्पत' चेतयिता ।
असमुद्घातात् व्यवहारात् निश्चयनयत' असख्यदेशो वा ॥ १० ॥

व्याख्या—'अणुगुरुदेहपमाणो' निश्चयेनस्वदेहाद्भिन्नस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणराशेरभिन्नस्य निजशुद्धात्मस्वरूपस्योपलब्धेरभावात्तथैव देहममत्वमूलभूताहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाप्रभृतिसमस्तरागादिविभावानामासक्तिसद्भावाच्च यदुपार्जित शरीरनामकर्म तदुदये सति अणुगुरुदेहप्रमाणो भवति । स क कर्ता ? 'चेदा' चेतयिता जीव । कस्मात् ? 'उवसंहा-

---

असद्भूत व्यवहार नय से अन्तरग मे सुख-दु ख को उत्पन्न करने वाले द्रव्य कर्म रूप साता-असाता के उदय को भोगता है। तथा अशुद्ध निश्चय नय से वह ही आत्मा हर्ष, विषाद रूप सुख-दु ख को भोगता है और शुद्ध निश्चय नय से तो परमात्मस्वभाव के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण से उत्पन्न अविनाशी आनन्द रूप वाले सुखामृत को भोगता है। यहा पर जिस स्वाभाविक सुखामृत के भोजन के अभाव से आत्मा इन्द्रियो के सुखो को भोगता हुआ ससारमे भ्रमण करता है, वही अतीन्द्रिय सुख सब प्रकार से ग्रहण करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार "कर्त्ता कर्म के फल को नही भोगता है" इस बौद्ध मत का खंडन करने के लिये "जीव कर्मफल का भोक्ता है" यह व्याख्यान रूप सूत्र समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

"आत्मा यद्यपि निश्चय नय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशो का धारक है फिर भी व्यवहार नय से अपनी देह के बराबर है" यह बतलाते हे —

गाथार्थः—समुद्घात के बिना यह जीव व्यवहार नय से सकोच तथा विस्तार से अपने छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से असख्यात प्रदेशो का धारक है ॥ १० ॥

वृत्त्यर्थः—"अणुगुरुदेहपमाणो" निश्चय नय से अपने देह से भिन्न तथा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणो की राशि से अभिन्न, ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के अभाव से तथा देह की ममता के मूल भूत आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप सज्ञा आदि, समस्त राग आदि विभावो मे आसक्ति के होने से जीव ने जो शरीर नामकर्म उपार्जन किया उसका उदय होने पर अपने छोटे तथा बडे देह के बराबर

रुपसप्पदो' उपसंहारप्रसर्पन शरीरनामकर्मजनितविस्तारोपसंहारधर्माभ्यामित्यर्थः । कोऽत्र दृष्टान्तः ? यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं सर्वं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनान्तरं प्रकाशयति । पुनरपि कस्मात् ? 'असमुहदो' असमुद्घातात् वेदनाकषायविक्रियामारणान्तिकतैजसाहारककेवलिसंज्ञसप्तसमुद्घातवर्जनात् । तथा चोक्तं सप्तसमुद्घातलक्षणम्—'वेयणकसायवेउव्वियमारणंतिओ समुग्घादो । तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ १ ॥ तद्यथा—'मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स । णिग्गमणं देहादो हवदि समुग्घादयं णाम ॥ १ ॥" तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनमिति वेदनासमुद्घातः ॥ १ ॥ तीव्रकषायोदयान्मूलशरीरमत्यक्त्वा परस्य घातार्थमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति कषायसमुद्घातः ॥ २ ॥ मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति विक्रियासमुद्घातः ॥ ३ ॥ मरणान्तसमये मूलशरीरमपरित्यज्य यत्र कुत्रचिद्बद्धमायुस्तत्प्रदेशं स्फुटितुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति मारणान्तिकसमुद्घातः ॥ ४ ॥ स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रो-

---

होता है । प्रश्न—शरीर प्रमाण वाला कौन है ? उत्तर—"चेदा" चेतन अर्थात् जीव है । प्रश्न—किस कारण से ? उत्तर—"उवसंहारप्पसप्पदो" संकोच तथा विस्तार स्वभाव से । यानी—शरीर नाम कर्म से उत्पन्न हुआ विस्तार तथा संकोच रूप जीव के धर्म हैं, उनसे यह जीव अपने देह के प्रमाण होता है । प्रश्न—यहां दृष्टान्त क्या है ? उत्तर—जैसे दीपक किसी बड़े पात्र में ढक दिया जाता है तो दीपक उस पात्र के भीतर प्रकाशित करता है और यदि छोटे पात्र में रख दिया जाता है तो उस पात्र के भीतर प्रकाशित करता है । प्रश्न—फिर अन्य किस कारण से यह जीव देह प्रमाण है ? उत्तर—"असमुहदो" समुद्घात के न होने से । वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक सात समुद्घातों के न होने से जीव शरीर के बराबर होता है । (समुद्घात की दशा में तो जीव देह से बाहर भी रहता है किन्तु समुद्घात के बिना देह प्रमाण ही रहता है) । सात समुद्घातों का लक्षण इस प्रकार कहा है—"१. वेदन, २ कषाय, ३ विक्रिया, ४ मारणान्तिक, ५ तैजस, ६ आहार और ७. केवली ये सात समुद्घात हैं ।" इनका स्वरूप यों है—'अपने मूल शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के कुछ प्रदेश देह से बाहर निकल कर उत्तरदेह के प्रति जाते हैं उसको समुद्घात कहते हैं ।" तीव्र पीड़ा के अनुभव से मूल शरीर न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना, सो "वेदना" समुद्घात है ॥ १ ॥ तीव्र क्रोधादिक कषाय के उदय से अपने धारण किये हुए शरीर को न छोड़ते हुए जो आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिये शरीर के बाहर जाते हैं उसको "कषाय" समुद्घात कहते हैं ॥ २ ॥ किसी प्रकार की विक्रिया [छोटा या बड़ा शरीर अथवा अन्य शरीर] उत्पन्न करने के लिये मूल शरीर को न त्याग कर जो आत्मा के प्रदेशों का बाहर जाना है उसको "विक्रिया" समुद्घात कहते हैं ॥ ३ ॥ मरण के समय में मूल शरीर को न त्याग कर जहां इस आत्माने आगामी आयु बांधी है उसके छूने के लिये जो आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना सो "मारणान्तिक" समुद्घात है ॥ ४ ॥

धस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्, असावशुभस्तेजःसमुद्घातः। लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजःसमुद्घातः। ५। समुत्पन्नपदपदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसम्पन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पदपदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति, असावाहारसमुद्घातः। ६। सप्तमः केवलिनां दण्डकपाटप्रतरपूरणः सोऽयं केवलिसमुद्घातः। ७।

नयविभागः कथ्यते—'ववहारा' अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात्। 'णिच्छयणयदो असंखदेसो वा' निश्चयनयतो लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशप्रमाणः। 'वा' शब्देन तु

अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करने वाले किसी कारण को देखकर क्रोधित संयम के निधान महामुनि के बाएं कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्ति वाला, बारह योजन लम्बा, सूच्यंगुल के संख्यात भाग प्रमाण मूल-विस्तार और नौ योजन के अग्र-विस्तार वाला, काहल [बिलाव] के आकार का धारक पुरुष निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिस पर क्रोधी हो उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकल कर द्वारिका नगरी को भस्म करने के बाद उसी ने द्वीपायन मुनि को भस्म किया और वह पुतला आप भी भस्म हो गया। सो "अशुभ तैजस" समुद्घात है। तथा जगत् को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दुखित देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई ऐसे परम संयमनिधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्याग कर पूर्वोक्त देह के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुष दाए कन्धे से निकल कर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग, दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान मे आकर प्रवेश कर जावे वह "शुभ तैजस समुद्घात" है। ५। पद और पदार्थ मे जिसको कुछ संशय उत्पन्न हुआ हो, उस परम ऋद्धि के धारक महर्षि के मस्तक में से मूल शरीर को न छोडकर, निर्मल स्फटिक के रंग का एक हाथ का पुतला निकल कर अन्तर्मुहूर्त में जहां कहीं भी केवली को देखता है तब उन केवली के दर्शन से अपने आश्रय मुनि को पद और पदार्थ का निश्चय उत्पन्न कराकर फिर अपने स्थान मे प्रवेश कर जावे, सो "आहारक समुद्घात" है। ६। केवलियों के जो दंड कपाट प्रतर लोक पूर्ण होता है, सो सातवां केवलि समुद्घात है ॥ ७ ॥

अब नयों का विभाग कहते हैं। "ववहारा" अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव अपने शरीर के बराबर है तथा "णिच्छयणयदो असंखदेसो वा" निश्चय नय से लोकाकाश प्रमाण जो असंख्य

स्वसंवित्तिसमुत्पन्नकेवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहारनयेन लोकालोकव्यापक, न च प्रदेशापेक्षया नैयायिकमीमासकसांख्यमतवत् । तथैव पञ्चेन्द्रियमनोविषयविकल्परहित-समाधिकाले स्वसंवेदनलक्षणबोधसद्भावेऽपि बहिर्विषयेन्द्रियबोधाभावाज्जड, न च सर्वथा सांख्यमतवत् । तथा रागादिविभावपरिणामापेक्षया शून्योऽपि भवति, न चानन्तज्ञानाद्यपेक्षया बौद्धमतवत् । किञ्च—अणुमात्रशरीरशब्देनात्र उत्सेधघनाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितं लब्ध्यपूर्णसूक्ष्मनिगोदशरीर ग्राह्यम्, न च पुद्गलपरमाणु । गुरुशरीरशब्देन च योजनसहस्रपरिमाणं महामत्स्यशरीर मध्यमावगाहेन मध्यमशरीराणि च । इदमत्रतात्पर्यम्—देहममत्वनिमित्तेन देहं गृहीत्वा संसारे परिभ्रमति तेन कारणेन देहादिममत्वं त्यक्त्वा निर्मोहनिजशुद्धात्मनि भावना कर्तव्येति । एव स्वदेहमात्रव्याख्यानेन गाथा गता ॥ १० ॥

अत पर गाथात्रयेण नयविभागेन संसारिजीवस्वरूप तदवसाने शुद्धजीवस्वरूप च कथयति । तद्यथा —

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइ दी ।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥ ११ ॥

प्रदेश है उन प्रमाण असंख्यात प्रदेशो का धारक यह आत्मा है । "असंखदेसो वा" यहा जो 'वा' शब्द दिया है उस शब्द से ग्रन्थकर्त्ता ने यह सूचित किया है कि स्वसवेदन [आत्मअनुभूति] से उत्पन्न हुए केवल ज्ञान की उत्पत्ति की अवस्था में ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय द्वारा आत्मा लोक, अलोक व्यापक है । किन्तु नैयायिक, मीमासक तथा सांख्य मत अनुयायी जिस तरह आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते हैं, वैसा नही है । इसी तरह पाचो इन्द्रियो और मन के विषयो के विकल्पो से रहित जो ध्यान का समय है उस समय आत्म-अनुभव रूप ज्ञान के विद्यमान होने पर भी बाहरी विषय रूप इन्द्रिय ज्ञान के अभाव से आत्मा जड माना गया है परन्तु सांख्य मत की तरह आत्मा सर्वथा जड नही है । इसी तरह आत्मा राग द्वेष आदि विभाव परिणामो की अपेक्षा से [उनके न होने से] शून्य होता है, किन्तु बौद्ध मत के समान अनन्त ज्ञानादि की अपेक्षा शून्य नही है ।

विशेष—अणुमात्र शरीर आत्मा है, यहा अणु शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवे भाग परिमाण जो लब्धि-अपर्याप्तक सूक्ष्म-निगोद शरीर है, उस शरीर का ग्रहण करना चाहिये किन्तु पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिये । एवं गुरु शरीर शब्द से एक हजार योजन प्रमाण जो महामत्स्य का शरीर है उसको ग्रहण करना चाहिये, और मध्यम अवगाहना से मध्यम शरीरो का ग्रहण है । तात्पर्य यह है—जीव देह के साथ ममत्व के निमित्त से देह को ग्रहण कर संसार मे भ्रमण करता है, इसलिये देह आदि के ममत्व को छोडकर निर्मोह अपने शुद्ध आत्मा मे भावना करनी चाहिये । इस प्रकार 'जीव स्वदेह-मात्र है' इस व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ॥ १० ॥

अब तीन गाथाओ द्वारा नय विभाग पूर्वक संसारी जीव का स्वरूप और उसके अन्त मे शुद्ध जीवका स्वरूप कहते हैं—

पृथिवीजलतेजोवायुवनस्पतय॰ विविधस्थावरैकेन्द्रियाः ।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चाक्षाः त्रसजीवा॰ भवन्ति शङ्खादय॰ ॥ ११ ॥

व्याख्या—'होति' इत्यादिव्याख्यान क्रियते । 'होति' अतीन्द्रियामूर्तनिजपरमात्मस्वभावानुभूतिजनितसुखामृतरसस्वभावमलभमानास्तुच्छमपीन्द्रियसुखमभिलपन्ति छद्मस्था., तदासक्ता. सन्त एकेन्द्रियादिजीवाना घात कुर्वन्ति तेनोपार्जित यत्त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयेन जीवा भवन्ति । कथभूता भवन्ति ? 'पुढविजलतेयवाऊवणप्फदी विविहथावरेइंदी' पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय । कतिसख्योपेता ? विविधा आगमकथितस्वकीयस्वकीयान्तर्भेदैर्बहुविधा । स्थावरनामकर्मोदयेन स्थावरा, एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयेन स्पर्शनेन्द्रिययुक्ता एकेन्द्रिया, न केवलमित्थ भूता स्थावरा भवन्ति । 'विगतिगचदुपचक्खा तसजीवा' द्वित्रिचतु पञ्चाक्षास्त्रसनामकर्मोदयेन त्रसजीवा भवन्ति । ते च कथभूता ? 'सखादी' शङ्खादय । स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वययुक्ता शङ्खशुक्तिकृम्यादयो द्वीन्द्रिया । स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियत्रययुक्ता कुन्थुपिपीलिकायूकामत्कुणादयस्त्रीन्द्रया, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियचतुष्टययुक्ता दशमशकमक्षिकाभ्रमरादयश्चतुरिन्द्रिया, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रेन्द्रियपञ्चयुक्ता मनुष्यादय

गाथार्थः—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन भेदो से नाना प्रकार के स्थावर जीव है और ये सब एक स्पर्शन इन्द्रिय के ही धारक है तथा शख आदि दो, तीन, चार और पाच इन्द्रियो के धारक त्रस जीव होते है ॥ ११ ॥

वृत्यर्थ—यहा 'होति' आदि पदो की व्याख्या की जाती है। 'होति' अल्पज्ञ जीव, अतीन्द्रिय अमूर्तिक परमात्म अपने स्वभावके अनुभवसे उत्पन्न सुखरूपी अमृत रस को न पा करके, इन्द्रियोसे उत्पन्न तुच्छ सुख की अभिलाषा करते है। उस इन्द्रियजनित सुख मे आसक्त होकर एकेन्द्रिय आदि जीवो का घात करते है, उस जीव-घात से उपार्जन किये त्रस, स्थावर नाम कर्म के उदय से स्वयं त्रस, स्थावर होते हैं। किस प्रकार होते है ? "पुढविजलयतेयवाऊ वणप्फदीविविहथावरेइन्दी" पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा वनस्पति जीव होते है। वे कितने हैं ? अनेक प्रकार के है। शास्त्र मे कहे हुए अपने अपने अवान्तर भेद से बहुत प्रकार के है। स्थावर नाम कर्म के उदय से स्थावर एकेन्द्रिय जाति कर्म के उदय से स्पर्शन इन्द्रिय सहित एकेन्द्रिय होते है। इस प्रकार से केवल स्थावर ही नही होते बल्कि "विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा" दो, तीन, चार तथा पाच इन्द्रियो वाले त्रस नाम कर्म के उदय से त्रस जीव भी होते है। वे कैसे हैं ? "संखादी" शख आदि। स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियो वाले शख, कृमि, सीप आदि दो इन्द्रिय जीव है। स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन तीन इन्द्रियो वाले कुन्थु, पिपीलिका (कीडी), जू, खटमल आदि तीन इन्द्रिय जीव है। स्पर्शन, रसना, घ्राण और नेत्र इन चार इन्द्रियो वाले डास, मच्छर, मक्खी, भौरा, वर्र आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचो इन्द्रियो वाले मनुष्य आदि पचेन्द्रिय जीव है। साराश यह है कि निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव निज पर-

पञ्चेन्द्रिया इति । अयमत्रार्थ —विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखमलभमाना इन्द्रियसुखासक्ता एकेन्द्रियादिजीवाना वध कृत्वा त्रसस्थावरा भवन्तीत्युक्त पूर्व तस्मात्त्रसस्थावरोत्पत्तिविनाशार्थ तत्रैव परमात्मनि भावना कर्त्तव्येति ॥ ११ ॥

तदेव त्रसस्थावरत्व चतुर्दशजीवसमासरूपेण व्यक्तीकरोति —

समणा अमणा णेया पंचिदिय णिम्मणा परे सव्वे ।

बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥ १२ ॥

समनस्काः अमनस्काः ज्ञेयाः पंचेन्द्रियाः निर्मनस्काः परे सर्वे ।

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियाः सर्वे पर्याप्ताः इतरे च ॥ १२ ॥

व्याख्या —"समणा अमणा" समस्तशुभाशुभविकल्पातीतपरमात्मद्रव्यविलक्षण नानाविकल्पजालरूप मनो भण्यते, तेन सह ये वर्त्तन्ते ते समनस्का सज्ञिन, तद्विपरीता अमनस्का असज्ञिन । 'णेया' ज्ञेया ज्ञातव्या. । 'पचिदिय' ते सज्ञिनस्तथैवासज्ञिनश्च पञ्चेन्द्रिया । एव सज्ञ्यसज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्च एव, नारकमनुष्यदेवा सज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव । 'णिम्मणा परे सव्वे' निर्मनस्का पञ्चेन्द्रियात्सकाशात् परे सर्वे द्वित्रिचतुरिन्द्रिया. । 'बादरसुहमेइंदी' बादरसूक्ष्मा एकेन्द्रियास्तेऽपि यदष्टपत्रपद्माकार द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापो-

---

मात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख है उसको न पाकर जीव इन्द्रियो के सुख मे आसक्त होकर जो एकेन्द्रियादि जीवो की हिंसा करते है उससे त्रस तथा स्थावर होते हैं, ऐसा पहले कह चुके है, इस कारण त्रस, स्थावरो मे जो उत्पत्ति होती है, उसको मिटाने के लिये उसी पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा मे भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

अब उसी त्रस तथा स्थावर पन को १४ जीवसमासो द्वारा प्रकट करते है —

गाथार्थः—पचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी ऐसे दो तरह के जानने चाहियें, शेष सब जीव मन रहित असंज्ञी है । एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं । और ये सब जीव पर्याप्त तथा अपर्याप्त होते हैं । (पंचेन्द्रिसज्ञी, पचेन्द्रिय असज्ञी, दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चौ-इन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय बादर एकेन्द्रिय इन सातो के पर्याप्त अपर्याप्त के भेद से जीव समास १४ होते हैं)। ॥ १२ ॥

वृत्त्यर्थ —"समणा अमणा" समस्त शुभ अशुभ विकल्पो से रहित जो परमात्मरूप द्रव्य उससे विलक्षण अनेक तरह के विकल्पजालरूप मन है, उस मन से सहित जीव को 'समनस्कसज्ञी' कहते है । तथा मन से शून्य अमनस्क यानी असंज्ञी 'णेया' जानने चाहिये । 'पंचिदिया' 'पचेन्द्रिय जीव सज्ञी तथा असज्ञी दोनो होते हैं । ऐसे सज्ञी तथा असंज्ञी ये दोनो पचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होते हैं । नारकी, मनुष्य और देव संज्ञीपंचेन्द्रिय ही होते है । "णिम्मणा परे सव्वे" पंचेन्द्रिय से भिन्न अन्य सब द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चारन्द्रिय जीव मन रहित असंज्ञी होते है । "बादरसुहमेइदी" बादर और सूक्ष्म जो एकेन्द्रिय जीव है, वे

पदेशादिग्राहक भावमनश्चेति तदुभयाभावादसज्ञिन एव । 'सव्वे पज्जत्त इदरा य' एवमुक्त-प्रकारेण सञ्ज्ञ्यसञ्जिरूपेण पञ्चेन्द्रियद्वय द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेण विकलेन्द्रियत्रय बादरसूक्ष्म-रुपेणैकेन्द्रियद्वय चेति सप्त भेदा. । 'आहारसरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाणभासमणो । चत्तारिपचछप्पियएइन्दियवियलसण्णिसण्णीण ॥ १ ॥' इति गाथाकथितक्रमेण ते सर्वे प्रत्येक स्वकीयस्वकीयपर्याप्तिसभवात्सप्त पर्याप्ता सप्तापर्याप्ताश्च भवन्ति । एव चतुर्दशजीव-समासा ज्ञातव्यास्तेपा च 'इन्दियकायाऊणिय पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा । वेइ दियादिपुण्णे वचिमणो सण्णिपुण्णेव ॥ १ ॥ दस सण्णीण पाणा सेसेगूणति मस्सवे ऊणा । पज्जतेसिद-रेसु य सत्तदुगे सेसगेगूणा ॥ २ ॥' इति गाथाद्वयकथितक्रमेण यथासभवमिन्द्रियादिदशप्रा-णाश्च विज्ञेया । अत्रैतेभ्यो भिन्न निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थ ॥ १२ ॥

अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा अपि जीवा पश्चादशुद्धनयेन चतुर्दशमार्गणास्थानचतुर्दशगुणस्थानसहिता भवन्तीति प्रतिपा-दयति —

भी आठ पाखडी के कमल के आकार जो द्रव्य मन और उस द्रव्य मन के आधार से शिक्षा, वचन, उपदेश आदि का ग्राहक भावमन, इन दोनो प्रकार के मन न होने से असंज्ञी ही है । "सव्वे पज्जत्त इदरा य" इस तरह उक्त प्रकार से संज्ञी और असज्ञी दोनो पचेन्द्रिय और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय रूप विकलत्रय तथा बादर सूक्ष्म दो तरह के एकेन्द्रिय ये सात भेद हुए । आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासो-च्छवास, भाषा तथा मन ये ६ पर्याप्तिया हैं । इनमे से एकेन्द्रिय जीव के आहार, शरीर, स्पर्शनेन्द्रिय तथा श्वासोच्छवास ये चार पर्याप्तिया होती हैं । विकलेन्द्रिय [दो इंद्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय,] तथा असज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के मन के विना पाच पर्याप्तिया होती हैं और सज्ञी पचेन्द्रिय के छहो पर्या-प्तिया होती हैं ।

इस गाथा मे कहे हुए क्रम से वे जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियो के पूर्ण होने से सातो पर्याप्त हैं और अपनी-पर्याप्तिया पूरी न होने की दशा मे सातो अपर्याप्त भी होते हैं । ऐसे चौदह जीव समास जानने चाहियें । 'इन्द्रिय, काय, आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनो ही के होते हैं । श्वासोच्छवास पर्याप्त के ही होता है । वचन बल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि के ही होता है । मनोबल प्राण सज्ञीपर्याप्त के ही होता है । १ । 'पर्याप्त अवस्था मे सज्ञी पञ्चेन्द्रियो के १० प्राण, असज्ञी पचेन्द्रियो के मन के विना ९ प्राण, चौइन्द्रियो के मन और कर्ण इन्द्रिय के विना ८ प्राण, तीन इन्द्रियो के मन, कर्ण और चक्षु के विना ७ प्राण, दो इन्द्रियो के मन कर्ण, चक्षु और घ्राण के विना ६ प्राण और एकेन्द्रियोके मन, कर्ण चक्षु, घ्राण, रसना तथा वचन बल के विना ४ प्राण होते हैं । अपर्याप्त जीवो मे सज्ञी तथा असज्ञी इन दोनो पंचेन्द्रियो के श्वासोच्छवास, वचनबल और मनोबल के विना ७ प्राण होते हैं और चौइन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक क्रम से एक एक प्राण घटता हुआ है । २ ।' इन दो गाथाओ द्वारा कहे हुए क्रम से यथा-संभव इन्द्रियादिक दश प्राण समझने चाहिये । अभिप्राय यह है कि इन पर्याप्तियो तथा प्राणो से भिन्न अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥ १२ ॥

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥ १३ ॥

मार्गणागुणस्थानैः चतुर्दशभिः भवन्ति तथा अशुद्धनयात् ।
विज्ञेयाः संसारिणः सर्वे शुद्धाः खलु शुद्धनयात् ॥ १३ ॥

व्याख्या —'मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया' यथा पूर्वसूत्रोदितचतुर्दशजीवसमासैर्भवन्ति मार्गणागुणस्थानैश्च तथा भवन्ति सम्भवन्तीति विज्ञेया ज्ञातव्या । कतिसंख्योपेतैः ? 'चउदसहि' प्रत्येकं चतुर्दशभिः । कस्मात् ? 'असुद्धणया' अशुद्धनयात् सकाशात् । इत्थंभूता के भवन्ति ? 'संसारी' सांसारिजीवाः । 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' त एव सर्वे संसारिणः शुद्धाः सहजशुद्धज्ञायकैकस्वभावाः । कस्मात् ? शुद्धनयात् शुद्धनिश्चयनयादिति । अथागमप्रसिद्धगाथाद्वयेन गुणस्थाननामानि कथयति । 'मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य । विरया पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्ठि सुहमो य ॥ १ ॥ उवसंत खीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य । चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥ २ ॥' इदानीं तेषामेव गुणस्थानानां प्रत्येकं संक्षेपलक्षणं कथ्यते । तथाहि—सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृतिषड्द्रव्यपञ्चास्ति-

---

अब शुद्ध पारिणामिक परम भाव का ग्राहक जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है उसकी अपेक्षा सब जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के धारक हैं तो भी अशुद्ध नय से चौदह मार्गणा स्थान और चौदह गुणस्थानों सहित होते हैं, ऐसा बतलाते हैं —

गाथार्थः—संसारी जीव अशुद्ध नय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चौदह गुण स्थानों के भेद से चौदह २ प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं ।

वृत्त्यर्थ — 'मग्गणगुणठाणेहि य हवंति तह विण्णेया" जिस प्रकार पूर्व गाथा में कहे हुए १४ जीव समासों से जीवों के १४ भेद होते हैं उसी तरह मार्गणा और गुणस्थानों से भी होते हैं, ऐसा जानना चाहिये । मार्गणा और गुणस्थानों से कितनी संख्या वाले होते हैं ? "चउदसहि" प्रत्येक से १४-१४ संख्या वाले हैं । किस अपेक्षा से ? "असुद्धणया" अशुद्ध नयकी अपेक्षा से । मार्गणा और गुणस्थानों से अशुद्ध नयकी अपेक्षा चौदह-चौदह प्रकार के कौन होते हैं ? "संसारी" संसारी जीव होते हैं । "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" वेही सब संसारी जीव शुद्ध यानी-स्वाभाविक शुद्ध ज्ञायक रूप एक-स्वभाव-धारक हैं । किस अपेक्षा से ? शुद्ध नय से अर्थात् शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से ।

अब शास्त्र प्रसिद्ध दो गाथाओं द्वारा गुणस्थानों के नाम कहते हैं । "मिथ्यात्व १, सासादन २, मिश्र ३, अविरतसम्यक्त्व ४, देशविरत ५, प्रमत्तविरत ६, अप्रमत्तविरत ७, अपूर्वकरण ८ अनिवृत्तिकरण ९, सूक्ष्मसापराय १०, उपशान्तमोह ११, क्षीणमोह १२, सयोगिकेवली १३ और, अयोगिकेवली १४ इस

कायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहित वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धान नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति। पाषाणरेखासदृशानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान्यतरोदयेन प्रथमौपशमिकसम्यक्त्वात्पतितो मिथ्यात्व नाद्यापि गच्छतीत्यन्तरालवर्ती सासादन। निजशुद्धात्मादितत्त्व वीतरागसर्वज्ञप्रणीत परप्रणीत च मन्यते य स दर्शनमोहनीयभेदमिश्रकर्मोदयेन दधिगुडमिश्रभाववत् मिश्रगुणस्थानवर्त्ती भवति। अथ मत—येन केनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजन तथा सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादिवैनयिकमिथ्यादृष्टि सशयमिथ्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते तेन सह सम्यग्मिथ्यादृष्टे को विशेष इति? अत्र परिहार—'स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु च भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्य भविष्यतीति मत्वा सशयरूपेण भक्ति कुरुते निश्चयो नास्ति। मिश्रस्य पुनरुभयत्र निश्चयोऽस्तीति विशेष।' स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूत निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्य हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते पर किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्त तलवरगृहीततस्करव-

---

तरह क्रम से चौदह गुणस्थान जानने चाहिये ॥ २ ॥ अब इन गुणस्थानो मे से प्रत्येक का सक्षेप से लक्षण कहते हैं। वह इस प्रकार स्वाभाविक शुद्ध केवल ज्ञान केवल दर्शन रूप अखड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय निजपरमात्मा आदि षट द्रव्य, पाच अस्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थो मे तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नयविभाग से जिस जीव के श्रद्धान नही है वह जीव "मिथ्यादृष्टि," होता है ॥ १ ॥ पाषाणरेखा [पत्थर मे उकेरी हुई लकीर] के समान जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ में मे किसी एक के उदय से प्रथम–औपशमिक सम्यक्त्व से, गिरकर जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त न हो, तब तक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनो के बीच के परिणाम वाला जीव "सासादन" होता है। २। जो अपने शुद्ध आत्मा आदि तत्वो को वीतराग सर्वज्ञ के कहे अनुसार मानता है और अन्य मत के अनुसार भी मानता है वह मिश्र दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से दही और गुड मिले हुए पदार्थ की भांति "मिश्रगुण स्थान वाला" है। ३। शका—"चाहे जिससे हो हो मुझे तो एक देव से मतलब है अथवा सब ही देव वन्दनीय है, निन्दा किसी भी देव की न करनी चाहिये" इस प्रकार वैनयिक और सशय मिथ्यादृष्टि मानता है, तब उनमे तथा मिश्रगुणस्थानवर्त्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टि मे क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि–वैनयिक मिथ्यादृष्टि तथा सशयमिथ्यादृष्टि तो सभी देवो मे तथा सब शास्त्रो मे से किसी एक की भक्ति के परिणाम से मुझे पुण्य होगा ऐसा मानकर सशय रूप से भक्ति करता है, उसको किसी एक देव मे निश्चय नही है। और मिश्रगुणस्थानवर्त्ती जीव के दोनो मे निश्चय है। बस, यही अन्तर है। जो "स्वाभाविक अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुणका आधारभूत निज परमात्मद्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य त्याज्य है" इस तरह सर्वज्ञ देवप्रणीत निश्चय व व्यवहार नय को साध्य-साधक भाव से मानता है, परन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यानकषाय के उदय से, मारने के लिये कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाति आत्म निन्दादि सहित होकर इन्द्रिय-सुख का अनुभव करता है यह "अविरत सम्यग्दृष्टि" चौथे गुण स्थान-

दात्मनिन्दासहित मन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् । य पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टि सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेशरागादिरहितस्वाभाविकसुखानुभूतिलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु 'दंसणवयसामाइयपोसहसचित्तराइभत्ते य । बम्हारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ १ ॥ इति गाथाकथितैकादशनिलयेषु वर्तते स पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावको भवति ॥ ५ ॥ स एव सद्दृष्टिर्धूलिरेखादिसदृशक्रोधादितृतीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेन रागाद्युपाधिरहितस्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतानुभवलक्षणेषु बहिर्विषयेषु पुनः सामस्त्येन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिलक्षणेषु च पञ्चमहाव्रतेषु वर्तते यदा तदा दुःस्वप्नादिव्यक्ताव्यक्तप्रमादसहितोऽपि षष्ठगुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयतो भवति । ६ । स एव जलरेखादिसदृशसंज्वलनकषायमन्दोदये सति निष्प्रमादशुद्धात्मसंवित्तिमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमादरहित सन्सप्तमगुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयतो भवति । ७ । स एवातीतसंज्वलनकषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाह्लादैकसुखानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमकक्षपकसंज्ञोऽष्टमगुणस्थानवर्ती भवति । ८ । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिरूपसमस्तसङ्कल्पविकल्परहितनिजनिश्चलपरमात्मतत्त्वैकाग्रध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेकसमये ये परस्परं पृथक्कर्तुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदेऽप्यनिवृत्तिकरणौपशमिकक्षपकसंज्ञा द्वितीयकषायाद्येकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहप्रकृतीनामुपशमनक्षपणसमर्था नवमगुण-

---

वर्ती का लक्षण है ॥ ४ ॥ पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि होकर भूमिरेखादि के समान क्रोधादि अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कषायों के उदय का अभाव होने पर अन्तरंग में निश्चय नय से एक देश राग आदि से रहित स्वाभाविक सुख के अनुभव लक्षण तथा बाह्य विषयों में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इनके एक देश त्याग रूप पांच अणुव्रतों में और "दर्शन, व्रत, सामयिक, प्रोषध, सचित्तविरत; रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ॥ १ ॥ इस गाथा में कहे हुए श्रावक के एकादश स्थानों में से किसी एक में वर्तने वाला है वह "पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक" होता है ॥ ५ ॥ जब वही सम्यग्दृष्टि, धूलि की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण तीसरी कषाय के उदय का अभाव होने पर निश्चय नय से अन्तरङ्ग में राग आदि उपाधि-रहित निज-शुद्ध अनुभव से उत्पन्न सुखामृत के अनुभव लक्षण रूप बाहरी विषयों में सम्पूर्ण रूप से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग रूप ऐसे पांच महाव्रतों का पालन करता है, तब वह बुरे स्वप्न आदि प्रकट तथा अप्रकट प्रमाद सहित होता हुआ छठे गुणस्थानवर्ती "प्रमत्तसंयत" होता है ।६। वही, जलरेखा के तुल्य संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर प्रमाद रहित जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है उसमें मल उत्पन्न करने वाले व्यक्त अव्यक्त प्रमादों से रहित होकर, सप्तम गुणस्थानवर्ती "अप्रमत्तसंयत" होता है । ७ । वही, अतीत संज्वलन कषाय का मन्द उदय होने पर, अपूर्व परमआल्हाद एक सुख के अनुभव रूप 'अपूर्वकरण में उपशमक या क्षपक नामक अष्टम गुणस्थानवर्ती" होता है ॥ ८ ॥

स्थानवर्तिनो भवन्ति । ९ । सूक्ष्मपरमात्मतत्त्वभावनावलेन सूक्ष्मकृष्टिगतलोभकषायस्योपशमका क्षपकाश्च दशमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । १० । परमोपशममूर्तिनिजात्मस्वभावसंवित्तिवलेन सकलोपशान्तमोहा एकादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । ११ । उपशमश्रेणिविलक्षणेन क्षपकश्रेणिमार्गेण निष्कषायशुद्धात्मभावनावलेन क्षीणकषाया द्वादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । १२ । मोहक्षपणानन्तरमन्तर्मुहूर्तकाल स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणैकत्ववितर्कावीचारद्वितीयशुक्लध्याने स्थित्वा तदन्त्यसमये ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायत्रय युगपदेकसमयेन निर्मूल्य मेघपञ्जरविनिर्गतदिनकर इव सकलविमलकेवलज्ञानकिरणैर्लोकालोकप्रकाशकास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जिनभास्करा भवन्ति । १३ । मनोवचनकायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनोऽयोगिजिना भवन्ति । १४ । ततश्च निश्चयरत्नत्रयात्मककारणभूतसमयसारसंज्ञेन परमयथाख्यातचारित्रेण चतुर्दशगुणस्थानातीता ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहिता सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतनिर्नामनिर्गोत्राद्यनन्तगुणा सिद्धा भवन्ति ।

देखे, सुने और अनुभव किये हुए भोगो की वाछादिरूप सपूर्ण सकल्प तथा विकल्प रहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूप के एकाग्र ध्यान के परिणाम से जिनजीवो के एक समय मे परस्पर अन्तर नही होता वे वर्ण तथा संस्थान के भेद होने पर भी अनिवृत्तिकरण उपशमक क्षपक संज्ञा के धारक, अप्रत्याख्यानावरण द्वितीय कपाय आदि इक्कीस प्रकार की चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृतियो के उपशमन और क्षपण मे समर्थ "नवम गुणस्थानवर्त्ती" जीव है। ९। सूक्ष्म परमात्मतत्त्व भावनाके वल से जो सूक्ष्म कृष्टि रूप लोभ कपाय के उपशमक और क्षपक है वे दशम 'गुणस्थानवर्त्ती' है।१०। परम उपशममूर्त्ति निज आत्मा के स्वभाव अनुभव के वल से सम्पूर्ण मोह को उपशम करने वाले ग्यारहवे 'गुणस्थानवर्त्ती' होते है।११। उपशमश्रेणी से भिन्न क्षपकश्रेणी के मार्ग से कपाय रहित शुद्ध आत्मा की भावना के वल से जिनके समस्त कषाय नष्ट हो गये हैं वे बारहवे "गुणस्थानवर्त्ती" होते है॥ १२॥ मोह के नाश होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त काल मे ही निज शुद्ध आत्मानुभव रूप एकत्व वितर्क अवीचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान मे स्थिर होकर उसके अन्तिम समय मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनो को एक साथ एक काल मे सर्वथा निर्मूल करके मेघपटल से निकले हुए सूर्य के समान सम्पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान किरणो से लोक अलोक के प्रकाशक तेरहवे "गुणस्थानवर्त्ती" जिन भास्कर (सूर्य) होते है ॥ १३ ॥ और मन, वचन, कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्मो के ग्रहण करने मे कारण जो आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्द रूप योग है उससे रहित चौदहवे "गुणस्थानवर्त्ती" "अयोगी जिन' होते है ॥ १४ ॥ तदनन्तर निश्चय रत्नत्रयात्मक कारणभूत समयसार नामक जो परम यथाख्यात चारित्र है उससे पूर्वोक्त चौदह गुणस्थानो से रहित, ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मो से रहित तथा सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणो मे गर्भित निर्नाम (नाम रहित) निर्गोत्र (गोत्र रहित) आदि अनन्त गुण सहित सिद्ध होते हैं।

अत्राह शिष्य:—केवलज्ञानोत्पत्तौ मोक्षकारणभूतरत्नत्रयपरिपूर्णतायां सत्यां तस्मिन्नेव क्षणे मोक्षेण भाव्यं सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये कालो नास्तीति ? परिहारमाह—यथाख्यातचारित्रं जातं परं किन्तु परमयथाख्यातं नास्ति । अत्र दृष्टान्तः । यथा—चौरव्यापाराभावेऽपि पुरुषस्य चौरसंसर्गो दोषं जनयति तथा चारित्रविनाशकचारित्रमोहोदयाभावेऽपि सयोगिकेवलिनां निष्क्रियशुद्धात्माचरणविलक्षणो योगत्रयव्यापारश्चारित्रमलं जनयति, योगत्रयगते पुनरयोगिजिने चरमसमयं विहाय शेषाघातिकर्मतीव्रोदयश्चारित्रमलं जनयति, चरमसमये तु मन्दोदये सति चारित्रमलाभावात् मोक्षं गच्छति । इति चतुर्दशगुणस्थानव्याख्यानं गतम् । इदानीं मार्गणाः कथ्यन्ते । 'गइ इंदियेसु काये जोगे वेदे कषायणाणे य । संयम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्तसण्णि आहारे ॥ १ ॥' इति गाथाकथितक्रमेण गत्यादिचतुर्दशमार्गणा ज्ञातव्या । तद्यथा—स्वात्मोपलब्धिसिद्धिविलक्षणा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिभेदेन चतुर्विधा गतिमार्गणा भवति । १ । अतीन्द्रियशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूता ह्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदेन पञ्चप्रकारेन्द्रियमार्गणा । २ । अशरीरात्मतत्त्वविसदृशी पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदेन षड्भेदा कायमार्गणा । ३ । निर्व्यापारशुद्धात्मपदार्थविलक्षणमनोवचनकाययोगभेदेन त्रिधा योगमार्गणा, अथवा विस्तरेण सत्यासत्योभयानुभयभेदेन

यहां शिष्य पूछता है कि केवल ज्ञान हो जाने पर जब मोक्ष के कारण भूतरत्नत्रय की पूर्णता हो गई तो उसी समय मोक्ष होना चाहिये, सयोगी और अयोगी इन दो गुण स्थानों में रहने का कोई समय ही नहीं है ?

इस शंका का परिहार करते हैं कि केवल ज्ञान हो जाने पर यथाख्यात चारित्र तो हो जाता है किन्तु परम यथाख्यात चारित्र नहीं होता है। यहां दृष्टान्त है—जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता, किंतु उसको चोर के संसर्ग का दोष लगता है, उसी तरह सयोग केवलियों के चारित्र के नाश करने वाले चारित्रमोह के उदय का अभाव है तो भी निष्क्रिय शुद्ध आत्मा के आचरण से विलक्षण जो तीन योगों का व्यापार है वह चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है। तीनों योगों से रहित जो अयोगी जिन हैं उनके अन्त समय को छोड़कर शेष चार अघातिया कर्मों का तीव्र उदय चारित्र में दूषण उत्पन्न करता है और अन्तिम समय में उन अघातिया कर्मों का मन्द उदय होने पर चारित्र में दोष का अभाव हो जाने से अयोगी जिन मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार चौदह गुणस्थानों का व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब चौदह मार्गणाओं को कहते हैं "गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा तथा आहार। १।" इस तरह क्रमसे गति आदि चतुर्दश मार्गणा जाननी चाहिये। निज आत्मा की प्राप्ति से विलक्षण नारक, तिर्यंक्, मनुष्य तथा देवगति भेद से गतिमार्गणा चार प्रकार की है—१ अतीन्द्रिय, शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रतिपक्षभूत एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय भेद से इन्द्रियमार्गणा पांच प्रकार की है। २। शरीर रहित आत्मतत्त्व से भिन्न पृथिवी, जल, अग्नि; वायु, वनस्पति और त्रस काय के भेद से कायमार्गणा छह तरह की होती है। ३। व्यापार रहित शुद्ध-आत्मतत्त्व से विलक्षण मनोयोग; वचनयोग तथा काययोग के भेद से योग-

चतुर्विधो मनोयोगो वचनयोगश्च, औदारिकौदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणकायभेदेन सप्तविधो काययोगश्चेति समुदायेन पञ्चदशविधा वा योगमार्गणा । ४ । वेदोदयोद्भवरागादिदोषरहितपरमात्मद्रव्याद्भिन्ना स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिधा वेदमार्गणा ॥ ५ ॥ निष्कषायशुद्धात्मस्वभावप्रतिकूलक्रोधलोभमायामानभेदेन चतुर्विधा कषायमार्गणा, विस्तरेण कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा ॥ ६ ॥ मत्यादिसंज्ञापञ्चकं कुमत्याद्यज्ञानत्रयं चेत्यष्टविधा ज्ञानमार्गणा ॥ ७ ॥ सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन चारित्रं पञ्चविधम्, संयमासंयमस्तथैवासंयमश्चेति प्रतिपक्षद्वयेन सह सप्तप्रकारा संयममार्गणा । ८ । चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदेन चतुर्विधा दर्शनमार्गणा । ९ । कषायोदयरञ्जितयोगप्रवृत्तिविसदृशपरमात्मद्रव्यप्रतिपन्थिनी[१] कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदेन षड्विधा लेश्यामार्गणा । १० । भव्याभव्यभेदेन द्विविधा भव्यमार्गणा । ११ । अत्राह शिष्यः—शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुणस्थानमार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्तं पूर्वम्, इदानीं पुनर्भव्याभव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिक-

---

मार्गणा तीन प्रकार की है अथवा विस्तार से सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोग के भेद से चार प्रकार का मनोयोग है। ऐसे ही सत्य, असत्य, उभय, अनुभय इन चार भेदो से वचन योग भी चार प्रकार का है एवं औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण ऐसे काययोग सात प्रकार का है। सब मिलकर योगमार्गणा १५ प्रकार की हुई। ४। वेद के उदय से उत्पन्न होने वाले रागादिक दोषों से रहित जो परमात्मद्रव्य है उनमें भिन्न स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद ऐसे तीन प्रकार की वेदमार्गणा है। ५। कषाय रहित शुद्ध आत्मा के स्वभाव से प्रतिकूल क्रोध, मान, माया, लोभ भेदो से चार प्रकार की कषायमार्गणा है। विस्तार से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन भेद से १६ कषाय और हास्यादिक भेद से ९ नो कषाय ये सब मिलकर पच्चीस प्रकार की कषायमार्गणा है। ६। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, पांच ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ये तीन अज्ञान इस तरह ८ प्रकार की ज्ञानमार्गणा है। ७। सामायिक, छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये पांच प्रकार का चारित्र और संयमासंयम तथा असंयम ये दो प्रतिपक्षी, ऐसे संयममार्गणा सात प्रकार की है। ८। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन इन भेदोंसे दर्शनमार्गणा चार प्रकार की है। ९। कषायो के उदय से रंगी हुई जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है उससे भिन्न जो परमात्मद्रव्य है, उस परमात्मद्रव्य से विरोध करने वाली कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ऐसे ६ प्रकार की लेश्यामार्गणा है। १०। भव्य और अभव्य भेद से भव्य मार्गणा दो प्रकार की है। ११।

यहां शिष्य प्रश्न करता है कि—"शुद्धपारिणामिक परमभावरूप शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से

---

१ "प्रतिपक्षी" इति पाठान्तर।

भावो भणित इति पूर्वापरविरोध ? अत्र परिहारमाह–पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावापेक्षया गुणस्थानमार्गणानिषेध कृत, इदानी पुनर्भव्याभव्यत्वद्वयमशुद्धपारिणामिकभावरूप मार्गणामध्येऽपि घटते। ननु–शुद्धाशुद्धभेदेन पारिणामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव ? नैव यद्यपि सामान्यरूपेणोत्सर्गव्याख्यानेन शुद्धपारिणामिकभाव कथ्यते तथाप्यपवादव्याख्यानेनाशुद्धपारिणामिकभावोऽप्यस्ति । तथाहि–'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिकभावो भणित, तत्र शुद्धचैतन्यरूप जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्याश्रितत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकसज्ञ शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते, यत्पुन कर्मजनितदशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्वन्, अभव्यत्व चेति त्रय, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसज्ञस्त्वशुद्धपारिणामिकभाव उच्यते। अशुद्धत्व कथमिति चेत् ? यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिकत्रय व्यवहारेण ससारिजीवेऽस्ति तथापि 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'' इति वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रय, मुक्तजीवे पुन सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्व भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात् शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वादविनश्वर., इति

जीव गुणस्थान तथा मार्गणास्थानो से रहित है'' ऐसा पहले कहा गया है और अब यहा भव्य अभव्य रूप से मार्गणा मे भी आपने परिणामिक भाव कहा, सो यह तो पूर्वापरविरोध है ? अब इस शंका का समाधान करते हैं–पूर्व प्रसग मे तो शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा से गुणस्थान और मार्गणा का निषेध किया है और यहा पर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूप से भव्य तथा अभव्य ये दोनो मार्गणा मे भी घटित होते है। यदि कदाचित् ऐसा कहो कि ''शुद्ध अशुद्ध भेद से पारिणामिक भाव दो प्रकार का नही है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है'' तो वह भी ठीक नही, क्योकि, यद्यपि सामान्य रूप से पारिणामिक भाव शुद्ध है, ऐसा कहा जाता है, तथापि अपवाद व्याख्यान से अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण ''जीवभव्याभव्यत्वानि च'' (अ २ सू ७) इस तत्त्वार्थसूत्र मे जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व इन भेदो से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का कहा है। उनमे शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है। तथा जो कर्म से उत्पन्न दश प्रकार के प्राणो रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेदसे तीन तरहका है और ये तीनो विनाशशील होनेके कारण पर्याय के आश्रित होने से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अशुद्ध परिणामिक भाव कहे जाते है। ''इसकी अशुद्धता किस प्रकार से है ?'' इस शका का उत्तर यह है। यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहारनय से ससारी जीव मे हैं, तथापि ''सव्वेसुद्धा हु सुद्धणया' इस वचन से ये तीनो भाव शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा नही है, और मुक्त जीवो मे तो सर्वथा ही नही है, इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भाव मे से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यान के समय ध्येय (ध्यान करने योग्य) होता है, ध्यानरूप नही होता। क्योकि, ध्यान पर्याय विनश्वर है, और शुद्ध पारिणामिक द्रव्य-

भावार्थ । औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वभेदेन त्रिधा सम्यक्त्वमार्गणा मिथ्यादृष्टि-सासादनमिश्रसञ्ज्ञविपक्षत्रयभेदेन सह षड्विधा ज्ञातव्या । १२ । सञ्ज्ञित्वासञ्ज्ञित्वविसदृशपरमात्मस्वरूपाद्भिन्ना सञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिभेदेन द्विधा सञ्ज्ञिमार्गणा । १३ । आहारकानाहारकजीवभेदेनाहारकमार्गणापि द्विधा । १४ । इति चतुर्दशमार्गणास्वरूपं ज्ञातव्यम् । एवं 'पुढविजलतेयवाऊ' इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापादत्रयेण च 'गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओय । उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया । १ ।' इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्तत्रयबीजपदं सूचितम् । 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितमिति । अत्र गुणस्थानमार्गणादिमध्ये केवलज्ञानदर्शनद्वयं क्षायिकसम्यक्त्वमनाहारकशुद्धात्मस्वरूपं च साक्षादुपादेयं, यत्पुनश्च शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं कारण-समयसारस्वरूपं तत्तस्यैवोपादेयभूतस्य विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन साधकत्वात्पारम्पर्येणोपादेयं, शेषं तु हेयमिति । यच्चाध्यात्मग्रन्थस्य बीजपदभूतं शुद्धात्मस्वरूपमुक्तं तत्पुनरुपादेयमेव । अनेन प्रकारेण जीवाधिकारमध्ये शुद्धाशुद्धजीवकथनमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥ १३ ॥

रूप होने के कारण अविनाशी है, यह सारांश है। सम्यक्त्व के भेद से सम्यक्त्वमार्गणा तीन प्रकार की है। औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक। और मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन विपक्ष भेदो के साथ छह प्रकार की भी सम्यक्त्वमार्गणा जाननी चाहिए। १२। सज्ञित्व तथा असज्ञित्व से विलक्षण परमात्मस्वरूप से भिन्न सज्ञिमार्गणा 'सज्ञी तथा असज्ञी भेद से' दो प्रकार की है। १३। आहारक अनाहारक जीवो के भेद से आहारमार्गणा भी दो प्रकार की है। १४। इस प्रकार चौदह मार्गणाओ का स्वरूप जानना चाहिये। इस रीति से "पुढविजलतेयवाऊ" इत्यादि दो गाथाओ और तीसरी गाथा "णिक्कम्मा अट्ठगुणा" के तीन पदो से "गुणस्थान, जीव समास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा चौदह मार्गणा और उपयोगो से इस प्रकार क्रमश, बीस प्ररूपणा कही है। १।" इत्यादि गाथा मे कहा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल और महाधवल प्रबन्ध नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ है उनके बीज-पद की सूचना ग्रन्थकार ने की है। "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इस तृतीय गाथा के चौथे पाद मे शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाशक पचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीनो प्राभृतो का बीजपद सूचित किया है। यहा गुणस्थान और मार्गणाओ मे केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनो तथा क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारक शुद्ध आत्मा के स्वरूप है, अत साक्षात् उपादेय हैं, और जो शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप कारण समयसार है वह उसी उपादेय-भूतका विवक्षित एक देश शुद्ध नय द्वारा साधक होने से परम्परा मे उपादेय है, इसके सिवाय और सब हेय है। और जो अध्यात्म ग्रन्थ का बीज-पदभूत शुद्ध आत्मा का स्वरूप कहा है वह तो उपादेय ही है। इस प्रकार जीवाधिकार मे शुद्ध, अशुद्ध जीव के कथन की मुख्यता से सप्तम स्थल मे तीन गाथा समाप्त हुई ॥१३॥

अथेदानी गाथापूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुत्तरार्द्धेन पुनरूर्ध्वगतिस्वभाव च कथयति :—

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं सजुत्ता ॥ १४ ॥

निष्कर्माण अष्टगुणा किंचिदूना चरमदेहत: सिद्धाः।
लोकाग्रस्थिता नित्याः उत्पादव्ययाभ्या सयुक्ताः ॥ १४ ॥

व्याख्या—'सिद्धा' सिद्धा भवन्तीति क्रियाध्याहार । कि विशिष्टा ? 'णिक्कम्मा अट्ठगुणा किचूणा चरमदेहदो' निष्कर्माणोऽष्टगुणा किञ्चिदूनाश्चरमदेहत सकाशादिति सूत्रपूर्वार्द्धेन सिद्धस्वरूपमुक्तम् । ऊर्ध्वगमन कथ्यते 'लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं सजुत्ता' ते च सिद्धा लोकाग्रस्थिता नित्या उत्पादव्ययाभ्या सयुक्ता । अतो विस्तर —कर्मारिविध्वसकस्वशुद्धात्मसवित्तिबलेन ज्ञानावरणादिमूलोत्तरगतसमस्तकर्मप्रकृतिविनाशकत्वादष्टकर्मरहिता 'सम्मत्तणाणदसणवीरियसुहुम तहेव अवगहण । अगुरुलहुअव्ववाह अट्ठगुणा होति सिद्धाण । १ ।' इति गाथाकथितक्रमेण तेषामष्टकर्मरहितानामष्टगुणा कथ्यन्ते । तथाहि—केवलज्ञानादिगुणास्पदनिजशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व यत्पूर्वं तपश्चरणावस्थाया भावित तस्य फलभूत समस्तजीवादितत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशरहि-

---

अव निम्नलिखित गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धो के स्वरूप का और उत्तरार्द्ध द्वारा उनके ऊर्ध्वगमन स्वभाव का कथन करते हैं —

गाथार्थ—सिद्ध भगवान ज्ञानावरणादि आठ कर्मो से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणो के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं और (ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण) लोक के अग्रभाग मे स्थित है नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से युक्त है ॥ १४ ॥

वृत्त्यर्थ — 'सिद्धा" सिद्ध होते हैं, इस रीति से यहा "भवन्ति" इस क्रिया का अध्याहार करना चाहिये । सिद्ध किन विशेषणो से विशिष्ट होते हैं ? "णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो" कर्मों से रहित, आठ गुणो से सहित और अन्तिम शरीर से कुछ छोटे ऐसे सिद्ध हैं । इस प्रकार सूत्र के पूर्वार्द्ध द्वारा सिद्धो का स्वरूप कहा । अव उनका ऊर्ध्वगमन स्वभाव कहते हैं । "लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं सजुत्ता" वे सिद्ध लोक के अग्रभाग मे स्थित है, नित्य हैं तथा उत्पाद, व्यय से संयुक्त हैं । अव विस्तार से इसकी व्याख्या करते हैं —कर्म शत्रुओ के विध्वंसक अपने शुद्ध आत्मसंवेदन के बल के द्वारा ज्ञानावरण आदि समस्त मूल व उत्तर कर्म प्रकृतियों के विनाश करने से आठो कर्मो से रहित सिद्ध होते हैं । तथा "सम्यक्त्व, ज्ञान दर्शन वीर्य, सूक्ष्म, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धो के होते हैं । १ ।" इस गाथा मे कहे क्रम से आठ कर्म रहित सिद्धो के आठ गुण कहे जाते हैं । केवल ज्ञान आदि गुणो का आश्रयभूत निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, इस प्रकार की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व जो कि पहले तपश्चरण की अवस्था मे भावित किया था उसके फलस्वरूप समस्त जीव आदि तत्त्वो के

तपरिणतिरूपं परमक्षायिकसम्यक्त्व भण्यते । पूर्व छद्मस्थावस्थायां भावितस्य निर्विकारस्व-सवेदनज्ञानस्य फलभूत युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतविशेषपरिच्छेदकं केवलज्ञानम् । निर्विकल्पस्वशुद्धात्मसत्तावलोकनरूपं यत्पूर्व दर्शन भावित तस्यैव फलभूत युगपल्लोकालोकसमस्तवस्तुगतसामान्यग्राहकं केवलदर्शनम् । कस्मिंश्चित्स्वरूपचलनकारणे जाते सति घोरपरीषहोपसर्गादौ निजनिरञ्जनपरमात्मध्याने पूर्व यत् धैर्यमवलम्बितं तस्यैव फलभूत-मनन्तपदार्थपरिच्छित्तिविषये खेदरहितत्वमनन्तवीर्यम् । सूक्ष्मातीन्द्रियकेवलज्ञानविषयत्वा-त्सिद्धस्वरूपस्य सूक्ष्मत्वं भण्यते । एकदीपप्रकाशे नानादीपप्रकाशवदेकसिद्धक्षेत्रे सङ्करव्यतिकरदोषपरिहारेणानन्तसिद्धावकाशदानसामर्थ्यमवगाहनगुणो भण्यते । यदि सर्वथागुरुत्व भवति तदा लोहपिण्डवदध पतनं, यदि च सर्वथा लघुत्व भवति तदा वाताहतार्कतूलवत्सर्वदैव भ्रमणमेव स्यान्न च तथा तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते । सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसवेदन कृत पूर्व तस्यैव फलभूतमव्याबाधमनन्तसुख भण्यते । इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टक भणितम् । विस्तररुचिशिष्य प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्व, निरिन्द्रियत्व निष्कायत्व, निर्योगत्वं, निर्वेदत्व, निष्कषायत्व, निर्नामत्व, निर्गोत्रत्व निरायुषत्व मित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिस-

---

विषय मे विपरीत अभिनिवेश [विरुद्ध अभिप्राय] मे रहित परिणामरूप परम क्षायिक "सम्यक्त्व" गुण सिद्धो के कहा गया है। पहले छद्मस्थ [अल्पज्ञ] अवस्था मे भावना किये हुए निर्विकार स्वानुभवरूप ज्ञान के फलस्वरूप एक ही समय मे लोक तथा अलोक के सम्पूर्ण पदार्थो मे प्राप्त हुए विशेषो को जानने वाला "केवल ज्ञान" गुण है । समस्त विकल्पो से रहित अपनी शुद्ध आत्मा की सत्ता का अवलोकन रूप जो दर्शन पहले भावित किया था उसी दर्शन के फलरूप एक काल मे लोक अलोक के सपूर्ण पदार्थो के सामान्य को ग्रहण करने वाला "केवलदर्शन" गुण है । आत्मध्यान से विचलित करनेवाले किसी अतिघोर परिषह तथा उपसर्ग आदि के आने के समय जो पहले अपने निरजन परमात्मा के ध्यान मे धैर्य का अवलम्बन किया उसी के फलरूप अनन्त पदार्थो के जानने मे खेद के अभावरूप "अनन्तवीर्य" गुण है । सूक्ष्मअतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने के कारण सिद्धो के स्वरूपको 'सूक्ष्मत्व' कहते हैं । यह पाचवा गुण है । एक दीप के प्रकाश मे जैसे अनेक दीपो का प्रकाश समा जाता है उसी तरह एक सिद्ध के क्षेत्र मे संकर तथा व्यतिकर दोष से रहित जो अनन्त सिद्धो को अवकाश देने की सामर्थ्य है वह "अवगाहन" गुण है । यदि सिद्धस्वरूप सर्वथा गुरु [भारी] हो तो लोहे के गोले के समान वह नीचे पडा रहेगा और यदि सर्वथा लघु (हलका) हो तो वायुसे प्रेरित आक की रुई की तरह वह सदा इधर उधर घूमता रहेगा, किन्तु सिद्धो का स्वरूप ऐसा नही है इस कारण उनके "अगुरुलघु" गुण कहा जाता है । स्वाभाविक शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से तथा राग आदि विभावो से रहित सुखरूपी अमृत का जो एकदेश अनुभव पहले किया था उसी के फलस्वरूप अव्याबाधरूप "अनन्त सुख" गुण सिद्धो मे कहा गया है । इस प्रकार सम्यक्त्व आदि आठ गुण मध्यमरुचि वाले शिष्यो के लिये हैं । विस्ताररुचि

मान्यगुणा स्यागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः। संक्षेपरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विवक्षिताभेदनयेनानन्तज्ञानादिचतुष्टयम्, अनन्तज्ञानदर्शनसुखत्रयं, केवलज्ञानदर्शनद्वयं, साक्षादभेदनयेन शुद्धचैतन्यमेवैको गुण इति। पुनरपि कथंभूताः सिद्धाः ? चरमशरीरात् किञ्चिदूना भवन्ति। तत् किञ्चिदूनत्वं शरीरोपाङ्गजनितनासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति यस्मिन्नेव क्षणे सयोगिचरमसमये त्रिंशत्प्रकृति-उदयविच्छेदमध्ये शरीरोपाङ्गनामकर्मविच्छेदो जातस्तस्मिन्नेव क्षणे जातमिति ज्ञातव्यम्। कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति ? तत्र परिहारमाह—प्रदीपसंबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं, जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति यस्तु प्रदेशानां संबन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति। कस्मादिति चेत्, पूर्वं लोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव। तन्न, किन्तु पूर्वमेवानादिसन्तानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव, न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति। अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्र

वाले शिष्य के प्रति विशेष भेद नय के अवलम्बन से गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहितता, नामरहितता, गोत्ररहितता तथा आयुरहितता आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्य गुण इस तरह जैनागम के अनुसार अनन्त गुण जानने चाहियें। और संक्षेपरुचि शिष्य के लिये विवक्षित अभेद नयकी अपेक्षा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चार गुण अथवा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुखरूप तीन गुण अथवा केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो गुण हैं। और साक्षात् अभेदनय से एक शुद्ध चैतन्य गुण ही सिद्धों का है। पुन वे सिद्ध कैसे होते हैं ? चरम [अन्तिम] शरीर से कुछ छोटे होते हैं। वह जो किंचित्—ऊनता है सो शरीरोपाङ्गसे उत्पन्न नासिका आदि छिद्रों के अपूर्ण [खाली स्थान] होने से जिस समय सयोगी गुणस्थान के अन्त समय में तीस प्रकृतियों के उदय का नाश हुआ उनमें शरीरोपाङ्ग कर्म का भी विच्छेद हो गया, अतः उसी समय किंचित् ऊनता हुई है। ऐसा जानना चाहिए।

कोई शंका करता है कि जैसे दीपक को ढकने वाले पात्र आदि के हटा लेने पर उस दीपक के प्रकाश का विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देह का अभाव हो जाने पर सिद्धों की आत्मा भी फैलकर लोकप्रमाण होनी चाहिए ? इस शंका का उत्तर यह है—दीपक के प्रकाश का जो विस्तार है, वह तो पहले ही स्वभाव से दीपक में रहता है, पीछे उस दीपक के आवरण से संकुचित होता है। किन्तु जीव का लोक प्रमाण असंख्यात-प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशों का लोकप्रमाण-विस्तार स्वभाव नहीं है।

यदि यों कहो कि जीव के प्रदेश पहले लोक के बराबर फैले हुए, आवरणरहित रहते हैं फिर जैसे प्रदीप के आवरण होता है उसी तरह जीवप्रदेशों के भी आवरण हुआ है ? ऐसा नहीं है। किन्तु

पुरुषेण मुष्टौ बद्ध तिष्ठति पुरुषाभावे सङ्कोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्र मृन्मयभाजन वा शुष्क सज्जलाभावे सति, तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसकोचौ न करोति । यत्रैव मुक्तस्तत्रैव तिष्ठतीति ये केचन वदन्ति, तन्निषेधार्थ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्वन्धच्छेदात्तथा गतिपरिणामात् चेति हेतुचतुष्टयेन तथैवाविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाम्बुवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्चेति दृष्टान्तचतुष्टयेन च स्वभावोर्द्ध्वगमन ज्ञातव्य, तच्च लोकाग्रपर्यन्तमेव, न च परतो धर्मास्तिकायाभावादिति । 'नित्या' इति विशेषण तु, मुक्तात्मना कल्पशतप्रमितकाले गते जगति शून्ये जाते सति पुनरागमन भवतीति सदाशिववादिनो वदन्ति, तन्निषेधार्थ विज्ञेयम् । 'उत्पादव्ययसयुक्तत्व' विशेषण, सर्वथैवापरिणामित्वनिषेधार्थमिति । किञ्च विशेष निश्चलाविनश्वरशुद्धात्मस्वरूपाद्भिन्न सिद्धाना नारकादिगतिषु भ्रमण नास्ति कथमुत्पादव्ययत्वमिति ? तत्र परिहार —आगमकथितागुरुलघुषट्स्थानपतितहानिवृद्धिरूपेण येऽर्थपर्यायास्तदपेक्षया अथवा येन येनोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण प्रतिक्षण ज्ञेयपदार्था परिणमन्ति तत्परिच्छित्त्याकारेणानीहितवृत्त्या सिद्धज्ञानमपि

जीव के प्रदेश तो पहले अनादिकाल से सन्तानरूप चले आये हुये शरीर के आवरण सहित ही रहते है । इस कारण जीवके प्रदेशो का सहार नही होता, तथा विस्तार व सहार शरीर नामक नामकर्म के अधीन ही है, जीवका स्वभाव नही है। इस कारण जीव के शरीर का अभाव होनेपर प्रदेशो का विस्तार नही होता । इस विषय मे और भी उदाहरण देते है कि जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी के भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र बधा (भिचा) हुआ है, अब वह वस्त्र, मुट्ठी खोल देने पर पुरुष के अभाव मे सकोच तथा विस्तार नही करता, जैसा उस पुरुष ने छोडा वैसा ही रहता है । अथवा गीली मिट्टीका बर्तन बनते समय तो सकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता जाता है, किन्तु जब वह सूख जाता है तब जलका अभाव होने से संकोच व विस्तार को प्राप्त नही होता । इसी तरह मुक्त जीव भी, पुरुष के स्थानभूत अथवा जल के स्थानभूत शरीर के अभाव मे, संकोच विस्तार नही करता ।

कोई कहते है कि "जीव जिस स्थान मे कर्मो से मुक्त हो जाता है वहा ही रहता है, इसके निषेध के लिये कहते है कि पूर्व प्रयोग से, असंग होने से, बध का नाश होने से तथा गति के परिणाम से, इन चार हेतुओ से तथा घूमते हुए कुम्हार के चाक के समान, मिट्टी के लेप से रहित तुम्बी के समान एरंड के बीज के समान तथा अग्नि की शिखा के समान, इन चार दृष्टान्तो से जीव के स्वभाव मे ऊर्ध्व [ऊपर को] गमन समझना चाहिये । वह ऊर्ध्वगमन लोक के अग्रभाग तक ही होता है उससे आगे नही होता, क्योकि उसके आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है ।

सिद्ध नित्य है । यहा जो नित्य विशेषण है सो सदाशिववादी जो यह कहते हैं कि "१०० कल्प प्रमाण समय बीत जाने पर जब जगत् शून्य हो जाता है तब फिर उन मुक्त जीवो का ससार मे आगमन होता है ।" इस मत का निषेध करने के लिये है, ऐसा जानना चाहिये ।

उत्पाद, व्यय—सयुक्तपना जो सिद्धो का विशेषण है, वह सर्वथा अपरिणामिता के निषेध के

परिणमति तेन कारणेनोत्पादव्ययत्वम्, अथवा व्यञ्जनपर्यायापेक्षया ससारपर्यायविनाश सिद्धपर्यायोत्पाद, शुद्धजीवद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति। एव नयविभागेन नवाधिकारैर्जीवद्रव्य ज्ञातव्यम् अथवा तदेव बहिरात्मान्तरात्मपरमात्मभेदेन त्रिधा भवति। तद्यथा—स्वशुद्धात्म-संवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा, तद्विलक्षणोऽन्त-रात्मा। अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वे-कत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा, तस्मात्प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा। अथवा हेयोपादेयविचार-कचित्त, निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषा, शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा, इत्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभा-गेन श्रद्धान ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा, तस्माद्विसदृशोऽन्तरात्मेति रूपेण बहिरात्मान्त-रात्मनोर्लक्षण ज्ञातव्यम्। परमात्मलक्षण कथ्यते—सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोक जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धा-त्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मच-र्यव्रत न खण्डित स परमब्रह्म भण्यते। केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिण सन्तो यस्याज्ञा कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। केवलज्ञानशब्दवाच्य

लिये है। यहा पर यदि कोई शंका करे—कि सिद्ध निरन्तर निश्चल अविनश्वर शुद्ध आत्म-स्वरूप से भिन्न नरक आदि गतियो मे भ्रमण नही करते है इसलिये सिद्धो मे उत्पाद व्यय कैसे हो? इसका परि-हार यह है—कि आगम मे कहे गये अगुरुलघु गुण के षट्-हानि वृद्धि रूप से अर्थ पर्याय होती हैं, उनकी अपेक्षा सिद्धो मे उत्पाद व्यय हैं। अथवा ज्ञेय पदार्थ अपने जिस-जिस उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप से प्रति समय परिणमते है उनके आकार से निरिच्छुक वृत्ति से सिद्धो का ज्ञान भी परिणमता है इस कारण भी उत्पाद व्यय सिद्धो मे घटित होता है। अथवा सिद्धो मे व्यजन पर्याय की अपेक्षा से ससार पर्याय का नाश और सिद्ध पर्याय का उत्पाद तथा शुद्ध जीव द्रव्य पने से ध्रौव्य है। इस प्रकार नयविभाग से नौ अधिकारो द्वारा जीव द्रव्य का स्वरूप समझना चाहिये।

अथवा वही जीव बहिरात्मा तथा परमात्मा इन भेदो से तीन प्रकार का भी होता है। निज शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ सुख से विरुद्ध इन्द्रिय सुख मे आसक्त बहिरात्मा है, उससे विल-क्षण अन्तरात्मा है। अथवा देहरहित निज शुद्ध आत्म द्रव्य की भावना रूप भेद-विज्ञान से रहित होने के कारण देह आदि पर द्रव्यो मे जो एकत्व भावना से परिणत है [देह को ही आत्मा समझने वाला] बहिरात्मा है। बहिरात्मा से विरुद्ध [निज शुद्ध आत्मा को आत्मा जानने वाला] अन्तरात्मा है। अथवा हेय उपादेय का विचार करने वाला जो "चित्त" तथा निर्दोष परमात्मा से भिन्न राग आदि "दोष" और शुद्ध चैतन्य लक्षण का धारक 'आत्मा' इस प्रकार उक्त लक्षण वाले चित्त, दोष, आत्मा इन तीनो मे अथवा वीतराग सर्वज्ञकथित अन्य पदार्थो मे जिसके परस्पर सापेक्ष नयो द्वारा श्रद्धान और ज्ञान नही है वह बहिरात्मा है और उस बहिरात्मा से भिन्न अन्तरात्मा है। ऐसा बहिरात्मा, अन्तरात्मा का लक्षण समझना चाहिए।

गत ज्ञान यस्य स सुगत, अथवा शोभनमविनश्वर मुक्तिपद गत सुगत । "शिव परमकल्याण निर्वाण १ज्ञानमक्षयम् । प्राप्त मुक्तिपद येन स शिव परिकीर्त्तित ॥ १ ॥" इति श्लोककथितलक्षण शिव । कामक्रोधादिदोपजयेनानन्तज्ञानादिगुणसहितो जिन । इत्यादिपरमागमकथिताष्टोत्तरसहस्रसख्यनामवाच्य परमात्मा ज्ञातव्य । एवमेतेषु त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे वहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वय शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च । अभव्यजीवे पुनर्वहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वय शक्तिरूपेणैव, न च भाविनैगमनयेनेति । यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् ? परमात्मशक्ते केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्व, शक्ति पुन शुद्धनयेनोभयत्र समाना । यदि पुन शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञान नास्ति तदा केवलज्ञानावरण न घटते । भव्याभव्यद्वय पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थ । एव यथा मिथ्यादृष्टिसज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रय तथा शेपगुणस्थानेष्वपि । तद्यथा–बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वय शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च

अब परमात्मा का लक्षण कहते हैं—क्योकि पूर्णनिर्मल केवलज्ञान द्वारा सर्वज्ञ समस्त लोकालोक को जानता है या अपने ज्ञान द्वारा लोकालोक मे व्याप्त होता है, इस कारण वह परमात्मा 'विष्णु' कहा जाता है । परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत से तृप्त होने के कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रभा आदि देवकन्याओ द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खडित न हो सका अत वह 'परम ब्रह्म' कहलाता है । केवलज्ञान आदि गुणरूपी ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञापालन करते हैं, अत वह परमात्मा "ईश्वर" होता है । केवलज्ञान शब्द से वाच्य 'सु' उत्तम 'गत' यानी ज्ञान जिसका वह "सुगत" है । अथवा शोभायमान अविनश्वर मुक्ति पद को प्राप्त हुआ सो "सुगत" है । तथा "शिव यानी परम कल्याण, निर्वाण एव अक्षय ज्ञानरूप मुक्तपद को जिसने प्राप्त किया वह शिव कहलाता है । १ ।" इस श्लोक मे कहे गये लक्षण का धारक होने के कारण वह परमात्मा शिव है । अनन्त ज्ञान आदि गुणो का धारक काम क्रोध आदि जीतने से 'जिन' कहलाता है । इत्यादि परमागम मे कहे हुए एक हजार आठ नामो से कहे जाने योग्य जो है, उसको परमात्मा जानना चाहिये ।

इस प्रकार ऊपर कहे गये इन तीनो आत्माओ मे जो मिथ्या–दृष्टि भव्य जीव है उसमे केवल बहिरात्मा तो व्यक्ति-रूप से रहता है । और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनो शक्तिरूप से रहते हैं भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्ति रूप से भी रहते हैं । मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव मे बहिरात्मा व्यक्ति रूप से और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनो शक्तिरूप से ही रहते हैं, भावी नैगमनय की अपेक्षा अभव्य मे अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्ति रूप से नही रहते । कदाचित् कोई कहे कि यदि अभव्य जीव मे परमात्मा शक्ति रूप से रहता है तो उसमे अभव्यत्व कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि अभव्य जीव मे पर-

---

१ 'शांतम' इति पाठान्तरम् ।

विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थाया तु बहिरात्मा भूतपूर्वनयेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च । परमात्मावस्थाया पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति । अथ त्रिधात्मान गुणस्थानेषु योजयति । मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्य, अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्ट, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यम., सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृश परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात्परमात्मेति । अत्र बहिरात्मा हेय, उपादेयभूतस्यानन्तसुखसाधकत्वादन्तरात्मोपादेय, परमात्मा पुन साक्षादुपादेय इत्यभिप्राय । एव षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकप्रथमाधिकारमध्ये नमस्कारादिचतुर्दशगाथाभिर्नवभिरन्तरस्थलैर्जीवद्रव्यकथनरूपेण प्रथमोऽन्तराधिकार समाप्तः ॥ १४ ॥

अत पर यद्यपि शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मद्रव्यमुपादेय भवति तथापि हेयरूपस्याजीवद्रव्यस्य गाथाष्टकेन व्याख्यान करोति । कस्मादिति चेत् ? हेयतत्त्वपरिज्ञाने सति पश्चादुपादेयस्वीकारो भवतीति हेतो । तद्यथा—

मात्माशक्ति की केवल ज्ञान आदि रूपसे व्यक्ति न होगी इसलिये उसमे अभव्यत्व है, शुद्ध नय की अपेक्षा परमात्मा की शक्ति तो मिथ्या दृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनो मे समान है। यदि अभव्य जीव मे शक्ति रूप से भी केवल ज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नही हो सकता । साराश यह है कि भव्य, अभव्य ये दोनो अशुद्ध नय से हैं। इस प्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मे नय विभाग से तीनो आत्माओ को बतलाया उसी प्रकार शेष तेरह गुण स्थानो मे भी घटित करना चाहिये । इस प्रकार बहिरात्मा की दशा मे अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनो शक्ति रूप से रहते है और भावी नैगमनय से व्यक्ति रूप से भी रहते है ऐसा समझना चाहिये । अन्तरात्मा की अवस्था मे बहिरात्मा भूतपूर्व नय से घृत के घट के समान और परमात्मा का स्वरूप शक्ति रूप से तथा भावी नैगमनय की अपेक्षा व्यक्ति रूप से जानना चाहिये । परमात्म अवस्था मे अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्व नय की अपेक्षा जानने चाहिये । अब तीनो तरह के आत्माओ को गुण स्थानो मे योजित करते है—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीनो गुणस्थानो मे तारतम्य न्यूनाधिक भाव से बहिरात्मा जानना चाहिए, अविरत गुण स्थान मे उसके योग्य अशुभ लेश्या से परिणत जघन्य अन्तरात्मा है और क्षीणकषाय गुणस्थान मे उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। अविरत और क्षीणकषाय गुण स्थानो के बीच मे जो सात गुणस्थान हैं उनमे मध्यम-अन्तरात्मा है। सयोगी और अयोगी इन दोनो गुणस्थानो मे विवक्षित एक देश शुद्ध नय की अपेक्षा सिद्ध के समान परमात्मा है और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा है ही। यहा बहिरात्मा तो हेय है और उपादेयभूत (परमात्मा) के अनन्त सुखका साधक होने से अन्तरात्मा उपादेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार छह द्रव्य और पच अस्तिकाय के प्रतिपादन करने वाले प्रथम अधिकार मे नमस्कार गाथा आदि चौदह गाथाओ द्वारा ९ मध्य स्थलो द्वारा जीव द्रव्य के कथनरूप प्रथम अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयास ।
कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु (हु) ॥ १५ ॥

अजीव: पुनः ज्ञेय पुद्गल: धर्म: अधर्म: आकाशम् ।
कालः पुद्गलः मूर्त्तः रूपादिगुण: अमूर्त्ताः शेषा: तु ॥ १५ ॥

व्याख्या—"अज्जीवो पुण णेओ" अजीव पुनर्ज्ञेय. । सकलविमलकेवलज्ञानदर्शन-द्वय शुद्धोपयोग, मतिज्ञानादि पो विकलोऽशुद्धोपयोग इति द्विविधोपयोग, अव्यक्तसुखदु खा-नुभवनरूपा कर्मफलचेतना, तथैव मतिज्ञानादिमन पर्ययपर्यन्तमशुद्धोपयोग इति, स्वेहापूर्वे-ष्टानिष्टविकल्परूपेण विशेपरागद्वेपपरिणमन कर्मचेतना, केवलज्ञानरूपा शुद्धचेतना इत्यु-क्तलक्षणोपयोगश्चेतना च यत्र नास्ति स भवत्यजीव इति विज्ञेय । 'पुण' पुन पश्चाज्जी-वाधिकारानन्तर । "पुग्गलधम्मो अधम्म आयास कालो" स च पुद्गलधर्माधर्माकाशकाल-द्रव्यभेदन पञ्चधा । पूरणगलनस्वभावत्वात्पुद्गल इत्युच्यते । गतिस्थित्यवगाहवर्त्तनाल-क्षणा धर्माधर्माकाशकाला, "पुग्गल मुत्तो" पुद्गलो मूर्त्त । कस्मात् "रूवादिगुणो" रूपा-दिगुणसहितो यत । "अमुत्ति सेसा हु" रूपादिगुणाभावादमूर्त्ता भवन्ति पुद्गलाच्छेपाश्च-

---

उसके पश्चात् यद्यपि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा द्रव्य ही उपादेय है तो भी हेय रूप अजीव द्रव्य का आठ गाथाओ द्वारा निरूपण करते है। क्यो करते हो ? क्योकि पहले हेयतत्त्व का ज्ञान होने पर फिर उपादेय पदार्थ स्वीकार होता हे। अजीव द्रव्य इस प्रकार है—

गाथार्थः—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये अजीवद्रव्य जानने चाहिये। इनमे रूप आदि गुणो का धारक पुद्गल मूर्त्तिमान् है और शेप चारो द्रव्य अमूर्त्तिक हैं ॥ १५ ॥

वृत्त्यर्थः—"अज्जीवो पुण णेओ" अजीव पदार्थ जानना चाहिये। पूर्ण व निर्मल केवल ज्ञान, केवल दर्शन ये दोनो शुद्ध उपयोग हैं और मति ज्ञान आदि रूप विकल अशुद्ध उपयोग है, इस तरह उप-योग दो प्रकार का है। अव्यक्त सुखदु खानुभव स्वरूप "कर्मफलचेतना" है। तथा मतिज्ञान आदि मन -पर्यय तक चारो ज्ञान रूप अशुद्ध उपयोग है। निज चेष्टा पूर्वक इष्ट, अनिष्ट विकल्प रूप से विशेप राग-द्वेप रूप परिणाम "कर्मचेतना" है। केवल ज्ञान रूप "शुद्ध चेतना" है। इस तरह पूर्वोक्त लक्षण वाला उपयोग तथा चेतना ये जिसमे नही है वह "अजीव" है ऐसा जानना चाहिये। "पुण" जीव अधि-कार के पश्चात् अजीव अधिकार है। "पुग्गल धम्मो अधम्म आयास कालो" वह अजीव पुद्गल धर्म अधर्म, आकाश और काल द्रव्य के भेद से पाच प्रकार का है। पूरण तथा गलन स्वभाव सहित होने से पुद्गल कहा जाता है (पूरने और गलने के स्वभाव वाला पुद्गल है)। क्रम से गति, स्थिति, अवगाह और वर्त्तना लक्षण वाले धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारो द्रव्य है। (गति मे सहायक धर्म, ठहरने मे सहायक अधर्म, अवगाह देने वाला आकाश, वर्त्तना लक्षण वाला काल द्रव्य है) 'पुग्गल मुत्तो' पुद्गल द्रव्य मूर्त्त है। क्योकि पुद्गल 'रूवादिगुणो' रूप आदि गुणो से सहित है। 'अमुत्ति सेसा दु' पुद्-

त्वार इति । तथाहि—यथा अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणचतुष्टयं सर्वजीवसाधारणं तथा रूपरसगन्धस्पर्शगुणचतुष्टय सर्वपुद्गलसाधारण, यथा च शुद्धबुद्धैकस्वभावसिद्धजीवे अनन्तचतुष्टयमतीन्द्रिय तथैव शुद्धपुद्गलपरमाणुद्रव्ये रूपादिचतुष्टयमतीन्द्रिय, यथा रागादिस्नेहगुणेन कर्मबन्धावस्थाया ज्ञानादिचतुष्टयस्याशुद्धत्वं तथा स्निग्धरूक्षत्वगुणेन द्व्यणुकादिबन्धवस्थाया रूपादिचतुष्टयस्याशुद्धत्व, यथा निःस्नेहनिजपरमात्मभावनाबलेन रागादिस्निग्धत्वविनाशे सत्यनतचतुष्टयस्य शुद्धत्व तथा जघन्यगुणाना बन्धो न भवतीति वचनात्परमाणुद्रव्ये स्निग्धरूक्षत्वगुणस्य जघन्यत्वे सति रूपादिचतुष्टयस्य शुद्धत्वमबोद्धव्यमित्यभिप्राय ॥ ५ ॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य विभावव्यञ्जनपर्यायान्प्रतिपादयति —

सद्दो बधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतमछाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

शब्दः बन्धः सूक्ष्मः स्थूलः सस्थानभेदतमश्छायाः ।
उद्योतातपसहिताः पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः ॥ १६ ॥

व्याख्या—शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतसहिता पुद्गलद्र-

---

गल के सिवाय शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारो द्रव्य रूप आदि गुणो के न होने से अमूर्तिक है। जैसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य ये चारो गुण सब जीवो मे साधारण है, उसी प्रकार रूप, रस, गध, और स्पर्श पुद्गलो मे साधारण है। जिस प्रकार शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावधारी सिद्ध मे अनन्त चतुष्टय अतीन्द्रिय है, उसी प्रकार शुद्ध पुद्गल परमाणु मे रूप आदि चतुष्टय अतीन्द्रिय है। जिस तरह राग आदि स्नेह गुण से कर्मबन्ध की दशा मे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इन चारो गुणो की अशुद्धता है, उसी तरह स्निग्ध रूक्षत्व गुण से द्वि-अणुक आदि बध दशा मे रूप आदि चारो गुणो की अशुद्धता है। जैसे स्नेह रहित निज परमात्मा की भावना के बल से राग आदि स्निग्धता का विनाश हो जाने पर अनन्त चतुष्टय की शुद्धता है, उसी तरह "जघन्य गुणो का बन्ध नही होता है" इस वचन के अनुसार परमाणु मे स्निग्ध रूक्षत्व गुण की जघन्यता होने पर रूप आदि चारो गुणो की शुद्धता समझनी चाहिए' ऐसा अभिप्राय है ॥ १५ ॥

अब पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायो को वर्णन करते है —

गाथार्थः—शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, सस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप सहित सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय है ॥ १६ ॥

वृत्त्यर्थः—शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, भेद, तम, छाया आतप और उद्योत इन सहित पुद्गल द्रव्य की पर्याय होती है। अब इसको विस्तार से बतलाते है—भाषात्मक और अभाषात्मक ऐसे शब्द दो तरह का है। उनमे भाषात्मक शब्द अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक रूप से दो तरह का है। उनमे भी अक्षरात्मक भाषा, सस्कृत—प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओं

व्यस्य पर्याया भवन्ति । अथ विस्तर —भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च द्विविध शब्द । तत्राक्षरानक्षरात्मकभेदेन भाषात्मको द्विधा भवति । तत्राप्यक्षरात्मक संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा । अनक्षरात्मकस्तु द्वीन्द्रियादितिर्यग्जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च । अभाषात्मकोऽपि प्रायोगिकवैश्रसिकभेदेन द्विविध । "तत वीणादिक ज्ञेय वितत पटहादिकम् । घन तु कांस्यतालादि सुषिर वशादिक विदु ॥ १ ॥" इति श्लोककथितक्रमेण प्रयोगे भव प्रायोगिकश्चतुर्धा भवति । विश्रसा स्वभावेन भवो वैश्रसिको मेघादिप्रभवो बहुधा । किञ्च शब्दातीतनिजपरमात्मभावनाच्युतेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयासक्तेन च जीवेन यदुपार्जित सुस्वरदु स्वरनामकर्म तदुदयेन यद्यपि जीवे शब्दो दृश्यते तथापि स जीवसयोगेनोत्पन्नत्वाद् व्यवहारेण जीवशब्दो भण्यते, निश्चयेन पुन पुद्गलस्वरूप एवेति । बन्ध कथ्यते—मृत्पिण्डादिरूपेण योऽसौ बहुधा बध स केवल पुद्गलबन्ध, यस्तु कर्मनोकर्मरूप स जीवपुद्गलसयोगबध । किञ्च विशेष —कर्मबधपृथग्भूतस्वशुद्धात्मभावनारहितजीवस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यबध, तथैवाशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्ध कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबध एव । बिल्वाद्यपेक्षया बदरादीना सूक्ष्मत्व, परमाणो साक्षादिति, बदराद्यपेक्षया बिल्वादीना स्थूलत्व, जगद्व्यापिनि महास्कधे सर्वोत्कृष्टमिति । समचतुरस्रन्यग्रोधसातिककुब्जवामनहुण्डभेदेन

के भेद से आर्य व म्लेक्ष मनुष्यो के व्यवहार के कारण अनेक प्रकार की है । अनक्षरात्मक भाषा द्वीन्द्रिय आदि तिर्यच जीवो मे तथा सर्वज्ञ की दिव्य ध्वनि मे है । अभाषात्मक शब्द भी प्रायोगिक और वैश्रसिक के भेद से दो तरह का है । उनमे "वीणा आदि के शब्द का तत, ढोल आदि के शब्द को वितत, मजीरे तथा ताल आदि के शब्द को घन और वसी आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं । १ ।" इस श्लोक मे कहे हुए क्रम से प्रायोगिक (प्रयोग से पैदा होने वाला) शब्द चार तरह का है, "विश्रसा" अर्थात् स्वभाव से होने वाला वैश्रसिक शब्द बादल आदि से होता है वह अनेक तरह का है । विशेष—शब्द से रहित निज परमात्मा की भावना से छूटे हुए तथा शब्द आदि मनोज्ञअमनोज्ञ पच इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त जीव ने जो सुस्वर तथा दु स्वर नाम कर्म का बध किया उस कर्म के उदय के अनुसार यद्यपि जीव मे शब्द दिखता है तो भी वह शब्द जीव के सयोग से उत्पन्न होने के निमित्ति से व्यवहार नय की अपेक्षा 'जीव का शब्द' कहा जाता है, किन्तु निश्चय नय से तो वह शब्द पुद्गल मयी ही है । अब बध को कहते है—मिट्टी आदि के पिंड रूप जो बहुत प्रकार का बध है वह तो केवल पुद्गल बध है । जो कर्म, नोकर्म रूप बध है वह जीव और पुद्गल के सयोग से होनेवाला बध है । विशेष यह है— कर्मबन्ध से भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा की भावना से रहित जीव के अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य बध है और उसी तरह अशुद्ध निश्चय नय से जो वह रागादिक रूप भावबन्ध कहा जाता है, यह भी शुद्ध निश्चय नय से पुद्गल का ही बन्ध है । बेल आदि की अपेक्षा बेर आदि फलो मे सूक्ष्मता है और परमाणु मे [साक्षात् सूक्ष्मता है [परमाणु की सूक्ष्मता किसी की अपेक्षा से नही है] । बेर आदि की अपेक्षा बेल

षट्प्रकारसंस्थानं यद्यपि व्यवहारनयेन जीवस्यास्ति तथाप्यसंस्थानाच्चिच्चमत्कारपरिणतेर्भिन्नत्वान्निश्चयेन पुद्गलसंस्थानमेव, यदपि जीवादन्यत्र वृत्तत्रिकोणचतुष्कोणादिव्यक्ताव्यक्तरूपं बहुधा संस्थानं तदपि पुद्गल एव । गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः । दृष्टिप्रतिबंधकोऽन्धकारस्तम इति भण्यते । वृक्षाद्याश्रयरूपा मनुष्यादिप्रतिबिम्बरूपा च छाया विज्ञेया । उद्योतश्चन्द्रविमाने खद्योतादितिर्यग्जीवेषु च भवति । आतप आदित्यविमाने अन्यत्रापि सूर्यकांतमणिविशेषादौ पृथ्वीकाये ज्ञातव्यः । अयमत्रार्थः—यथा जीवस्य शुद्धनिश्चयेन स्वात्मोपलब्धिलक्षणे सिद्धस्वरूपे स्वभावव्यञ्जनपर्याये विद्यमानेऽप्यनादिकर्मबंधवशात् स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषपरिणामे सति स्वाभाविकपरमानंदैकलक्षणस्वास्थ्यभावभ्रष्टः नरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्याया भवन्ति तथा पुद्गलस्यापि निश्चयनयेन शुद्धपरमाण्वावस्थालक्षणे स्वभावव्यञ्जनपर्याये सत्यपि स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधो भवतीति वचनाद्रागद्वेषस्थानीयबंधयोग्यस्निग्धरूक्षत्वपरिणामे सत्युक्तलक्षणाच्छब्दादन्येऽपि आगमोक्तलक्षणाकुञ्चनप्रसारणदधिदुग्धादयो विभावव्यञ्जनपर्याया ज्ञातव्याः । एवमजीवाधिकारमध्ये पूर्वसूत्रोदितरूपादिगुणचतुष्टययुक्तस्य तथैवात्र सूत्रोदितशब्दादिपर्यायसहितस्य संक्षेपेणाणुस्कंधभेदभिन्नस्य पुद्गलद्रव्यस्य व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम् ॥ १६ ॥

आदि में स्थूलता [बड़ापन] है, तीन लोक में व्याप्त महास्कन्ध में सबसे अधिक स्थूलता है । समचतुरस्र, न्यग्रोध, सातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक ये ६ प्रकार के संस्थान व्यवहार नय से जीव के होते हैं । किन्तु संस्थान शून्य चेतन चमत्कार परिणाम से भिन्न होने के कारण निश्चय नय की अपेक्षा संस्थान पुद्गल का ही होता है जो जीव से भिन्न गोल, त्रिकोन, चौकोर आदि प्रगट अप्रगट अनेक प्रकार के संस्थान हैं, वे भी पुद्गल के ही हैं । गेहूं आदि के चून रूप से तथा घी, खांड आदि रूप से अनेक प्रकार का 'भेद' [खंड] जानना चाहिये । दृष्टि को रोकने वाला अन्धकार है उसको "तम" कहते हैं । पेड़ आदि के आश्रय से होने वाली तथा मनुष्य आदि की परछांई रूप जो है उसे 'छाया' जानना चाहिये चन्द्रमा के विमान में तथा जुगनू आदि तिर्यञ्च जीवों में उद्योत" होता है । सूर्य के विमान में तथा अन्यत्र भी सूर्यकांत विशेष मणि आदि पृथ्वीकाय में "आतप" जानना चाहिये । सारांश यह है कि जिस प्रकार शुद्धनिश्चयनय से जीव के निज-आत्मा की उपलब्धिरूप सिद्ध-स्वरूप में स्वभावव्यञ्जन पर्याय विद्यमान हैं फिर भी अनादि कर्मबंधन के कारण पुद्गल के स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के स्थानभूत राग द्वेष परिणाम होने पर स्वाभाविक—परमानन्दरूप एक स्वास्थ्य भाव से भ्रष्ट हुए जीव के मनुष्य, नारक आदि विभाव—व्यंजन—पर्याय होते हैं, उसी तरह पुद्गल में निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध परमाणु दशारूप स्वभाव—व्यञ्जन—पर्याय के विद्यमान होते हुए भी "स्निग्ध तथा रूक्षता से बन्ध होता है ।" इस वचन से राग और द्वेष के स्थानीय बंध योग्य स्निग्ध तथा रूक्ष परिणाम के होने पर पहले बतलाये गये शब्द आदि के सिवाय अन्य भी शास्त्रोक्त सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध आदि विभाव—व्यञ्जन—पर्याय जाननी चाहिये ।

इस प्रकार अजीव अधिकार में "अज्जीवो" आदि पूर्व गाथा में कहे गये रूप—रसादि चारों

अथ धर्मद्रव्यमाख्याति –

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंताणेव सो णेई ।। १७ ।।

गतिपरिणतानां धर्मः पुद्गलजीवानां गमनसहकारी ।
तोयं यथा मत्स्यानां अगच्छतां नैव सः नयति ।। १७ ।।

व्याख्या–गतिपरिणतानां धर्मो जीवपुद्गलानां गमनसहकारिकारणं भवति । दृष्टान्तमाह–तोयं यथा मत्स्यानाम् । स्वयं तिष्ठतो नैव स नयति तानिति । तथाहि–यथा सिद्धो भगवानमूर्तोऽपि निष्क्रियस्तथैवाप्रेरकोऽपि सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादिव्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्तियुक्तानां निश्चयेन निर्विकल्पसमाधिरूपस्वकीयोपादानकारणपरिणतानां भव्यानां सिद्धगतेः सहकारिकारणं भवति । तथा निष्क्रियोऽमूर्तो निष्प्रेरकोऽपि धर्मास्तिकायः स्वकीयोपादानकारणेन गच्छतां जीवपुद्गलानां गतेः सहकारिकारणं भवति । लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन तु मत्स्यादीनां जलादिवदित्यभिप्रायः । एवं धर्मद्रव्यव्याख्यानरूपेण गाथा गता ।। १७ ।।

अथाधर्मद्रव्यमुपदिशति —

गुणों से युक्त तथा यहां गाथा में कथित शब्द आदि पर्याय सहित अणु, स्कन्ध आदि पुद्गल द्रव्य का संक्षेप से निरूपण करने वाली दो गाथायें समाप्त हुई ।। १६ ।।

अब धर्मद्रव्य को कहते हैं —

गाथार्थः—गमन में परिणत पुद्गल और जीवोंको गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है–जैसे मछलियों को गमन में जल सहकारी है । गमन न करते हुए (ठहरे हुए] पुद्गल व जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता ।। १७ ।।

वृत्त्यर्थ —चलते हुए जीव तथा पुद्गलों को चलने में सहकारी धर्मद्रव्य होता है । इसका दृष्टांत यह है कि जैसे मछलियों के गमन में सहायक जल है । परन्तु स्वयं ठहरे हुए जीव पुद्गलों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता । तथैव, जैसे सिद्ध भगवान् अमूर्त्त है, क्रिया रहित हैं तथा किसी को प्रेरणा भी नहीं करते, तो भी "मैं सिद्ध के समान अनन्त ज्ञानादि गुणरूप हूं" इत्यादि व्यवहार से सविकल्प सिद्धभक्ति के धारक और निश्चय से निर्विकल्पक ध्यानरूप अपने उपादान कारण से परिणत भव्यजीवों को वे सिद्ध भगवान सिद्धगति में सहकारी कारण होते हैं । ऐसे ही क्रियारहित, अमूर्त्त प्रेरणारहित धर्मद्रव्य भी अपने अपने उपादान कारणों से गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलों को गमन में सहकारी कारण होता है । जैसे मत्स्य आदि के गमन में जल आदि सहायक कारण होने का लोक प्रसिद्ध दृष्टांत है, यह अभिप्राय है । इस तरह धर्म द्रव्य के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ।। १७ ।।

अब अधर्मद्रव्य को कहते हैं :—

ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाण गच्छता णेव सो धरई ।। १८ ।।

स्थानयुतानां अधर्मः पुद्गलजीवानां स्थानसहकारी ।
छाया यथा पथिकानां गच्छतां नैव सः धरति ।। १८ ।।

व्याख्या–स्थानयुक्तानामधर्मं पुद्गलजीवाना स्थिते सहकारिकारण भवति । तत्र दृष्टान्त —छाया यथा पथिकानाम् । स्वय गच्छतो जीवपुद्गलान्स नैव धरतीति । तद्यथा–स्वसवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरूप परमस्वास्थ्य यद्यपि निश्चयेन स्वरूपे स्थितिकारण भवति तथा "सिद्धोऽह सुद्धोऽह अणंतणाणाइगुणसमिद्धोऽह । देहपमाणो णिच्चो असखदेसो अमुत्तो य ।। १ ।।" इति गाथाकथितसिद्धभक्ति रूपेणेह पूर्वं सविकल्पास्थायां सिद्धोऽपि यथा भव्याना वहिरङ्गसहकारिकारण भवति तथैव स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठता जीवपुद्गलानामधर्मद्रव्य स्थिते सहकारिकारणम् । लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवीवद्वेति सूत्रार्थं । एवमधर्मद्रव्यकथनेन गाथा गता ।। १८ ।।

अथाकाशद्रव्यमाह —

अवगासदाणजोग्ग जीवादीण वियाण आयास ।
जेण्ह लोगागास अल्लोगागासमिदि दुविह ।। १९ ।।

गाथार्थः—ठहरे हुए पुद्गल और जीवो को ठहरने मे सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है । जैसे छाया यात्रियो को ठहरने मे सहकारी है । गमन करते हुए जीव तथा पुद्गलो को अधर्मद्रव्य नही ठहराता ।। १८ ।।

वृत्त्यर्थ —ठहरे हुए पुद्गल तथा जीवों को ठहरने मे सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है । उसमे दृष्टान्त—जैसे छाया पथिको को ठहरने मे सहकारी कारण है । परन्तु स्वय गमन करते हुए जीव व पुद्गलो को अधर्मद्रव्य नही ठहराता हैं । सो ऐसे है–यद्यपि निश्चय नय से आत्म-अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रूप जो परम स्वास्थ्य है वह निज रूप मे स्थिति का कारण है, परन्तु "मै सिद्ध हू, शुद्ध हू, अनन्तज्ञान आदि गुणो का धारक हू, शरीर प्रमाण हू, नित्य हू, असख्यात प्रदेशी हू तथा अमूर्त्तिक हू ।१। इस गाथा मे कही हुई सिद्ध भक्ति के रुप से पहले सविकल्प अवस्था मे सिद्ध भी जैसे भव्य जीवो के लिए वहिरग सहकारी कारण होते है उसी तरह अपने २ उपादान कारण से अपने आप ठहरते हुए जीव पुद्गलो को अधर्मद्रव्य ठहरने का सहकारी कारण होता है । लोक व्यवहार से जैसे छाया अथवा पृथिवी ठहरते हुए यात्रियो आदि को ठहरने मे सहकारी होती हे उसी तरह स्वय ठहरते हुए जीव पुद्गलो के ठहरने मे अधर्मद्रव्य सहकारी होता है । इसी प्रकार अधर्म द्रव्य के कथन द्वारा यह गाथा समाप्त हुई ।१८।

अव आकाशद्रव्य को कहते हैं —

गाथार्थ—जो जीव आदि द्रव्यो को अवकाश देने वाला है उसको जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाशद्रव्य जानो । लोकाकाश और अलोकाकाश इन भेदो से आकाश दो प्रकार का है ।। १९ ।।

अवकाशदानयोग्य जीवादीना विजानीहि आकाशम् ।
जैन लोकाकाश अलोकाकाश इति द्विविधम् ॥ १६ ॥

व्याख्या--जीवादीनामवकाशदानयोग्यमाकाश विजानीहि हे शिष्य ! कि विशिष्ट ? "जेण्ह" जिनस्येद जैन, जिनेन प्रोक्त वा जैनम् । तच्च लोकालोकाकाशभेदेन द्विविधमिति । इदानी विस्तर —सहजशुद्धसुखामृतरसास्वादेन परमसमरसीभावेन भरितावस्थेपु केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतेषु लोकाकाशप्रमितासख्येयस्वकीयशुद्धप्रदेशेषु यद्यपि निश्चयनयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति, तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण मोक्षशिलाया तिष्ठन्तीति भण्यते इत्युक्तोऽस्ति । स च ईदृशो मोक्षो यत्र प्रदेशे परमध्यानेनात्मा स्थित सन् कर्मरहितो भवति, तत्रैव भवति नान्यत्र । ध्यानप्रदेशे कर्मपुद्गलान् त्यक्त्वा ऊर्ध्वगमनस्वभावेन गत्वा मुक्तात्मानो यतो लोकाग्रे तिष्ठन्तीति तत उपचारेण लोकाग्रमपि मोक्ष प्रोच्यते, यथा तीर्थभूतपुरुषसेवितस्थानमपि भूमिजलादिरूपमुपचारेण तीर्थं भवति । सुखबोधार्थ कथितमास्ते । यथा तथैव सर्वद्रव्याणि यद्यपि निश्चयनयेन स्वकीयप्रदेशेषु तिष्ठन्ति तथाप्युपचरितासद्भूतव्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवता श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवानामिति ॥ १६ ॥

तमेव लोकाकाश विशेषेण द्रढयति –

वृत्त्यर्थः—हे शिष्य ! जीवादिक द्रव्यो को अवकाश [रहने का स्थान] देने की योग्यता जिस द्रव्य मे है उसको श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य समझो । वह आकाश, लोकाकाश तथा अलोकाकाश इन भेदो से दो तरह का है। अब इसको विस्तार से कहते है—स्वाभाविक, शुद्ध सुखरूप अमृत रस के आस्वाद रूप परमसमरसी भाव से परिपूर्ण तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणो के आधारभूत जो लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश अपनी आत्मा के हैं, उन प्रदेशो मे यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा से सिद्ध जीव रहते हैं, तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से सिद्ध मोक्षशिला ऊपरी तनुवात वलय) मे रहते है, ऐसा कहा जाता है । ऐसा पहले कह चुके हैं । जिस स्थान मे आत्मा परमध्यान से कर्मरहित होता है, ऐसा मोक्ष वहा ही है, अन्यत्र नही । ध्यान करनेके स्थानमे कर्मपुद्गलो को छोडकर तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव से गमन कर मुक्त जीव चूंकि लोक के अग्रभाग मे जाकर निवास करते है इस कारण लोक का अग्रभाग भी उपचार से मोक्ष कहलाता है, जैसे कि तीर्थभूत पुरुषो द्वारा सेवित भूमि, पर्वत, गुफा जल आदि स्थान भी उपचार से तीर्थ होते है । यह वर्णन सुगमता से समझाने के लिये किया है । जैसे सिद्ध अपने प्रदेशो मे रहते है उसी प्रकार निश्चयनय से सभी द्रव्य यद्यपि अपने-अपने प्रदेशो मे रहते है, तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से लोकाकाश मे सब द्रव्य रहते हैं, ऐसा भगवान् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव का अभिप्राय जानना चाहिए ॥ १६ ॥

उसी लोकाकाश को विशेष रूप से दृढ करते है :—

धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये ।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥ २० ॥

धर्माधर्मौ कालः पुद्गलजीवाः च सन्ति यावतिके ।
आकाशे स लोकः ततः परतः अलोकः उक्तः ॥२०॥

व्याख्या—धर्माधर्मकालपुद्गलजीवाश्च सन्ति यावत्याकाशे स लोकः । तथा चोक्तं—लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोक इति । तस्माल्लोकाकाशात्परतो बहिर्भागे पुनरनन्ताकाशमलोक इति । अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी । हे भगवन् ! केवलज्ञानस्यानन्तभागप्रमितमाकाशद्रव्यं तस्याप्यनन्तभागे सर्वमध्यमप्रदेशे लोकस्तिष्ठति । स चानादिनिधनः केनापि पुरुषविशेषेण न कृतो न हृतो न धृतो न च रक्षितः । तथैवासंख्यातप्रदेशस्तत्रासंख्यातप्रदेशे लोकेऽनन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः पुद्गलाः, लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालाणुद्रव्याणि, प्रत्येकं लोकाकाशप्रमाणं धर्माधर्मद्वयमित्युक्तलक्षणाः पदार्थाः कथमवकाशं लभन्त इति ? भगवानाह—एकप्रदीपप्रकाशे नानाप्रदीपप्रकाशवदेकगूढरसनागगद्याणके बहुसुवर्णवद्भस्मघटमध्ये सूचिकोष्ट्रदुग्धवदित्यादिदृष्टान्तेन विशिष्टावगाहनशक्तिवशादसंख्यातप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानमवगाहो न विरुध्यते । यदि पुनरित्थंभूतावगाहनशक्तिर्न भवति तर्ह्यसंख्यातप्रदेशेष्वसंख्यातपरमाणूनामेव व्यवस्थानं, तथा सति सर्वे जीवा यथा शुद्धनिश्चयेन

गाथार्थः—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव ये पाचो द्रव्य जितने आकाश मे हैं वह "लोकाकाश" है और उस लोकाकाश के बाहर "अलोकाकाश" है ॥ २० ॥

वृत्त्यर्थ—धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव जितने आकाश मे रहते है उतने आकाश का नाम "लोकाकाश" है । ऐसा कहा भी है कि—जहा पर जीव आदि पदार्थ देखने मे आते है वह लोक है । उस लोकाकाश से बाहर जो अनन्त आकाश है वह "अलोकाकाश" है ।

यहा सोम नामक राजश्रेष्ठी प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! केवल ज्ञान के अनन्तवे भाग प्रमाण आकाश द्रव्य है और उस आकाश के भी अनन्तवें भाग मे, सबके बीच मे लोक है और वह लोक (काल की दृष्टि से) आदि अन्त रहित है, न किसी का बनाया हुआ है, न किसी से कभी नष्ट होता है, न किसी के द्वारा धारण किया हुआ है और न कोई उसकी रक्षा करता है । वह लोकाकाश असख्यात प्रदेशो का धारक है उस असंख्यात प्रदेशी लोक मे असख्यात प्रदेशी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असख्यात कालाणु लोकाकाश प्रमाण धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य कैसे रहते हैं ?

भगवान् उत्तर मे कहते हैं—एक दीपक के प्रकाश मे अनेक दीपो का प्रकाश समा जाता है, अथवा एक गूढ रस विशेष से भरे शीसे के वर्तन मे बहुत सा सुवर्ण समा जाता है, अथवा भस्म से भरे हुए घट मे सुई और ऊटनी का दूध आदि समा जाते हैं, इत्यादि दृष्टान्तो के अनुसार विशिष्ट अवगाहन

शक्तिरूपेण निरावरणा शुद्धबुद्धैकस्वभावास्तथा व्यक्तिरूपेण व्यवहारनयेनापि, न च तथा प्रत्यक्षविरोधादागमविरोधाच्चेति । एवमाकाशद्रव्यप्रतिपादनरूपेण सूत्रद्वयं गतम् ॥२०॥

अथ निश्चयव्यवहारकालस्वरूपं कथयति —

दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।

परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥

द्रव्यपरिवर्तनरूपः यः सः कालः भवेत् व्यवहारः ।

परिणामादिलक्ष्यः वर्त्तनालक्षणः च परमार्थः ॥२१॥

व्याख्या—'दव्वपरिवट्टरूवो जो' द्रव्यपरिवर्त्तरूपो यः 'सो कालो हवेइ ववहारो' स कालो भवति व्यवहाररूपः । स च कथंभूतः ? 'परिणामादीलक्खो' परिणामक्रियापरत्वापरत्वेन लक्ष्यत इति परिणामादिलक्ष्यः । इदानीं निश्चयकालः कथ्यते 'वट्टणलक्खो य परमट्ठो' वर्त्तनालक्षणश्च परमार्थकाल इति । तद्यथा—जीवपुद्गलयोः परिवर्त्तो नवजीर्णपर्यायस्तस्य या समयघटिकादिरूपा स्थितिः स्वरूपं यस्य स भवति द्रव्यपर्यायरूपो व्यवहारकालः । तथाचोक्तं संस्कृतप्राभृतेन—'स्थितिः कालसंज्ञका' तस्य पर्यायस्य सम्बन्धिनी याऽसौ समयघटिकादिरूपा स्थितिः सा व्यवहारकालसंज्ञा भवति, न च पर्याय इत्यभिप्रायः । यत

शक्ति के कारण असंख्यात प्रदेश वाले लोक मे पूर्वोक्त जीव पुद्गलादिक के भी समा जाने मे कुछ विरोध नही आता । यदि इस प्रकार अवगाहनशक्ति न होवे तो लोक के असंख्यात प्रदेशो मे असंख्यात परमाणुओ का ही निवास हो सकेगा । ऐसा होने पर जैसे शक्ति रूप शुद्ध निश्चयनय मे सब जीव आवरण रहित तथा शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारक है, वैसे ही व्यक्ति रूप व्यवहारनय से भी हो जायें, किन्तु ऐसे है नही । क्योकि ऐसा मानने मे प्रत्यक्ष और आगम से विरोध है । इस तरह आकाश द्रव्य के निरूपण से दो सूत्र समाप्त हुए ॥ २० ॥

अब निश्चयकाल तथा व्यवहारकाल के स्वरूप का वर्णन करते है —

गाथार्थ —जो द्रव्यो के परिवर्तन मे सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है, सो व्यवहारकाल है, वर्त्तना-लक्षण वाला जो काल है वह निश्चय काल है ॥ २१ ॥

वृत्त्यर्थः—"दव्वपरिवट्टरूवो जो" जो द्रव्य परिवर्त्तन रूप है 'सो कालो हवेइ ववहारो' वह व्यवहार रूप काल होता है । और वह कैसा है ? "परिणामादीलक्खो" परिणाम, क्रिया, परत्व अपरत्व से जाना जाता है, इसलिये परिणामादि से लक्ष्य है । अब निश्चयकाल को कहते है—"वट्टणलक्खो य परमट्ठो" जो वर्त्तनालक्षण वाला है वह परमार्थ (निश्चय) काल है । विशेष—जीव तथा पुद्गल का परिवर्त्तनरूप जो नूतन तथा जीर्ण पर्याय है—उस पर्याय की जो समय, घडी आदि रूप स्थिति है वह स्थिति है स्वरूप जिसका, वह द्रव्यपर्याय रूप व्यवहारकाल है । ऐसा ही संस्कृत-प्राभृत मे भी कहा

एव पर्यायसम्बन्धिनी स्थितिर्व्यवहारकालसंज्ञा भजते यत एव जीवपुद्गलसम्बन्धिपरिणामेन पर्यायेण तथैव देशान्तरचलनरूपया गोदोहनपाकादिपरिस्पन्दलक्षणरूपया वा क्रियया तथैव दूरासन्नचलनकालकृतपरत्वापरत्वेन च लक्ष्यते ज्ञायते य स परिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षण इत्युच्यते । अथ द्रव्यरूपनिश्चयकालमाह । स्वकीयोपादानरूपेण स्वयमेवपरिणममानाना पदार्थाना कुम्भकारचक्रस्याधस्तनशिलावत्, शीतकालाध्ययने अग्निवत्, पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्व सा वर्त्तना भण्यते । सैव लक्षण यस्य स वर्त्तनालक्षण कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकाल , इति व्यवहारकालस्वरूप निश्चयकालस्वरूपं च विज्ञेयम् ।

कश्चिदाह 'समयरूप एव निश्चयकालस्तस्मादन्य कालाणुद्रव्यरूपो निश्चयकालो नास्त्यदर्शनात् ?' तत्रोत्तर दीयते—समयस्तावत्कालस्तस्यैव पर्याय । स कथ पर्याय इति चेत् ? पर्यायस्योत्पन्नप्रध्वंसित्वात् । तथाचोक्त 'समओ उप्पण्ण पद्धंसी' । स च पर्यायो द्रव्य विना न भवति, पश्चात्तस्य समयरूपपर्यायकालस्योपादानकारणभूत द्रव्य तेनापि कालरूपेण भाव्यम् । इन्धनाग्निसहकारिकारणोत्पन्नस्यौदनपर्यायस्य तन्दुलोपादानकारणवत्, अथ कुम्भकारचक्रचीवरादिबहिरगनिमित्तोत्पन्नस्य मृण्मयघटपर्यायस्य मृत्पिण्डोपादानकारणवत्

है—"जो स्थिति है, वह कालसंज्ञक है" । साराश यह है—द्रव्य की पर्याय से सम्बन्ध रखने वाली जो यह समय, घड़ी आदि रूप स्थिति है, वह स्थिति ही "व्यवहारकाल" है, वह पर्याय व्यवहारकाल नहीं है । और क्योकि पर्यायसम्बन्धिनी स्थिति 'व्यवहारकाल' है इसी कारण जीव व पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से तथा देशान्तर मे आने-जाने रूप अथवा गाय दुहनी व रसोई करना आदि हलन-चलन रूप क्रिया से तथा दूर या समीप देश मे चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्व से यह काल जाना जाता है, इसीलिये वह व्यवहारकाल परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व लक्षण वाला कहा जाता है । अब द्रव्य रूप निश्चयकाल को कहते हैं—अपने-अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थों को, जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण मे उसके नीचे की कीली सहकारिणी है, अथवा शीतकाल मे छात्रो को पढने के लिये अग्नि सहकारी है, उसी प्रकार जो पदार्थो के परिणमन मे सहकारता है, उसको "वर्त्तना" कहते है । वह वर्त्तना ही है लक्षण जिसका, वह वर्त्तना लक्षण वाला कालाणु द्रव्य रूप "निश्चयकाल" है । इस तरह व्यवहारकाल तथा निश्चयकाल का स्वरूप जानना चाहिये ।

यहा कोई कहता है—कि समय रूप ही निश्चयकाल है, उस समय से भिन्न अन्य कोई कालाणु द्रव्य रूप निश्चयकाल नही है, क्योकि वह देखने मे नही आता । इसका उत्तर देते हैं—कि समय तो काल की ही पर्याय है । यदि यह पूछो कि समय काल की पर्याय कैसे है ? तो उत्तर यह है, पर्याय का लक्षण उत्पन्न व नाश होना है । 'समय' भी उत्पन्न व नष्ट होता है, इसलिये पर्याय है । पर्याय द्रव्य के विना नही होती, उस समय रूप पर्याय काल का (व्यवहार काल का) उपादान कारणभूत द्रव्य भी कालरूप ही होना चाहिए । क्योकि जैसे ईंधन, अग्नि आदि सहकारी कारण से उत्पन्न भात (पके चावल) का उपादान कारण चावल ही होता है, अथवा कुम्भकार, चाक, चीवर आदि बहिरंग निमित्त

अथवा नरनारकादिपर्यायस्य जीवोपादानकारणवदिति । तदपि कस्मादुपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । अथ मत 'समयादिकालपर्यायाणां कालद्रव्यमुपादानकारण न भवति, किन्तु समयोत्पत्तौ मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुस्तथा निमेषकालोत्पत्तौ नयनपुटविघटन, तथैव घटिकाकालपर्यायोत्पत्तौ घटिकासामग्रीभूतजलभाजनपुरुषहस्तादिव्यापारो, दिवसपर्याये तु दिनकरबिम्बमुपादानकारणमिति ।' नैवम् । यथा तन्दुलोपादानकारणोत्पन्नस्य सदोदनपर्यायस्य शुक्लकृष्णादिवर्णा, सुरभ्यसुरभिगन्ध–स्निग्धरूक्षादिस्पर्श–मधुरादिरसविशेषरूपा गुणा दृश्यन्ते । तथा पुद्गलपरमाणुनयनपुटविघटनजलभाजनपुरुषव्यापारादिदिनकरबिम्बरूपै पुद्गलपर्यायैरुपादानभूतै समुत्पन्नाना समयनिमिषघटिकादिकालपर्यायाणामपि शुक्लकृष्णादिगुणा प्राप्नुवन्ति, न च तथा । उपादानकारणसदृश कार्यमिति वचनात् । कि बहुना । योऽसावनाद्यनिधनस्तथैवामूर्त्तो नित्य समयाद्युपादानकारणभूतोऽपि समयादिविकल्परहित कालाणुद्रव्यरूप स निश्चयकालो, यस्तु सादिसान्तसमयघटिकाप्रहरादिविवक्षितव्यवहारविकल्परूपस्तस्यैव द्रव्यकालस्य पर्यायभूतो व्यवहारकाल इति । अयमत्र भाव । यद्यपि काललब्धिवशेनानन्तसुखभाजनो भवति जीवस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभा-

---

कारणो स उत्पन्न जो मिट्टी की घट पर्याय है उसका उपादान कारण मिट्टी का पिड ही है, अथवा नर, नारक आदि जो जीव की पर्याय है उनका उपादान कारण जीव है, इसी तरह समय घडी आदि काल का भी उपादान कारण काल ही होना चाहिए । यह नियम भी इसलिये है कि "अपने उपादान कारण के समान ही कार्य होता है" ऐसा वचन है ।

कदाचित् ऐसा कहो कि "समय, घडी आदि कालपर्यायो का उपादान कारण कालद्रव्य नही है किन्तु समय रूप कालपर्याय की उत्पत्ति मे मदगति से परिणत पुद्गल परमाणु उपादान कारण है, तथा निमेषरूप कालपर्याय की उत्पत्ति मे नेत्रो के पुटो का विघटन अर्थात् पलक का गिरना उठना उपादान कारण है, ऐसे ही घडी रूप कालपर्याय की उत्पत्ति मे घडी की सामग्रीरूप जल का कटोरा और पुरुष के हाथ आदि का व्यापार उपादान कारण है, दिन रूप कालपर्याय की उत्पत्ति मे सूर्य का बिम्ब उपादान कारण है ।" ऐसा नही है, जिस तरह चावलरूप उपादान कारण से उत्पन्न भात पर्याय के उपादान कारण मे प्राप्त गुणो के समान ही सफेद, काला आदि वर्ण, अच्छी या बुरी गन्ध; चिकना अथवा रूखा आदि स्पर्श, मीठा आदि रस, इत्यादि विशेष गुण दीख पडते है, वैसे ही पुद्गल परमाणु, नेत्र-पलक विघटन, जल कटोरा, पुरुषव्यापार आदि तथा सूर्य का बिम्ब इन रूप जो उपादानभूत पुद्गल-पर्याय है उनसे उत्पन्न हुए समय, निमिष, घडी, दिन आदि जो कालपर्याय है उनके भी सफेद, काला आदि गुण मिलने चाहिये, परन्तु समय घडी आदि मे ये गुण नही दीख पडते, क्योकि उपादान कारण के समान कार्य होता है ऐसा वचन है ।

बहुत कहने से क्या लाभ । जो आदि तथा अन्त से रहित अमूर्त है, नित्य है, समय आदि का उपादानकारणभूत है तो भी समय आदि भेदो से रहित है और कालाणु द्रव्यरूप है, वह निश्चयकाल

वनिजपरमात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तवहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरण-रूपा या निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं ज्ञातव्यम् न च कालस्तेन स हेय इति ॥ २१ ॥

अथ निश्चयकालस्यावस्थानक्षेत्रं द्रव्यगणना च प्रतिपादयति —

लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का ।

रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि । २२ ।

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिताः हि एकैकाः ।

रत्नानां राशिः इव ते कालाणवः असंख्यद्रव्याणि ॥ २२ ॥

व्याख्या—'लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का' लोकाकाशप्रदेशेष्वेकैकेषु ये स्थिता एकैकसंख्योपेता 'हु' स्फुटं । क इव ? 'रयणाणं रासीइव' परस्परतादात्म्यपरिहारेण रत्नानां राशिरिव । 'ते कालाणू' ते कालाणवः । कति संख्योपेता ? 'असंखदव्वाणि' लोकाकाशप्रमितासंख्येयद्रव्याणीति । तथाहि—यथा अङ्गुलिद्रव्यस्य यस्मिन्नेव क्षणे वक्रपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव क्षणे पूर्वप्राञ्जलपर्यायविनाशोऽङ्गुलिरूपेण ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः ।

है और जो आदि तथा अन्त से सहित है, समय, घडी, पहर आदि व्यवहार के विकल्पों से युक्त है, वह उसी द्रव्यकाल का पर्याय रूप व्यवहारकाल है । सारांश यह कि यद्यपि यह जीव काललब्धि के वश से अनन्त सुख का भाजन होता है, तो भी विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव का धारक जो निज परमात्म तत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान आचरण और सम्पूर्ण बाह्य द्रव्यों की इच्छा को दूर करने रूप लक्षण वाला तपश्चरणरूप जो दर्शन ज्ञान, चारित्र, तपरूप चार प्रकार की निश्चय आराधना है, वह आराधना ही उस जीव के अनन्त सुख की प्राप्ति में उपादान कारण जाननी चाहिए उसमें काल उपादान कारण नहीं है, इसलिये वह कालद्रव्य हेय है ॥ २१ ॥

अब निश्चयकाल के रहने का क्षेत्र तथा काल द्रव्य की संख्या का प्रतिपादन करते हैं :—

गाथार्थ—जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों के ढेर समान परस्पर भिन्न हो कर एक-एक स्थित हैं वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं ॥ २२ ॥

वृत्त्यर्थ —"लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का" एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर जो एक-एक संख्यायुक्त स्पष्ट रूप से स्थित हैं । किस के समान हैं ? "रयणाणं रासी इव" परस्पर में तादात्म संबंध के अभाव के कारण रत्नों की राशि के समान भिन्न २ स्थित है । "ते कालाणू" वे कालाणु हैं । कितनी संख्या के धारक हैं ? "असंखदव्वाणि" लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर असंख्यात द्रव्य हैं । विशेष—जैसे जिस क्षण में अंगुली रूप द्रव्य के टेढी रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है उसी क्षण में उसके सीधे आकार रूप पर्याय का नाश होता और अंगुली रूप से वह अंगुली दोनों दशाओं में ध्रौव्य है । इस तरह उत्पत्ति, नाश तथा ध्रौव्य इन तीनों लक्षणों से युक्त द्रव्य के स्वरूप की सिद्धि है । तथा

यथैव च केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो निर्विकल्पसमाधिरूपकारणसमयसारस्य विनाशस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति वा द्रव्यसिद्धि । तथा कालाणोरपि मन्दगतिपरिणतपुद्गलपरमाणुना व्यक्तीकृतस्य कालाणूपादानकारणोत्पन्नस्य य एव वर्तमानसमयस्योत्पाद स एवातीतसमयापेक्षया विनाशस्तदुभयाधारकालाणुद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालद्रव्यसिद्धि । लोकवहिर्भागेकालाणुद्रव्याभावात्कथमाकाशद्रव्यस्य परिणतिरिति चेत् ? अखण्डद्रव्यत्वादेकदेशदण्डाहतकुम्भकारचक्रभ्रमणवत्, तथैवैकदेशमनोहरस्पर्शनेन्द्रियविषयानुभवसर्वाङ्गसुखवत् लोकमध्यस्थितकालाणुद्रव्यधारणैकदेशेनापि सर्वत्र परिणमन भवतीति कालद्रव्य शेषद्रव्याणा परिणते सहकारिकारण भवति । कालद्रव्यस्य कि सहकारिकारणमिति ? यथाकाशद्रव्यमशेषद्रव्याणामाधार स्वस्यापि तथा कालद्रव्यमपि परेषा परिणतिसहकारिकारण स्वस्यापि । अथ मत यथा कालद्रव्य स्वस्योपादानकारण परिणते सहकारिकारण च भवति तथा सर्वद्रव्याणि, कालद्रव्येण कि प्रयोजनमिति ? नैवम्, यदि पृथग्भूतसहकारिकारणेनप्रयोजन नास्ति तर्हि सर्वद्रव्याणा साधारणगतिस्थित्यवगाहनविषये धर्माधर्माकाशद्रव्यैरपि सहकारिकारणभूतै प्रयोजन नास्ति ।

जैसे केवल ज्ञान आदि की प्रकटता रूप कार्य समयसार का (परम-आत्मा का) उत्पाद होता है उसी समय निर्विकल्प ध्यान रूप जो कारण समयसार है, उसका नाश होता है और उन दोनो का आधारभूत जो परमात्मा द्रव्य है उस रूप से ध्रौव्य है, इस तरह से भी द्रव्य की सिद्धि है । उसी तरह कालाणु के भी, जो मन्दगति मे परिणत पुद्गल परमाणु द्वारा प्रगट किये हुए और कालाणुरूप उपादान कारण से उत्पन्न हुए जो यह वर्त्तमान समय का उत्पाद है, वही बीते हुए समय की अपेक्षा विनाश है और उन वर्त्तमान तथा अतीत दोनो समय का आधारभूत कालद्रव्यत्व से ध्रौव्य है । इस तरह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप काल द्रव्य की सिद्धि है ।

शंका —"लोक के वाहरी भाग मे कालाणु द्रव्य के अभाव से अलोकाकाश मे परिणमन कैसे हो सकता है ?,' इस शका का उत्तर यह है—आकाश अखड द्रव्य है इसलिये जैसे चाक के एक कोने मे डन्डे की प्रेरणा मे कुम्हार का सारा चाक घूमने लगता है, अथवा जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के विषय का प्रिय अनुभव एक अग मे करने से समस्त शरीर मे सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार लोक आकाश मे स्थित जो कालाणु द्रव्य है वह आकाश के एक देश मे स्थित है तो भी सर्व अखण्ड आकाश मे परिणमन होता है, इसी प्रकार काल द्रव्य शेष सव द्रव्यो के परिणमन मे सहकारी कारण है ।

शंका .—जैसे काल द्रव्य जीव पुद्गल आदि द्रव्यो के परिणमन मे सहकारी कारण है वैसे ही काल द्रव्य के परिणमन मे सहकारी कारण कौन है ? उत्तर—जिस तरह आकाशद्रव्य शेष सव द्रव्यो का आधार है और अपना आधार भी आप ही है, इसी तरह कालद्रव्य भी अन्य सव द्रव्यो के परिणमन मे सहकारी कारण है और अपने परिणमन मे भी सहकारी कारण है ।

किञ्च, कालस्य घटिकादिवसादिकार्यं प्रत्यक्षेण दृश्यते, धर्मादीनां पुनरागमकथनमेव, प्रत्यक्षेण किमपि कार्यं न दृश्यते, ततस्तेषामपि कालद्रव्यस्येवाभाव प्राप्नोति। ततश्च जीवपुद्गलद्रव्यद्वयमेव, स चागमविरोध। किञ्च, सर्वद्रव्याणां परिणतिसहकारित्वं कालस्यैव गुण', घ्राणेन्द्रियस्य रसास्वादनमिवान्यद्रव्यस्य गुणोऽन्यद्रव्यस्य कर्तु नायाति द्रव्यसंकरदोषप्रसंगादिति।

कश्चिदाह—यावत्कालेनैकाकाशप्रदेश परमाणुरतिक्रामति ततस्तावत् कालेन समयो भवतीत्युक्तमागमे एकसमयेन चतुर्दशरज्जुगमने यावत आकाशप्रदेशास्तावन्त समया प्राप्नुवन्ति। परिहारमाह—एकाकाशप्रदेशातिक्रमेण यत् समयव्याख्यान कृत तन्मन्दगत्यपेक्षया, यत्पुनरेकसमये चतुर्दशरज्जुगमनव्याख्यान तत्पुन शीघ्रगत्यपेक्षया। तेन कारणेन चतुर्दशरज्जुगमनेऽप्येकसमय। तत्र दृष्टान्त—कोऽपि देवदत्तो योजनशत मन्दगत्या दिनशतेन गच्छति। स एव विद्याप्रभावेण शीघ्रगत्या दिनेनैकेनापि गच्छति तत्र किं दिनशतं भवति। किन्त्वेक एव दिवस। तथा चतुर्दशरज्जुगमनेऽपि शीघ्रगमनेनैक एव समय।

शंका—जैसे कालद्रव्य अपना उपादान कारण है और अपने परिणमन का सहकारी कारण है, वैसे ही जीव आदि सब द्रव्य भी अपने उपादान कारण और अपने २ परिणमन के सहकारी कारण रहें। उन द्रव्यों के परिणमन में कालद्रव्य से क्या प्रयोजन है? समाधान—ऐसा नहीं है क्योंकि, यदि अपने से भिन्न बहिरंग सहकारी कारण की आवश्यकता न हो तो सब द्रव्यों के साधारण गति, स्थिति, अवगाहन के लिये सहकारी कारणभूत जो धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य हैं उनकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। विशेष—काल का कार्य तो घड़ी, दिन आदि प्रत्यक्ष से दीख पड़ता है, किन्तु धर्म द्रव्य आदि का कार्य तो केवल आगम (शास्त्र) के कथन से ही माना जाता है, उनका कोई कार्य प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता इसलिए जैसे कालद्रव्य का अभाव मानते हो उसी प्रकार उन धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्यों का भी अभाव प्राप्त होता है। और तब जीव तथा पुद्गल ये दो ही द्रव्य रह जायेंगे। केवल दो ही द्रव्योंके मानने पर आगम में विरोध आता है। सब द्रव्यों के परिणमन में सहकारी होना यह केवल कालद्रव्य का ही गुण है। जैसे नाक से रस का आस्वाद नहीं हो सकता, ऐसे ही अन्य द्रव्य का गुण भी अन्य द्रव्य के द्वारा नहीं किया जाता। क्योंकि ऐसा मानने में द्रव्यसंकर दोष का प्रसंग आवेगा (अन्य द्रव्य का लक्षण अन्य द्रव्य में चला जायगा)।

अब कोई कहता है—जितने काल में "आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु गमन करता है उतने काल का नाम समय है", ऐसा शास्त्र में कहा है तो एक समय में परमाणु के चौदह रज्जु गमन करने पर जितने आकाश के प्रदेश हैं उतने ही समय होने चाहिये? शंका का निराकरण करते हैं—आगम में जो परमाणु का एक समय में एक आकाश के प्रदेश से साथ वाले दूसरे प्रदेश पर गमन करना कहा है, सो तो मन्दगति की अपेक्षा से है तथा परमाणु का एक समय में जो चौदह रज्जु का गमन कहा है वह शीघ्र गमन की अपेक्षा से है। इसलिये शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने में भी

किञ्च—स्वय विपयानुभवरहितोऽप्यय जीव· परकीयविपयानुभव दृष्टम् श्रुत च मनसि स्मृत्वा यद्विपयाभिलाप करोति तदपध्यान भण्यते तत्प्रभृतिसमस्तजालरहित स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादसहित यत्तद्वीतरागचारित्र भवति । यत्पुनस्तदविनाभूत तन्निश्चयसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व चेति भण्यते । तदेव कालत्रयेऽपि मुक्तिकारणम् । कालस्तु तदभावे सहकारिकारणमपि न भवति तत स हेय इति । तथाचोक्तम्,—"कि पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गए काले । सिज्झिहहि जेवि भविया त जाणह सम्ममाहप्प ॥" इदमत्र तात्पर्यम्—कालद्रव्यमन्यद्वा परमागमाविरोधेन विचारणीय पर किन्तु वीतरागसर्वज्ञवचन प्रमाणमिति मनसि निश्चित्य विवादो न कर्तव्य । कस्मादिति चेत् ? विवादे रागद्वेपौ भवतस्ततश्च ससारवृद्धिरिति ॥ २२ ॥

एव कालद्रव्यव्याख्यानमुख्यतया पञ्चमस्थले सूत्रद्वय गत । इतिगाथाष्टकसमुदायेन पचभि स्थलै पुद्गलादिपचविधाजीवद्रव्यकथनरूपेण द्वितीयो अन्तराधिकार समाप्त ।

अत पर सूत्रपञ्चकपर्यन्त पञ्चास्तिकायव्याख्यान करोति । तत्रादौ गाथापूर्वार्द्धेन

परमाणु को एक ही समय लगता है । इसमे दृष्टान्त यह है कि जैसे जो देवदत्त धीमी चाल के सौ योजन सौ दिन मे जाता है, वही देवदत्त विद्या के प्रभाव से शीघ्रगति के द्वारा सौ योजन एक दिन मे भी जाता है, तो क्या उस देवदत्त को शीघ्रगति से सौ योजन गमन करने मे सौ दिन हो गये ? किन्तु एक ही दिन लगेगा । इसी तरह शीघ्रगति से चौदह रज्जु गमन करने मे भी परमाणु को एक ही समय लगता है ।

तथा स्वय विषयो के अनुभव से रहित भी यह जीव अन्य के द्वारा अनुभव किए हुए, देखे हुए, सुने हुए विपय को मनमे स्मरण करके विषयो की इच्छा करता है उसको अपध्यान कहते है । उस विपय अभिलापा आदि समस्त विकल्पो से रहित और आत्मअनुभव से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्दरूप सुख के रस आस्वाद से सहित वीतराग चारित्र होता है और जो उस वीतराग चारित्र से अविनाभूत है वह निश्चय सम्यक्त्व तथा वीतराग सम्यक्त्व है । वह निश्चय सम्यक्त्व ही तीनो कालो मे मुक्ति का कारण है । काल तो उस निश्चय सम्यक्त्व के अभाव मे वीतराग चारित्रका सहकारी कारण भी नही होता, इस कारण कालद्रव्य हेय है । ऐसा कहा भी है—'बहुत कहने से क्या, जो श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए है, हो रहे है व होगे, वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है ।" यहा तात्पर्य यह है कि कालद्रव्य तथा अन्य द्रव्योके विपय मे परम-आगम के अविरोध मे ही विचारना चाहिए, 'वीतराग सर्वज्ञ का वचन प्रमाण है" ऐसा मन मे निश्चय करके उनके कथन मे विवाद नही करना चाहिए । क्योकि विवाद मे राग-द्वेप उत्पन्न होते है और उन राग-द्वेषो से ससार की वृद्धि होती है ॥ २२ ॥

इस प्रकार कालद्रव्य के व्याख्यान की मुख्यता से पाचवे स्थल मे दो गाथा हुई । इस प्रकार आठ गाथाओ के समुदाय रूप पाचवे स्थल से पुद्गलादि पाच प्रकार के अजीव द्रव्य के कथन द्वारा दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ।

षड्द्रव्यव्याख्यानोपसहार उत्तरार्धेन तु पचास्तिकायव्याख्यानप्रारम्भ कथ्यते —

एव छब्भेयमिद जीवाजीवप्पभेददो दब्व ।
उत्त कालविजुत्त णादव्वा पच अत्थिकाया दु ।।२३।।

एव षड्भेद इद जीवाजीवप्रभेदतः द्रव्यम् ।
उक्त कालवियुक्तम् ज्ञातव्याः पञ्च अस्तिकायाः तु ॥२३॥

व्याख्या—"एव छब्भेयमिद जीवाजीवप्पभेददो दव्व उत्त" एव पूर्वोक्तप्रकारेण षड्भेदमिद जीवाजीवप्रभेदत सकाशाद्द्रव्यमुक्त कथित प्रतिपादितम् । "कालविजुत्त णादव्वा पच अत्थिकाया दु" तदेव षड्विध द्रव्य कालेन वियुक्त रहित ज्ञातव्या पञ्चास्तिकायास्तु पुनरिति ॥ २३ ॥

पञ्चेति सख्या ज्ञाता तावदिदानीमस्तित्व कायत्व च निरूपयति —

सति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणति जिणवरा जह्मा ।
काया इव बहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ।। २४ ।।

सन्ति यतः तेन एते अस्ति इति भणन्ति जिनवराः यस्मात् ।
काया इव बहुदेशा तस्मात् कायाः च अस्तिकायाः च ॥ २४ ॥

अब इसके पश्चात् पाँच गाथाओ मे पंचास्तिकाय का व्याख्यान करते है और उनमे भी प्रथम गाथा के पूर्वार्ध मे छहो द्रव्यों के व्याख्यान का उपसहार और उत्तरार्ध से पचास्तिकाय के व्याख्यान का आरम्भ कहते हैं —

गाथार्थः—इस प्रकार जीव और अजीव के अभेद से यह द्रव्य छह प्रकार के है । कालद्रव्य के विना शेष पाच द्रव्य अस्तिकाय जानने चाहिये ।। २३ ।।

वृत्त्यर्थ —"एव छब्भेयमिद जीवाजीवप्पभेददो दव्व उत्त" पूर्वोक्त प्रकार से जीव तथा अजीव के भेद मे ये द्रव्य छह प्रकार के कहे गये हैं। "कालविजुत्त णादव्वा पंच अत्थिकाया दु" वे ही छह प्रकार के द्रव्य कालरहित अर्थात् काल के विना (शेष पाच द्रव्यो को) पाच अस्तिकाय समझना चाहिये

अस्तिकाय की पाच सख्या तो जान ली है, अब उनके अस्तित्व और कायत्व का निरूपण करते हैं —

गाथार्थ :—"चूकि विद्यमान है इसलिये जिनेश्वर ने इनको 'अस्ति' कहा है और ये शरीर के समान बहुप्रदेशी है इसलिये इनको 'काय कहा है । अस्ति तथा काय दोनो को मिलाने से 'अस्तिकाय' होते है ।। २४ ।।

वृत्त्यर्थ —"सति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणति जिणवरा" जीव से आकाश तक पाच द्रव्य

व्याख्या--"संति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा" सन्ति विद्यन्ते यत एते जीवाद्याकाशपर्यन्ता पञ्च तेन कारणेनैतेऽस्तीति भणन्ति जिनवरा सर्वज्ञा । "जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य" यस्मात्काया इव बहुप्रदेशास्तस्मात्कारणात्कायाश्च भणन्ति जिनवरा । 'अत्थिकाया य' एवं न केवलं पूर्वोक्तप्रकारेणास्तित्वेन युक्ता अस्तिसंज्ञास्तथैव कायत्वेन युक्ता कायसंज्ञा भवन्ति किन्तूभयमेलापकेनास्तिकायसंज्ञाश्च भवन्ति । इदानीं संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽप्यस्तित्वेन सहाभेदं दर्शयति । तथाहि शुद्धजीवास्तिकाये सिद्धत्व-लक्षणः शुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः, केवलज्ञानादयो विशेषगुणाः अस्तित्ववस्तुत्वागुरुलघुत्वादयः सामान्यगुणाश्च । तथैवाव्याबाधानन्तसुखाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादो रागादिविभावरहितपरमस्वास्थ्यरूपस्य कारणसमयसारस्य व्ययस्तदुभयाधारभूतपरमात्म-द्रव्यत्वेन ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणैर्गुणपर्यायैरुत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह मुक्तावस्थायां संज्ञालक्षणप्र-योजनादिभेदेऽपि सत्तारूपेण प्रदेशरूपेण च भेदो नास्ति । कस्मादिति चेत् ? मुक्तात्मसत्तायां गुणपर्यायाणामुत्पादव्ययध्रौव्याणां चास्तित्वं सिद्ध्यति, गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यसत्तायाश्च मुक्तात्मास्तित्वं सिद्ध्यतीति परस्परसाधितसिद्धत्वादिति । कायत्वं कथ्यते--बहुप्रदेशप्रचयं दृष्ट्वा यथा शरीरं कायो भण्यते तथानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितासंख्येय-शुद्धप्रदेशानां प्रचयं समूहं संघातं मेलापकं दृष्ट्वा मुक्तात्मनि कायत्वं भण्यते । यथा शुद्धगुणप-

---

विद्यमान हैं इसलिये सर्वज्ञ देव इनको 'अस्ति' कहते हैं । "जह्मा काया इव बहुदेसा तह्मा काया य" और क्योंकि काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं, इस कारण जिनेश्वरदेव इनको 'काय' कहते हैं । "अत्थिकाया य" इस प्रकार अस्तित्व से युक्त ये पांचों द्रव्य केवल 'अस्ति' ही नहीं हैं और कायत्व से युक्त होने से केवल 'काय' भी नहीं हैं, किन्तु अस्ति और काय इन दोनों को मिलाने से "अस्ति-काय" संज्ञा के धारक हैं ।

अब इन पांचों के संज्ञा लक्षण तथा प्रयोजन आदि से यद्यपि परस्पर भेद हैं तथापि अस्तित्व के साथ अभेद है यह दर्शाते हैं —

जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय में सिद्धत्व रूप शुद्ध द्रव्य-व्यञ्जन-पर्याय है, केवल ज्ञान आदि विशेष गुण हैं तथा अस्तित्व, वस्तुत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं । तथा मुक्ति दशा में अव्याबाध अनन्तसुख आदि अनन्तगुणों की प्रकटता रूप कार्य समयसार का उत्पाद, रागादि विभाव रहित परम स्वास्थ्य रूप कारण समय-सार का व्यय (नाश) और उत्पाद तथा व्यय इन दोनों का आधारभूत परमात्मा रूप द्रव्यपने से ध्रौव्य है । इस प्रकार पहले कहे लक्षण सहित गुण तथा पर्यायों से और उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य के साथ मुक्त अवस्था में संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी सत्ता रूप से और प्रदेश रूप से भेद नहीं है । क्योंकि मुक्त जीवों की सत्ता होने पर गुण तथा पर्यायों की और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की सत्ता सिद्ध होती है, एवं गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य की सत्ता से मुक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । इस तरह गुण पर्याय आदि से मुक्त आत्मा की और मुक्त

र्यायोत्पादव्ययध्रौव्यं सह मुक्तात्मन सत्तारूपेण निश्चयेनाभेदो दर्शितस्तथा यथासभवं ससारिजीवेषु पुद्गलधर्माधर्माकाशकालेषु च द्रष्टव्य.। कालद्रव्यं विहाय कायत्वं चेति सूत्रार्थ ॥ २४ ॥

अथ कायत्वव्याख्याने पूर्व यत्प्रदेशास्तित्व सूचित तस्य विशेपव्याख्यान करोतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कस्य द्रव्यस्य कियन्त प्रदेशा भवन्तीति प्रतिपादयति —

होंति असखा जीवे धम्माधम्मे अणंत आयासे ।

मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥ २५ ॥

भवन्ति असंख्याः जीवे धर्माधर्मयो. अनन्ता' आकाशे ।

मूर्त्ते त्रिविधा प्रदेशा' कालस्य एक न तेन सः कायः ॥ २५ ॥

व्याख्या—"होंति असंखा जीवे धम्माधम्मे" भवन्ति लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशा प्रदीपवदुपसहारविस्तारयुक्तेऽप्येकजीवे, नित्यं स्वभावविस्तीर्णयोर्धर्माधर्मयोरपि । "अणत आयासे" अनन्तप्रदेशा आकाशे भवन्ति । "मुत्ते तिविह पदेसा" मूर्त्ते पुद्गलद्रव्ये सख्याता-सख्यातानन्ताणूना पिण्डा स्कन्धास्त एव त्रिविधा प्रदेशा भण्यन्ते, न च क्षेत्रप्रदेशाः।

आत्मा के गुण पर्याय की परस्पर सत्ता सिद्ध होती है। अब इनके कायपना कहते हैं—बहुत से प्रदशो के समूह को देखकर जैसे शरीर को काय कहते है (जैसे शरीर मे अधिक प्रदेश होने के कारण शरीर को काय कहते है) उसी प्रकार अनतज्ञान आदि गुणो के आधारभूत जो लोकाकाश के बराबर असख्यात शुद्ध प्रदेशो का समूह, सघात अथवा मेल को देखकर मुक्त जीव मे भी कायत्व कहा जाता है। जैसे शुद्ध गुण, पर्यायो से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित मुक्तआत्मा के निश्चयनय की अपेक्षा सत्ता रूप से अभेद बताया गया है, वैसे ही ससारी जीवो मे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यो मे भी यथा सभव परस्पर अभेद देख लेना चाहिये। कालद्रव्य को छोडकर अन्य सब द्रव्यो के कायत्व रूप से भी अभेद है। यह गाथा का अभिप्राय है ॥ २४ ॥

अब कायत्व के व्याख्यान मे जो पहले प्रदेशो का अस्तित्व सूचित किया है उसका विशेष व्याख्यान करते है यह तो अगली गाथा की एक भूमिका है, और किस द्रव्य के कितने प्रदेश होते हैं, दूसरी भूमिका यह प्रतिपादन करती है —

गाथार्थ:—जीव, धर्म तथा अधर्म द्रव्य मे असंख्यात प्रदेश है और आकाश मे अनन्त है। पुद्गल संख्यात, असख्यात तथा अनन्त प्रदेशी तीनो प्रकार वाले है। काल के एक ही प्रदेश है इसलिये काल 'काय' नही है ॥ २५ ॥

वृत्त्यर्थ:—"होंति असखा जीवे धम्माधम्मे" दीपक के समान सकोच तथा विस्तार से युक्त एक जीव मे भी और सदा स्वभाव से फैले हुए धर्म, अधर्म द्रव्यो मे भी लोकाकाश के बराबर असख्यात प्रदेश होते हैं। 'अणंत आयासे" आकाश मे अनन्त प्रदेश होते हैं। "मुत्ते तिविह पदेसा" मूर्त्त—पुद्गल द्रव्य मे जो संख्यात, असंख्यात अथा अनन्त परमाणुओ के पिंड अर्थात् स्कन्ध है, वे ही तीन प्रकार

कस्मात् ? पुद्गलस्यानन्तप्रदेशक्षेत्रे अवस्थानाभावादिति । "कालस्सेगो" कालाणुद्रव्यस्यैक एव प्रदेश । 'ण तेण सो काओ' तेन कारणेन स कायो न भवति । कालस्यैकप्रदेशत्वविषये युक्ति प्रदर्शयति । तद्यथा--किञ्चिदूनचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारण-भूत शुद्धात्मद्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव । यथा वा मनुष्यदेवादिपर्यायोपादानकारणभूत ससारि-जीवद्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव, तथा कालद्रव्यमपि समयरूपस्य कालपर्यायस्य विभागेनोपा-दानकारणभूतमविभाग्येकप्रदेश एव भवति । अथवा मन्दगत्या गच्छन् पुद्गलपरमाणोरेका-काशप्रदेशपर्यन्तमेव कालद्रव्य गते सहकारिकारण भवति ततो ज्ञायते तदप्येकप्रदेशमेव ।

कश्चिदाह--पुद्गलपरमाणोर्गतिसहकारिकारण धर्मद्रव्य तिष्ठति, कालस्य किमा-यातम् ? नैव वक्तव्यम्--धर्मद्रव्ये गतिसहकारिकारणे विद्यमानेऽपि मत्स्याना जलवन्मनु-ष्याणा शकटारोहणादिवत्सहकारिकारणानि बहून्यपि भवन्ति इति । अथ मत कालद्रव्य पुद्गलाना गतिसहकारिकारण कुत्र भणितमास्ते ? तदुच्यते--"पुग्गलकरणा जीवा खधा खलु कालकरणादु" इत्युक्त श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवै पञ्चास्तिकायप्राभृते । अस्यार्थ कथ्यते--धर्मद्रव्ये विद्यमानेऽपि जीवानाम् कर्मनोकर्मपुद्गला गते सहकारिकारण भवन्ति, अणुस्क-न्धभेदभिन्नपुद्गलाना तु कालद्रव्यमित्यर्थ ॥ २५ ॥

के प्रदेश कहे जाते हैं, न कि क्षेत्र-प्रदेश तीन प्रकार के हैं। क्योकि पुद्गल अनन्त प्रदेश वाले क्षेत्र मे नही रहता। 'कालस्सेगो" कालद्रव्य का एक ही प्रदेश है । 'ण तेण सो काओ" इसी कारण कालद्रव्य 'काय' नही है।

कालद्रव्य के एक प्रदेशी होने मे युक्ति बतलाते है। यथा--जैसे अन्तिम शरीर से कुछ कम प्रमाण के धारक सिद्धत्व पर्याय का उपादान कारण भूत जो शुद्ध आत्म-द्रव्य है वह सिद्धत्व पर्याय के प्रमाण ही है। अथवा जैसे मनुष्य, देव आदि पर्यायो का उपादान कारण भूत जो ससारी जीव द्रव्य है वह उस मनुष्य देव आदि पर्याय के प्रमाण ही है। उसी प्रकार कालद्रव्य भी समयरूप काल पर्याय के विभाग से उपादान रूप अविभागी एक प्रदेश ही होता है। अथवा मदगति से गमन करते हुए पुद्गल परमाणु के एक आकाश के प्रदेश तक ही कालद्रव्य गति का सहकारी कारण होता है, इस कारण जाना जाता है कि वह कालद्रव्य भी एक ही प्रदेश का धारक है।

यहा कोई कहता है कि--पुद्गल परमाणु की गति मे सहकारी कारण तो धर्मद्रव्य विद्यमान है ही, इसमे काल द्रव्य का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर--ऐसा नही है। क्योकि गति के सहकारी कारण धर्मद्रव्य के विद्यमान रहने भी मत्स्यो की गति मे जल के समान तथा मनुष्यो की गति मे गाडी पर बैठना आदि के समान पुद्गल की गति मे और भी बहुत से सहकारी कारण होते हैं। कदाचित् कोई यह कहे कि "कालद्रव्य पुद्गलो की गति मे सहकारी कारण है" यह कहा कहा है ? सो कहते है--श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने "पचास्तिकाय प्राभृत" की गाथा ९८ मे "पुग्गलकरणा जीवा खधा खलु कालकरणादु" ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह है--कि

अथैकप्रदेशस्यापि पुद्गलपरमाणोरुपचारेण कायत्वमुपदिशति —

एयपदेसो वि अणू णाणाखधप्पदेसदो होदि ।
वहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥ २६ ॥

एकप्रदेशः अपि अणुः नानास्कन्धप्रदेशतः भवति ।
वहुदेशः उपचारात् तेन च कायः भणन्ति सर्वज्ञाः ॥ २६ ॥

व्याख्या—"एयपदेसो वि अणू णाणाखधप्पदेसदो होदि वहुदेसो" एकप्रदेशोऽपि पुद्गलपरमाणुर्नानास्कन्धरूपवहुप्रदेशत सकाशाद्वहुप्रदेशो भवति । "उवयारा" उपचाराद् व्यवहारनयात् 'तेण य काओ भणंति सव्वण्हु' तेन कारणेन कायमिति सर्वज्ञा भणन्तीति । तथाहि—यथाय परमात्मा शुद्धनिश्चयनयेन द्रव्यरूपेण शुद्धस्तथैकोऽप्यनादिकर्मवन्धवशात्स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेषाभ्या परिणम्य नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण व्यवहारेण वहुविधो भवति । तथा पुद्गलपरमाणुरपि स्वभावेनैकोऽपि शुद्धोऽपि रागद्वेषस्थानीयवन्धयोग्यस्निग्धरूक्षगुणाभ्या परिणम्य द्विअणुकादिस्कन्धरूपविभावपर्यायैर्वहुविधोवहुप्रदेशो भवति तेन कारणेन वहुप्रदेशत्वलक्षणकायत्वकारणत्वादुपचारेण कायो भण्यते । अथ मत यथा पुद्गलप-

---

धर्मद्रव्य के विद्यमान होने पर भी जीवों की गति मे कर्म, नोकर्म पुद्गल सहकारी कारण होते है और अणु तथा स्कन्ध इन भेदो वाले पुद्गलो के गमन मे कालद्रव्य सहकारी कारण होता है ॥ २५ ॥

पुद्गल परमाणु यद्यपि एक प्रदेशी है तो भी उपचार से उसको काय कहते हैं, अव ऐसा उपदेश देते है —

गाथार्थ —एक प्रदेशी भी परमाणु अनेक स्कन्ध रूप वहुप्रदेशी हो सकता है इस कारण सर्वज्ञ देव उपचार से पुद्गल परमाणु को 'काय' कहते हैं ॥ २६ ॥

वृत्त्यर्थ—"एयपदेसो वि अणू णाणाखधप्पदेसदो होदि वहुदेसो" यद्यपि पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है तथापि अनेक प्रकार के द्विअणुक आदि स्कन्ध रूप वहुत प्रदेशो के कारण वहुप्रदेशी होता है । "उवयारा" उपचार से अथवा व्यवहारनय से । "तेण य काओ भणंति सव्वण्हु" इसी कारण सर्वज्ञ देव उस पुद्गल परमाणु को काय कहते हैं । जैसे यह परमात्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा द्रव्य रूप से शुद्ध तथा एक है तो भी अनादिकर्मवन्धन के कारण स्निग्ध तथा रूक्ष गुणो के स्थानीय (वजाय) राग, द्वेष रूप परिणमन करके व्यवहारनय के द्वारा मनुष्य, नारक आदि विभाव पर्याय रूप अनेक प्रकार का होता है, उसी प्रकार पुद्गल परमाणु भी यद्यपि स्वभाव से एक और शुद्ध है तो भी रागद्वेष के स्थानभूत जो वन्ध के योग्य स्निग्ध, रूक्ष गुणो के द्वारा परिणमन करके द्वि-अणुक आदि स्कन्ध रूप जो विभाव पर्याय है उनके द्वारा अनेक प्रकार का वहुत प्रदेशो वाला हो जाता है । इसीलिये वहु-प्रदेशता रूप कायत्व का कारण होने से पुद्गल परमाणु को सर्वज्ञ भगवान् व्यवहार से काय कहते है ।

यदि कोई ऐसा कहे कि जैसे द्रव्य रूप से एक भी पुद्गल परमाणु के द्वि-अणुक आदि स्कन्ध

रमाणोर्द्रव्यरूपेणैकस्यापि द्व्यणुकादिस्कन्धपर्यायरूपेण बहुप्रदेशरूप कायत्व जात तथा कालाणोरपि द्रव्येणैकस्यापि पर्यायेण कायत्व भवत्विति ? तत्र परिहार –स्निग्धरूक्षहेतुकस्य बन्धस्याभावान्न भवति । तदपि कस्मात् ? स्निग्धरूक्षत्व पुद्गलस्यैव धर्मो यत कारणादिति । अणुत्व पुद्गलसज्ञा, कालस्याणुसज्ञा कथमिति चेत् ? तत्रोत्तरम्–अणुशब्देन व्यवहारेण पुद्गला उच्यन्ते निश्चयेन तु वर्णादिगुणाना पूरणगलनयोगात्पुद्गला इति वस्तुवृत्त्या पुनरणुशब्द सूक्ष्मवाचक । तद्यथा–परमेण प्रकर्षेणाणु । अणु कोऽर्थ ? सूक्ष्म, इति व्युत्पत्त्या परमाणु । स च सूक्ष्मवाचकोऽणुशब्दो निर्विभागपुद्गलविवक्षाया पुद्गलाणु वदति । अविभागिकालद्रव्यविवक्षाया तु कालाणु कथयतीत्यर्थ ॥ २६ ॥

अथ प्रदेशलक्षणमुपलक्षयति –

जावदिय आयास अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्ध ।
त खु पदेस जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिह ॥ २७ ॥

यावतिक आकाश अविभागिपुद्गलाण्ववष्टब्धम् ।
तं खलु प्रदेश जानीहि सर्वाणुस्थानदानार्हम् ॥ २७ ॥

पर्याय द्वारा बहु-प्रदेश रूप कायत्व सिद्ध हुआ है, ऐसे ही द्रव्य रूप से एक होने पर भी कालाणु के पर्याय द्वारा कायत्व सिद्ध होता है । इसका परिहार करते हैं कि स्निग्ध रूक्ष गुण के कारण होने वाले बन्ध का कालद्रव्य मे अभाव है इसलिये वह काय नही हो सकता । ऐसा भी क्यो ? क्योकि स्निग्ध रूक्षपना पुद्गल का ही धर्म है । काल मे स्निग्ध रूक्ष नही है अत उनके विना बन्ध नही होता ।

कदाचित् यह पूछो कि 'अणु' यह तो पुद्गल की सज्ञा है, काल की 'अणु' सज्ञा कैसे हुई ? इसका उत्तर यह है कि—'अणु' इस शब्द द्वारा व्यवहारनय से पुद्गल कहे जाते हैं और निश्चयनय से तो वर्ण आदि गुणो के पूरण तथा गलन के सम्बन्ध से पुद्गल कहे जाते हे, वास्तव मे 'अणु' शब्द सूक्ष्म का वाचक है, जैसे परम अर्थात् अत्यन्त रूप से जो अणु हो सो 'परमाणु' हे । अणु का क्या अर्थ है ? "सूक्ष्म" इस व्युत्पत्ति से परमाणु शब्द 'अतिसूक्ष्म' पदार्थ को कहता है और वह सूक्ष्मवाचक अणु शब्द निर्विभाग पुद्गल की विवक्षा (कहने की इच्छा) मे पुद्गल अणु को कहता है और अविभागी कालद्रव्य के कहने की जब इच्छा होती है तब 'कालाणु' को कहता है ॥ २६ ॥

अब प्रदेश का लक्षण कहते हैं —

गाथार्थ —जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है उसको सब परमाणुओं को स्थान देने मे समर्थ प्रदेश जानो ॥ २७ ॥

वृत्त्यर्थ —"जावदिय आयास अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्ध त खु पदेस जाणे" हे शिष्य ! जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से घिरा हे उसको स्पष्ट रूप से प्रदेश जानो । वह प्रदेश "सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं" सब परमाणु और सूक्ष्म स्कन्धो को स्थान देने के लिये समर्थ है, क्योकि ऐसी अवगाहन

व्याख्या—"जीवदव्विय आयास अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्ध त खु पदेस जाणे" याव-त्प्रमाणमाकाशमविभागिपुद्गलपरमाणुना विष्टब्ध व्याप्त तदाकाश खु स्फुट प्रदेश जानीहि। हे शिष्य ! कथभूत "सव्वाणुट्ठाणदाणरिह" सर्वाणूना सर्वपरमाणूना सूक्ष्मस्कन्धाना च स्थानदानस्यावकाशदानस्यार्ह योग्य समर्थमिति। यत एवेत्थभूतावगाहनशक्तिरस्त्याकाशस्य तत् एवासख्यातप्रदेशेऽपि लोके अनन्तानन्तजीवास्तेभ्योऽप्यनन्तगुणपुद्गला अवकाश लभन्ते। तथा चोक्तम्, जीवपुद्गलविषयेऽवकाशदानसामर्थ्यम् 'एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहि अणतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ १ ॥ ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहि सव्वदो लोगो। सुहमेहि वादरेहि य णताणतेहि विविधेहि ॥ २ ॥ अथ मत मूर्त्तपुद्गलाना विभागो भेदो भवतु नास्ति विरोध, अमूर्त्तखण्डस्याकाशद्रव्यस्य कथ विभागकल्पनेति ? तन्न। रागाद्युपाधिरहितस्वसवेदनप्रत्यक्षभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्तस्य मुनियुगलस्यावस्थानक्षेत्रमेकमनेक वा। यद्येक, तर्हि द्वयोरेकत्व प्राप्नोति, न च तथा। भिन्न चेत्तदा निर्विभागद्रव्यस्यापि विभागकल्पनमायात घटाकाशपटाकाशमित्यादिवदिति ॥ २७ ॥ एव सूत्रपञ्चकेन पञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा तृतीयोऽन्तराधिकार ॥

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवविरचिते द्रव्यसग्रहग्रन्थे नमस्कारादिसप्तविशतिगाथाभिरन्तराधिकारत्रयसमुदायेन षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोऽधिकार समाप्त।

शक्ति आकाश मे है। इसी कारण असख्यातप्रदेशी लोकाकाश मे अनन्तानन्त जीव तथा उन जीवो से भी अनन्तगुणे पुद्गल समा जाते है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल के विषय मे भी अवकाश देने की सामर्थ्य आगम मे कही है। "एक निगोद शरीर मे द्रव्य-प्रमाण से भूतकाल के सब सिद्धो से भी अनन्तगुणे जीव देखे गये है। १। यह लोक सब तरफ से विविध तथा अनन्तानन्त सूक्ष्म और बादर पुद्गलो द्वारा अतिसघन भरा हुआ है। २।"

यदि किसी का ऐसा मत हो कि "मूर्तिमान् पुद्गलो के तो अणु तथा स्कन्ध आदि विभाव हो, इसमे तो कुछ विरोध नही, किन्तु अखड अमूर्त्तिक आकाश की विभाग कल्पना कैसे हो सकती है ?" यह शका ठीक नही क्योकि राग आदि उपाधियो से रहित निजआत्म-अनुभव की प्रत्यक्ष भावना से उत्पन्न सुख रूप अमृत रस के आस्वादन से तृप्त ऐसे दो मुनियो के रहने का स्थान एक है अथवा अनेक यदि दोनो का निवास क्षेत्र एक ही है तब तो दोनो एक हुए परन्तु ऐसा है नही। यदि भिन्न मानो तो घट का आकाश तथा पट का आकाश की तरह विभाग रहित आकाश द्रव्य की भी विभाग कल्पना सिद्ध हुई ॥ २७ ॥

इस तरह पाच सूत्रो द्वारा पच अस्तिकायो का निरूपण करने वाला तीसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव विरचित द्रव्य संग्रह ग्रन्थ मे नमस्कारादि २७ गाथाओ मे तीन अन्तर अधिकारो द्वारा छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय प्रतिपादन करने वाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीयः अधिकारः

अत पर जीवपुद्गलपर्यायरूपाणामास्रवादिसप्तपदार्थानामेकादशगाथापर्यन्त व्याख्यान करोति । तत्रादौ 'आसवबधण' इत्याद्यधिकारसूत्रगाथैका, तदनन्तरमास्रवपदार्थव्याख्यानरूपेण 'आसवदि जेण' इत्यादि गाथात्रयम्, तत पर बन्धव्याख्यानकथनेन 'बज्झदि कम्म' इति प्रभृतिगाथाद्वय, ततोऽपि सवरकथनरूपेण 'चेदणपरिणामो इत्यादिसूत्रद्वय, ततश्च निर्जराप्रतिपादनरूपेण 'जहकालेण तवेण य' इति प्रभृतिसूत्रमेक, तदनन्तर मोक्षस्वरूपकथनेन 'सव्वस्स कम्मणो' इत्यादि सूत्रमेक, ततश्च पुण्यपापद्वयकथनेन 'सुहअसुह' इत्यादि सूत्रमेक चेत्येकादशगाथाभि स्थलसप्तकसमुदायेन द्वितीयाधिकारे समुदायपातनिका ।

अत्राह शिष्य —यद्येकान्तेन जीवाजीवौ परिणामिनौ भवतस्तदा सयोगपर्यायरूप एक एव पदार्थ ,यदि पुनरेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा जीवाजीवद्रव्यरूपौ द्वावेव पदार्थौ, तत आस्रवादिसप्तपदार्था कथ घटन्त इति । तत्रोत्तर—कथचित्परिणामित्वाद् घटन्ते । कथचित्परिणामित्वमिति कोऽर्थ ? यथा स्फटिकमणिविशेषो यद्यपि स्वभावेन निर्मलस्तथापि जपापुष्पाद्युपाधिजनित पर्यायान्तर परिणति गृह्णाति । यद्यप्युपाधि गृह्णाति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वभाव न

दूसरा अधिकार

(भूमिका)

इसके पश्चात् जीव और पुद्गल द्रव्य के पर्याय रूप आस्रव आदि ७ पदार्थों का ११ गाथाओ द्वारा व्याख्यान करते हैं। उसमे प्रथम "आसवबधण" इत्यादि अधिकार सूचन रूप २८ वी एक गाथा है। उसके पश्चात् आस्रव के व्याख्यान रूप 'आसवदि जेण' इत्यादि तीन गाथायें हैं। तदनन्तर "बज्झदि कम्म जेण" इत्यादि दो गाथाओ मे बध पदार्थ का निरूपण है। तत्पश्चात् "चेदणपरिणामो" इत्यादि ३४, ३५ वी गाथाओ मे सवर पदार्थ का कथन है। फिर निर्जरा के प्रतिपादन रूप "जह कालेण तवेण य" इत्यादि ३६ वी एक गाथा है। उसके बाद मोक्ष के निरूपण रूप "सव्वस्स कम्मणो" इत्यादि ३७ वी एक गाथा है। तदनन्तर पुण्य, पाप पदार्थों के कथन करने वाली "सुहअसुह" इत्यादि एक गाथा है। इस तरह ११ गाथाओ द्वारा सप्त स्थलो के समुदाय सहित द्वितीय अधिकार की भूमिका समझनी चाहिए।

यहा शिष्य प्रश्न करता है कि यदि जीव, अजीव यह दोनों द्रव्य सर्वथा एकान्त से परिणामी ही है तो संयोग पर्याय रूप एक ही पदार्थ सिद्ध होता है और यदि सर्वथा अपरिणामी हैं तो जीव, अजीव द्रव्य रूप दो ही पदार्थ सिद्ध होते हैं, इसलिये आस्रव आदि सात पदार्थ कैसे सिद्ध होते हैं ? उसका उत्तर कथचित् परिणामी होने से सात पदार्थों का कथन सगत होता है। "कथचित् परिणामित्व' का क्या अर्थ है ? वह इस प्रकार है—जैसे स्फटिकमणि यद्यपि स्वभाव से निर्मल है फिर भी जपापुष्प (लाल

त्यजति तथा जीवोऽपि यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्तथाप्यनादिकर्मबन्धपर्यायवशेन रागादिपरद्रव्योपाधिपर्यायं गृह्णाति। यद्यपि परपर्यायेण परिणमति तथापि निश्चयेन शुद्धस्वरूपं न त्यजति। पुद्गलोऽपि तथेति। परस्परसापेक्षत्वं कथंचित्परिणामित्वशब्दस्यार्थः। एवं कथंचित्परिणामित्वे सति जीवपुद्गलसंयोगपरिणतिनिर्वृत्तत्वादास्रवादिसप्तपदार्था घटन्ते। ते च पूर्वोक्तजीवाजीवपदार्थाभ्यां सह नव भवन्ति तत एव नव पदार्थाः। पुण्यपापपदार्थद्वयस्याभेदनयेन कृत्वा पुण्यपापयोरास्रवपदार्थस्य, बन्धपदार्थस्य वा मध्ये अन्तर्भावविवक्षया सप्ततत्त्वानि भण्यन्ते। हे भगवन्! यद्यपि कथंचित्परिणामित्वबलेन भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन नवपदार्थाः सप्ततत्त्वानि वा सिद्धानि तथापि तैः किं प्रयोजनम्। यथैवाभेदनयेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्यान्तर्भावो जातस्तथैव विशेषाभेदनयविवक्षायामास्रवादिपदार्थानामपि जीवाजीवद्वयमध्येऽन्तर्भावे कृते जीवाजीवौ द्वावेव पदार्थाविति। तत्र परिहारः—हेयोपादेयतत्त्वपरिज्ञानप्रयोजनार्थमास्रवादिपदार्था व्याख्येया भवन्ति। तदेव कथयति—उपादेयतत्त्वमक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षः, मोक्षस्य कारणं संवरनिर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणलक्षणं निश्चयरत्नत्रयस्वरूपं,

---

फूल) आदि के संसर्ग से लाल आदि अन्य पर्याय रूप परिणमती है (बिलकुल सफेद स्फटिक मणि के साथ जब जपाफूल होता है तब वह उस फूल की तरह लाल रंग का हो जाता है।) स्फटिक मणि यद्यपि लाल उपाधि ग्रहण करती है फिर भी निश्चयनय से अपने सफेद निर्मल स्वभाव को नहीं छोड़ती इसी तरह जीव भी यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से स्वभाविक शुद्ध-चिदानन्दस्वभाव वाला है फिर भी अनादि कर्म-बंध रूप पर्याय के कारण राग आदि परद्रव्यजनित उपाधिपर्याय को ग्रहण करता है। यद्यपि जीव पर पर्याय रूप परिणमन करता है तो भी निश्चयनय से अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं छोड़ता इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के विषय मे जानना चाहिये। परस्पर अपेक्षा सहित होना यही "कथंचित्परिणामित्व" शब्द का अर्थ है। इस प्रकार कथंचित् परिणामित्व सिद्ध होने पर, जीव और पुद्गल के संयोग परिणति से बने हुए आस्रव आदि सप्त पदार्थ घटित होते हैं और वे सात पदार्थ पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्यों सहित ६ हो जाते है इसलिये नौ पदार्थ कहे जाते हैं। अभेदनय की अपेक्षासे पुण्य और पाप पदार्थका आस्रव पदार्थ मे याबन्ध पदार्थ मे अन्तर्भाव करने से सात तत्त्व कहे जाते हैं। शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! यद्यपि कथंचित्परिणामित्वके बलसे भेदप्रधान पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा ९ पदार्थ ७ तत्त्व सिद्ध हो गये किन्तु इनमे प्रयोजनक्या सिद्ध हुआ? जैसे अभेदनय की अपेक्षा पुण्य, पाप इन दो पदार्थों का सात पदार्थो मे अंतर्भाव हुआ है उसी तरह विशेष अभेदनयकी अपेक्षासे आस्रवादि पदार्थो का भी जीव, अजीव इन दो पदार्थो में अन्तर्भाव कर लेनेसे जीव तथा अजीव ये दो पदार्थ सिद्ध होते है? इन दोनो शंकाओ का परिहार करते हैं कि—"कौन तत्त्व हेय है और कौन तत्त्व उपादेय है" इस विषय का परिज्ञान कराने के

---

१ 'परिणमति' इति पाठान्तरं

तत्साधक व्यवहाररत्नत्रयरूप चेति । इदानी हेयतत्त्व कथ्यते—आकुलत्वोत्पादक नारकादि-दु ख निश्चयेनेन्द्रियसुख च हेयतत्त्वम् । तस्य कारण ससार, ससारकारणमास्रवबन्धपदार्थद्वय, तस्य कारण पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयरत्नत्रयाद्विलक्षण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रत्रयमिति । एव हेयोपादेयतत्त्वव्याख्याने कृते सति सप्ततत्त्वनवपदार्था स्वयमेव सिद्धा ।

इदानी कस्य पदार्थस्य क कर्त्तेति कथ्यते—निजनिरञ्जनशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादपराङ्मुखो बहिरात्मा भण्यते । स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्ता भवति । क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकाङ्क्षादिनिदानबधेन भाविकाले पापानुबधिपुण्यपदार्थस्यापि कर्त्ता भवति । यस्तु पूर्वोक्तबहिरात्मनो विलक्षण सम्यग्दृष्टि स सवरनिर्जरामोक्षपदार्थत्रयस्य कर्ता भवति । रागादिविभावरहितपरमसामायिके यदा स्थातु समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवञ्चनार्थं ससारस्थितिच्छेद कुर्वन् पुण्यानुबधितीर्थकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवति । कर्तृत्वविषये नयविभाग कथ्यते । मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायरूपाणामास्रवबधपुण्यपापपदार्थाना कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणा पुनरशुद्धनिश्चयन-

---

लिये आस्रव आदि पदार्थ निरूपण करने योग्य हैं। इसी को कहते है, अविनाशी अनन्तसुख उपादेय तत्त्व है । उस अक्षय अनन्त सुख का कारण मोक्ष है, मोक्ष के कारण सवर और निर्जरा है । उन सवर और निर्जरा का कारण, विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला निजात्म तत्त्व का सम्यक्–श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप निश्चय रत्नत्रय है तथा उस निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहाररत्नत्रय है । अब हेयतत्त्व को कहते है—आकुलता को उत्पन्न करने वाला, नरकगति आदि का दु ख तथा निश्चय से इन्द्रियजनित सुख भी हेय यानी त्याज्य है, उसका कारण ससार है और संसार के कारण आस्रव तथा बध ये दो पदार्थ है, और उस आस्रव का तथा बंध का कारण पहले कहे हुए व्यवहार, निश्चयरत्नत्रय से विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र हैं । इस प्रकार हेय और उपादेय तत्त्व निरूपण करने पर सात तत्त्व तथा नौ पदार्थ स्वय सिद्ध हो गये ।

अब किस पदार्थ का कर्त्ता कौन है ? इस विषय का कथन करते हैं । निज निरजन शुद्ध आत्मा से उत्पन्न परम-आनन्द रूप सुखामृत-रस-आस्वाद से रहित जो जीव हैं वह बहिरात्मा कहलाता है । वह बहिरात्मा आस्रव, बंध और पाप इन तीन पदार्थों का कर्त्ता है । किसी समय जब कषाय और मिथ्यात्व का उदय मन्द हो, तब आगामी भोगो की इच्छा आदि रूप निदान बध से पापानुबन्धी पुण्य-पदार्थ का भी कर्त्ता होता है । जो बहिरात्मा से विपरीत लक्षण का धारक सम्यग्दृष्टि जीव है वह सवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थो का कर्त्ता होता है और यह सम्यग्दृष्टि जीव, जब राग आदि विभावो से रहित परम सामायिक मे स्थित नही रह सकता, उस समय विषयकषायों मे उत्पन्न होने वाले दुर्ध्यान से बचने के लिये तथा ससार की स्थिति का नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थ का भी कर्त्ता होता है । अब कर्तृत्व के विषय मे नयों का विभाग निरूपण

येनेति । सम्यग्दृष्टेस्तु सवरनिर्जरामोक्षपदार्थाना द्रव्यरूपाणा यत्कर्तृत्व तदप्यनुपचरितास-द्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणा तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेनेति । परमशुद्धनिश्चयेन तु 'ण वि उप्पज्जई, ण वि मरइ, बन्धु ण मोक्खुकरेइ । जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउ भणेइ । इति वचनाद्बन्धमोक्षो न स्त । स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया कि भण्यते—स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्य, एवभूतस्य भव्यत्वसज्ञस्य पारिणामिकभावस्य सबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिक चेति । यत एव भावना मुक्तिकारण तत एव शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति । कस्मादिति चेत् ? ध्यानभावनापर्यायो विनश्वर स च द्रव्यरूपत्वादविनश्वर इति । इदमत्र तात्पर्यं—मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहितनिजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखसवित्तिरूपा च भावना मुक्तिकारण भवति । ता च कोऽपि जन केनापि पर्यायनामान्तरेण भणतीति। एव पूर्वोक्तप्रकारेणानेकान्तव्याख्यानेनास्रवबन्धपुण्यपापपदार्था जीवपुद्गलसयोगपरिणामरूपविभावपर्यायेणोत्पद्यन्ते । सवरनिर्जरामोक्षपदार्था पुनर्जीवपुद्गलसयोगपरिणामविनाशोत्पन्नेन विवक्षि-

---

करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव के जो पुद्गल द्रव्य पर्याय रूप आस्रव, बध तथा पुण्य, पाप पदार्थों का कर्त्तापन है, सो अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा है और जीव-भाव-पुण्य-पाप पर्याय रूप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्ध निश्चयनय से है तथा सम्यक्दृष्टि जीव जो द्रव्य रूप सवर निर्जरा तथा मोक्ष पदार्थ का कर्ता है सो अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से है तथा सवर, निर्जरा मोक्षस्वरूप जीवभाव पर्याय का 'कर्ता', विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय से है और परम शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा तो न बध है न मोक्ष है। जैसा कहा भी है—'यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है, और न बध तथा न मोक्ष को करता है, इस प्रकार श्री जिनेन्द्र कहते हैं' । पूर्वोक्त विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय को आगमभाषा से क्या कहते है ? सो दिखाते है—निज शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप से जो होगा उसे 'भव्य, कहते है, इस प्रकार के भव्यत्व नामक पारिणामिक भाव से सम्बन्ध रखने वाली व्यक्ति कही जाती है अर्थात् भव्य पारिणामिक भाव की व्यक्ति यानी प्रकटता है और अध्यात्म भाषा मे उसीको 'द्रव्यशक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक भावके विषयमे भावना' कहते है । अन्य पर्याय नामो से इसी द्रव्यशक्ति रूप पारिणामिक भाव की भावना को निर्विकल्प ध्यान तथा शुद्ध उपयोग आदि कहते है । क्योकि भावना मुक्तिका कारण है, इसलिये शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येय यानी ध्यान करने योग्य है, ध्यान या भावना रूप नही होता । ऐसा क्यो ? इसका उत्तर यह है 'ध्यान या भावना' पर्याय है अतएव विनाशिक है । 'ध्येय' है, वह भावना पर्याय रहित द्रव्य रूप होनेसे विनाश रहित है । यहा तात्पर्य यह है–मिथ्यात्व राग आदि विकल्पो से रहित निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्द रूप एक सुख अनुभव रूप जो भावना है वही मुक्ति का कारण है । उसी भावना को कोई पुरुष किसी

चूलिका

अत पर पूर्वोक्तषड्द्रव्याणा चूलिकारूपेण विस्तरव्याख्यान क्रियते । तद्यथा—

परिणामि जीव-मुत्त , सपदेस एय-खेत्त-किरिया य ।
णिच्च कारण कत्ता, सव्वगदमिदर हि यपवेसे ॥ १ ॥
दुण्णि य एय एय, पच त्तिय एय दुण्णि चउरो य ।
पच य एय एय, एदेस एय उत्तर णेय ॥२॥ (युग्मम्)

व्याख्या—"परिणामि" इत्यादिव्याख्यान क्रियते । "परिणामि" परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणामाभ्या कृत्वा, शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्मुख्यवृत्त्या पुनरपरिणामीनीति । "जीव" शुद्धनिश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव शुद्धचैतन्य प्राणशब्देनोच्यते तेन जीवतीति जीव । व्यवहारनयेन पुन कर्मोदयजनितद्रव्यभावरूपैश्चतुर्भि प्राणैर्जीवति, जीविष्यति, जीवितपूर्वो वा जीव । पुद्गलादिपञ्चद्रव्याणि पुनरजीवरूपाणि । "मुत्त" अमूर्त शुद्धात्मनो विलक्षणस्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्त्तिरुच्यते,

---

इसके अनन्तर अव छह द्रव्यो का उपसहार रूप से विशेप व्याख्यान करते है —

गाथार्थः—छह द्रव्यो मे जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी है, चेतन द्रव्य एक जीव है, मूर्तिक एक पुद्गल है, प्रदेश सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पाच द्रव्य है, एक-एक सख्या वाले धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य है । क्षेत्रवान् एक आकाश द्रव्य है, क्रिया सहित जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य हैं, नित्यद्रव्य-धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार हैं, कारण द्रव्य-पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये पाच हैं, कर्त्ता-एक जीव द्रव्य है, सर्वगत (सर्व व्यापक) द्रव्य एक आकाश है (एक क्षेत्र अवगाह होने पर भी) इन छहों द्रव्य का परस्पर प्रवेश नही है । इस प्रकार छहों मूल-द्रव्यो के उत्तर गुण जानने चाहिये ॥ १ ॥ २ ॥

वृत्त्यर्थः—"परिणामि" इत्यादि गाथाओ का व्याख्यान करते है "परिणाम" स्वभाव तथा विभाव पर्यायो द्वारा परिणाम से जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी है, शेष चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) विभावव्यजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी है । "जीव"-शुद्ध निश्चयनय से निर्मल ज्ञान, दर्शन स्वभाव रूप शुद्ध चैतन्य को 'प्राण' कहते है, उस शुद्ध चैतन्य रूप प्राण से जो जीता है वह जीव है। व्यवहारनय से कर्मों के उदय से प्राप्त द्रव्य तथा भाव रूप चार प्रकार के जो इन्द्रिय, वल, आयु और श्वासोच्छ्वास नामक प्राण मे जो जीता है, जीवेगा और पहले जीता था वह जीव है। पुद्गल आदि पाच द्रव्य अजीव रूप है। "मुत्त" शुद्ध आत्मा से विलक्षण स्पर्श रू,

तत्सद्भावान्मूर्त्तं पुद्गल । जीवद्रव्य पुनरनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण मूर्त्तमपि, शुद्धनिश्चयनयेनामूर्त्तम्, धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि चामूर्त्तानि । 'सपदेस' लोकमात्रप्रमितासख्येयप्रदेशलक्षण जीवद्रव्यमादि कृत्वा पञ्चद्रव्याणि पञ्चास्तिकायसज्ञानि सप्रदेशानि । कालद्रव्य पुनर्बहुप्रदेशत्वलक्षणकायत्वाभावादप्रदेशम् । 'एय' द्रव्यार्थिकनयेन धर्माधर्माकाशद्रव्याण्येकानि भवन्ति । जीवपुद्गलकालद्रव्याणि पुनरनेकानि भवन्ति । 'खेत्त' सर्वद्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्यात् क्षेत्रमाकाशमेकम् । शेषपञ्चद्रव्याण्यक्षेत्राणि । 'किरियाय' क्षेत्रात्क्षेत्रान्तरगमनरूपा परिस्पन्दवती चलनवती क्रिया सा विद्यते ययोस्तौ क्रियावन्तौ जीवपुद्गलौ । धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि पुनर्निष्क्रियाणि । 'णिच्च' धर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि यद्यप्यर्थपर्यायत्वेनानित्यानि, तथापि मुख्यवृत्त्या विभावव्यञ्जनपर्यायाभावान्नित्यानि, द्रव्यार्थिकनयेन च. जीवपुद्गलद्रव्ये पुनर्यद्यपि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्ये तथाप्यगुरुलघुपरिणतिस्वरूपस्वभावपर्यायापेक्षया विभावव्यञ्जनपर्यायापेक्षया चानित्ये । 'कारण' पुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्याणि व्यवहारनयेन जीवस्यशरीरवाड्मन प्राणापानादिगतिस्थित्यवगाहवर्त्तनाकार्याणि कुर्वन्तीति कारणानि भवति । जीवद्रव्य पुनर्यद्यपि गुरुशिष्यादिरूपेण परस्परोपग्रह करोति

गन्ध तथा वर्ण वाला मूर्त्ति कहा जाता है, उस मूर्त्ति के सद्भाव से पुद्गल मूर्त्त है । जीवद्रव्य अनुचरित असद्भूत-व्यवहारनय से मूर्त्त है, किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अमूर्त्त है । धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य भी अमूर्तिक है । "सपदेस" लोकाकाश के बराबर असख्यात प्रदेशो को धारण करने से पचास्तिकाय नामक जीव आदि पाच द्रव्य बहु-प्रदेशी है और बहु-प्रदेश रूप कायत्व के न होने से कालद्रव्य अप्रदेश (एक-प्रदेशी) है । "एय" द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा धर्म, अधर्म, तथा आकाश ये तीन द्रव्य एक एक है । जीव, पुद्गल तथा काल ये तीन द्रव्य अनेक है । "खेत्त" सब द्रव्यो को स्थान देने का सामर्थ्य होने से क्षेत्र एक आकाश द्रव्य है, शेप पाच द्रव्य क्षेत्र नही है । "किरियाय" एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे गमन रूप हिलने वाली अथवा चलने वाली जो क्रिया है, वह क्रिया जिनमे है ऐसे क्रियावान् जीव, पुद्गल ये दो द्रव्य है । धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य क्रियाशून्य है । "णिच्च" धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य यद्यपि अर्थपर्याय के कारण अनित्य है, फिर भी मुख्य रूप से इनमे विभाव व्यजन पर्याय नही होती इसलिये ये नित्य है, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा भी नित्य है । जीव, पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य है । तो भी अगुरुलघुगुण के परिणाम रूप स्वभाव पर्याय की अपेक्षा तथा विभावव्यजन पर्याय की अपेक्षा अनित्य हैं । 'कारण' पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल द्रव्यो मे से व्यवहारनय की अपेक्षा जीव के शरीर, वचन, मन, श्वास, नि.श्वास आदि कार्य तो पुद्गल द्रव्य करता है और गति, स्थिति, अवगाह तथा वर्त्तना रूप कार्य क्रम से धर्म आदि चार द्रव्य करते है, इस कारण पुद्गलादि पाच द्रव्य 'कारण' हैं । जीवद्रव्य यद्यपि गुरु, शिष्य आदि रूप से आपस मे एक दूसरे का उपकार करता है फिर भी पुद्गलआदि पाच द्रव्यो के लिये जीव कुछ भी नही करता, इसलिये 'अकारण' है । "कत्ता" शुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा जीव यद्यपि

तथापि पुद्गलादिपचद्रव्याणा किमपि न करोतीत्यकारणम् । 'कत्ता' शुद्धपारिणामिकपरम-भावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन यद्यपि बधमोक्षद्रव्यभावरूपपुण्यपापघटपटादीनामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनिश्चयेन शुभाशुभोपयोगाभ्या परिणत सन् पुण्यपापबधयो कर्त्तातत्फल-भोक्ता च भवति । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मद्रव्यस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण शुद्धोपयोगेन तु परिणत सन् मोक्षस्यापि कर्त्ता तत्फलभोक्ता चेति । शुभाशुभशुद्धपरिणा-माना परिणमनमेव कर्तृत्व सर्वत्र ज्ञातव्यमिति । पुद्गलादिपचद्रव्याणा च स्वकीयस्वकीय-परिणामेन परिणमनमेव कर्तृत्वम्, वस्तुवृत्त्या पुन पुण्यपापादिरूपेणाकर्तृत्वमेव । 'सव्व-गद' लोकालोकव्याप्त्यपेक्षया सर्वगतमाकाश भण्यते । लोकव्याप्त्यपेक्षया धर्माधर्मौ च । जीवद्रव्य पुनरेकजीवापेक्षया लोकपूरणावस्था विहायासर्वगत, नानाजीवापेक्षया सर्वगतमेव भवति, पुद्गलद्रव्य पुनर्लोकरूपमहास्कन्धापेक्षया सर्वगत, शेषपुद्गलापेक्षया सर्वगत न भवति, कालद्रव्य पुनरेककालाणुद्रव्यापेक्षया सर्वगत न भवति, लोकप्रदेशप्रमाणनानाकाला-णुविवक्षया लोके सर्वगतं भवति । 'इदरहि यपवेसे' यद्यपि सर्वद्रव्याणि व्यवहारेणैकक्षेत्रा-वगाहेनान्योन्यप्रवेशेन तिष्ठन्ति तथापि निश्चयनयेन चेतनादिस्वकीयस्वरूप न त्यजन्तीति । अत्र षड्द्रव्येषु मध्ये वीतरागचिदानन्दैकादिगुणस्वभाव शुभाशुभमनोवचनकाय व्यापाररहित निजशुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयमिति भावार्थ: ।

बध मोक्ष के कारणभूत द्रव्य-भाव रूप पुण्य, पाप, घट, पट आदि का कर्त्ता नही है किन्तु अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा शुभ, अशुभ उपयोगो मे परिणत होकर पुण्य, पाप बध का कर्त्ता और उनके फलोका भोक्ता होता है । तथा विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज शुद्ध आत्मा द्रव्यके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप शुद्धोपयोग से परिणत होकर यह जीव मोक्षका भी कर्त्ता और उसके फलका भोगने वाला होता है । यहा सब जगह शुभ, अशुभ तथा शुद्ध परिणामो परिणमन का ही कर्त्ता जानना चाहिए । पुद्गल आदि पांच द्रव्यो के तो अपने-अपने परिणाम से जो परिणमन है वही कर्तृत्व है और वास्तव मे पुण्य, पाप आदि की अपेक्षा अकर्तापना ही है ।। "सव्वगद" लोक और अलोक व्यापक होने की अपेक्षा आकाश सर्वगत कहा जाता है, लोक मे सर्वव्यापक होने की अपेक्षा धर्म और अधर्म सर्वगत है । जीवद्रव्य एक जीव की अपेक्षा से लोकपूर्ण समुद्घात के सिवाय असर्वगत है किन्तु अनेक जीवो की अपेक्षा सर्वगत ही है । पुद्-गल द्रव्य लोकव्यापक महास्कन्ध की अपेक्षा सर्वगत है और शेष पुद्गलो की अपेक्षा असर्वगत है, एक कालाणुद्रव्य की अपेक्षा तो कालद्रव्य सर्वगत नही है किन्तु लोक प्रदेश के बराबर अनेक कालाणुओ की अपेक्षा कालद्रव्य लोक मे सर्वगत है । "इदरहि यपवेसे" यद्यपि व्यवहारनय से सब द्रव्य एक क्षेत्र मे रहने के कारण आपस मे प्रवेश करके रहते है, फिर भी निश्चयनय से चेतना आदि अपने २ स्वरूप को नही छोडते । इसका साराश यह है कि इन छह द्रव्यो मे वीतराग, चिदानन्द, एक शुद्ध बुद्ध आदि गुण स्व-भाव वाला और शुभ, अशुभ मन, वचन और काय के व्यापारसे रहित निज शुद्ध-आत्म-द्रव्य ही उपादेय है

अत ऊर्ध्वं पुनरपि षड्द्रव्याणां मध्ये हेयोपादेयस्वरूपं विशेषेण विचारयति। तत्र शुद्धनिश्चयनयेन शक्तिरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् सर्वे जीवा उपादेया भवन्ति। व्यक्तिरूपेण पुन. पञ्चपरमेष्ठिन एव। तत्राप्यर्हत्सिद्धद्वयमेव। तत्रापि निश्चयेन सिद्ध एव। परमनिश्चयेन तु भोगाकाङ्क्षादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमसमाधिकाले सिद्धसदृश स्वशुद्धात्मैवोपादेय शेषद्रव्याणि हेयानीति तात्पर्यम्। शुद्धबुद्धैकस्वभाव इति कोऽर्थ ? मिथ्यात्वरागादिसमस्तविभावरहितत्वेन शुद्ध इत्युच्यते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितत्वाद्बुद्ध.। इति शुद्धबुद्धैकलक्षणम् सर्वत्र ज्ञातव्यम्।

चूलिकाशब्दार्थ: कथ्यते–चूलिका विशेषव्याख्यानम्, अथवा उक्तानुक्तव्याख्यानम्, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानम् चेति।

॥ इति षड्द्रव्यचूलिका समाप्ता ॥

तदनन्तर फिर भी छह द्रव्यो मे से क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका विशेष विचार करते है। वहा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शक्ति रूप से शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव के धारक सभी जीव उपादेय है और व्यक्ति रूप से अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पंच परमेष्ठी ही उपादेय है। उनमे भी अर्हन्त-सिद्ध ये दो ही उपादेय है। इन दो मे भी निश्चयनय की अपेक्षा सिद्ध ही उपादेय है। परम-निश्चयनय से तो भोगो की इच्छा आदि समस्त विकल्पो से रहित परमध्यान के समय सिद्ध-समान निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है अन्य सब द्रव्य हेय है, यह तात्पर्य है। "शुद्धबुद्धैकस्वभाव" इस पद का क्या अर्थ है ? इसको कहते है–मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विभावो से रहित होने के कारण आत्मा शुद्ध कहा जाता है। तथा केवलज्ञान आदि अनन्त गुणो से सहित होने के कारण आत्मा बुद्ध है। इस तरह "शुद्धबुद्धैकस्वभाव" पद का अर्थ सर्वत्र समझना चाहिए।

अब 'चूलिका' शब्द का अर्थ कहते है—किसी पदार्थ के विशेष व्याख्यान को कहे हुए विषय मे जो अनुक्त विषय है उनके व्याख्यान को अथवा उक्त, अनुक्त विषय से मिले हुए कथन को 'चूलिका' कहते है।

इस प्रकार छह द्रव्यो की चूलिका समाप्त हुई।



तस्वभावपर्यायेणेति स्थितम् । तद्यथा–

आसव बधण संवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे ।

जीवाजीवविसेसा तेवि समासेण पभणामो ।। २८ ।।

आस्रवबंधनसंवरनिर्जरमोक्षाः सपुण्यपापाः ये ।

जीवाजीवविशेषाः तान् अपि समासेन प्रभणामः ।। २८ ।।

व्याख्या—'आसव' निरास्रवस्वसवित्तिविलक्षणशुभाशुभपरिणामेन शुभाशुभकर्मागमनमास्रव । 'बधण' वधातीतशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भभावनाच्युतजीवस्य कर्मप्रदेशै. सह सश्लेषो वन्ध । 'सवर' कर्मास्रवनिरोधसमर्थस्वसवित्तिपरिणतजीवस्य शुभाशुभकर्मागमनसवरण सवर । 'णिज्जर' शुद्धोपयोगभावनासामर्थ्येन नीरसीभूतकर्मपुद्गलानामेकदेशगलन निर्जरा । 'मोक्खो' जीवपुद्गलसश्लेषरूपवन्धस्य विघटने समर्थ स्वशुद्धात्मोपलब्धिपरिणामो मोक्ष इति । 'सपुण्णपावा जे' पुण्यपापसहिता ये, 'ते वि समासेण पभणामो' यथा जीवाजीवपदार्थौ व्याख्यातौ पूर्व तथा तानप्यास्रवादिपदार्थान् समासेण सक्षेपेण प्रभणामो वय, ते च कथभूता ? "जीवाजीवविसेसा" जीवाजीवविशेषा । चैतन्यभावरूपा

अन्य नामो (निर्विकल्प ध्यान, शुद्धोपयोग आदि) के द्वारा कहता है ।

इस प्रकार अनेकान्त का आश्रय लेकर कहने से आस्रव, वन्ध, पुण्य पाप ये चार पदार्थ जीव और पुद्गल के सयोग परिणाम स्वरूप जो विभाव पर्याय है उसमे उत्पन्न होते हैं । और सवर, निर्जरा तथा मोक्ष ये तीन पदार्थ, जीव और पुद्गल के सयोग रूप परिणाम के विनाश से उत्पन्न जो विवक्षित स्वभाव पर्याय है उससे उत्पन्न होते है, यह निर्णीत हुआ ।

गाथार्थ — जीव, अजीव की पर्याय रूप जो आस्रव, वन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष पुन्य पाप (ऐसे शेष सात पदार्थ) है , इनको सक्षेप से कहते हैं ।। २८ ।।

वृत्त्यर्थः— 'आसव, आस्रव रहित निज आत्मानुभव से विलक्षण जो शुभ तथा अशुभ परिणाम है । उससे जो शुभ और अशुभ कर्मों का आगमन है सो आस्रव है । बन्धण' बन्धरहित शुद्ध आत्मोपलब्धि रूप भावना से छूटे हुए जीव का जो कर्म के प्रदेशो के साथ परस्पर मेल है, सो वन्ध है । 'संवर' कर्म-आस्रव को रोकने मे समर्थ स्वानुभव मे परिणत जीव के जो शुभ तथा अशुभ कर्मो के आने का निरोध है, वह सवर है । 'णिज्जर' शुद्धोपयोग की भावना के वल से शक्तिहीन हुए कर्म पुद्गलो के एक देश गलने को निर्जरा कहते है । ' मोक्खो' जीव, पुद्गल के वन्ध को नाश करने मे समर्थ निज शुद्ध आत्मा की उपलब्धि रूप परिणाम हैं, वह मोक्ष है । 'सपुण्णपावा जे' पुण्य पाप सहित जो आस्रव आदि पदार्थ है, 'ते वि समासेण पभणामो' उनको भी जैसे पहले जीव अजीव कहे हैं उसी प्रकार संक्षेप से कहते है । वे कैसे हैं ? जीवाजीवविसेसा' जीव तथा अजीव के विशेष (पर्याय) हैं । चैतन्यभाव रूप जीव की पर्याय

जीवस्य विशेषा । चैतन्याभावरूपा अजीवस्य विशेषा । विशेषा इत्यस्य कोऽर्थ ? पर्याया । चैतन्या अशुद्धपरिणामा जीवस्य, अचेतना कर्मपुद्गलपर्याया अजीवस्येत्यर्थ. । एवमधिकारसूत्रगाथा गता ॥ २८ ॥

अथ गाथात्रयेणास्रवव्याख्यान क्रियते । तत्रादौ भावास्रवद्रव्यास्रवस्वरूपं सूचयति.—

आसवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ २९ ॥

आस्रवति येन कर्म परिणामेन आत्मनः स विज्ञेयः ।
भावास्रवः जिनोक्तः कर्मास्रवण परः भवति ॥ २९ ॥

व्याख्या—"आसवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो" आस्रवति कर्म येन परिणामेनात्मन स विज्ञेयो भावास्रव. । कर्मास्रवनिर्मूलनसमर्थशुद्धात्मभावनाप्रतिपक्षभूतेन येन परिणामेनास्रवति कर्म, कस्यात्मन ? स्वस्य, स परिणामो भावास्रवो विज्ञेय । स च कथभूत ? "जिणुत्तो" जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्त । "कम्मासवण परो होदि" कर्मास्रवण परो भवति, ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणामास्रवणमागमनं पर । पर इति कोऽर्थ ? भावास्रवादन्यो भिन्नो । भावास्रवनिमित्तेन तैलमृक्षिताना

है और चैतन्यरहित अजीव का पर्याय है। 'विशेष' का क्या अर्थ है ? 'विशेष' का अर्थ पर्याय है। चैतन्य रूप जो अशुद्ध परिणाम है वे जीव के विशेष है और जो अचेतनकर्म पुद्गलो की पर्याय है वे अजीव के विशेष है। इस प्रकार अधिकार सूत्र गाथा समाप्त हुई ॥ २८ ॥

अब तीन गाथाओ मे आस्रव पदार्थ का वर्णन करते है, उसमे प्रथम ही भावास्रव तथा द्रव्यास्रव के स्वरूप की सूचना करते हैं —

गाथार्थ — आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है उसे श्री जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए। और जो (ज्ञानावरणादि रूप) कर्मों का आस्रव है सो द्रव्यास्रव है ॥ २९ ॥

वृत्त्यर्थ — 'आसवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेओ भावासवो' आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव हो, वह भावास्रव जानना चाहिए। कर्मास्रव के नाश करने मे समर्थ, ऐसी शुद्ध आत्मभावना से विरोधी जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है, किस आत्मा के ? अपनी आत्मा के उस परिणाम को भावास्रव जानना चाहिये। वह भावास्रव कैसा है ? 'जिणुत्तो' जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ है। 'कम्मासवण परो होदि' कर्मों का जो आगमन है वह 'पर' होता है अर्थात् ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मों का जो आगमन है वह 'पर' द्रव्यास्रव है 'पर' शब्द का क्या अर्थ है ? 'भावास्रव से अन्य या भिन्न'। जैसे तेल से चुपडे पदार्थों पर धूल का समागम होता है, उसी तरह भावास्रव के कारण जीव के द्रव्यास्रव होता है। यहा कोई शका करता है— आसवदि जेण कम्म' (जिससे कर्म का आस्रव होता है) इसी पद से ही द्रव्यास्रव आ गया फिर 'कम्मासवणं,

धूलिसमागम इव द्रव्यास्रवो भवतीति। ननु "आस्रवति येन कर्म" तेनैव पदेन द्रव्यास्रवो लब्ध, पुनरपि कर्मास्रवण परो भवतीति द्रव्यास्रवव्याख्यान किमर्थमिति यदुक्त त्वया ? तन्न। येन परिणामेन किं भवति आस्रवति कर्म, तत्परिणामस्य सामर्थ्यं दर्शित, न च द्रव्यास्रवव्याख्यानमिति भावार्थ ॥ २९ ॥

अथ भावास्रवस्वरूप विशेषेण कथयति —

मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया।

पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥ ३० ॥

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादयः अथ विज्ञेया।

पञ्च पञ्च पञ्चदश त्रय· चत्वार क्रमशः भेदा· तु पूर्वस्य ॥ ३० ॥

व्याख्या—"मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ" मिथ्यात्वाविरतिप्रमादयोगक्रोधादय। अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनक बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादक च मिथ्यात्वं भण्यते। अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्नपरमसुखामृतरतिविलक्षणा बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरति। अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूप, बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमाद। निश्चयेन निष्क्रियस्यापि परमात्मनो व्यवहारेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमोत्पन्नो मनोवचनकायवर्गणावलम्बन कर्मादानहेतुभूत आत्म-

---

परो होदि, (कर्मास्रव इससे भिन्न होता है) इस पद मे द्रव्यास्रव का व्याख्यान किस लिये किया ? समाधान—तुम्हारी यह शका ठीक नही। क्योकि 'जिस परिणाम से क्या होता है ? कर्म का आस्रव होता है' यह जो कथन है, उससे परिणाम का सामर्थ्य दिखाया गया है, द्रव्यास्रव का व्याख्यान नही किया गया' यह तात्पर्य है ॥ २९ ॥

अब भावास्रव का स्वरूप विशेष रूप से कहते हैं —

गाथार्थः—पहले (भावास्रव) के, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय (ऐसे पाच) भेद जानने चाहिये उनमे से मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाच पाच पन्द्रह, तीन और चार भेद है। (अर्थात् मिथ्यात्व के पाच, अविरति के पाच प्रमाद के पन्द्रह, योग के तीन और कषायों के चार भेद है) ॥ ३० ॥

वृत्त्यर्थ—'मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओ' मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग तथा क्रोध आदि कषाय आस्रव के भेद हैं। जो अन्तरग मे वीतराग निज आत्मतत्त्व के अनुभव रूप रुचि के विषय मे विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय मे अन्य के शुद्ध आत्म तत्त्व आदि समस्त द्रव्यो मे विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है उसे मिथ्यात्व कहते है। अन्तरङ्ग मे निज परमात्मस्वरूप भावना से उत्पन्न परम-सुख अमृत की प्रीति से विलक्षण तथा

प्रदेशपरिस्पन्दो योग इत्युच्यते । अभ्यन्तरे परमोपशममूर्तिकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभावपरमात्मस्वरूपक्षोभकारका बहिर्विषये तु परेषा सबंधित्वेन क्रूरत्वाद्यावेशरूपा क्रोधादयश्चेत्युक्तलक्षणा पञ्चास्रवा । 'अथ' अथो 'विण्णेया' विज्ञेया ज्ञातव्या । कतिभेदास्ते ? "पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु" पञ्चपञ्चपञ्चदशत्रिचतुर्भेदा क्रमशो भवन्ति पुन । तथाहि "एयंतबुद्धदरसी विवरीओ वह्म तावसो विणओ । इन्दो विय ससइदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी । १ ।" इति गाथाकथितलक्षण पञ्चविध मिथ्यात्वम् । हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाकाङ्क्षारूपेणाविरतिरपि पञ्चविधा । अथवा मन सहितपञ्चेन्द्रियप्रवृत्तिपृथिव्यादिषट्कायविराधनाभेदेन द्वादशविधा । "विकहा तहा कसाया इन्द्रियणिद्दा तहेव पणयो य । चदु चदु पणमेगेग हु ति पमादाहु पण्णरस । १ ।" इति गाथाकथितक्रमेण पञ्चदश प्रमादा । मनोवचनकायव्यापारभेदेन त्रिविधो योग, विस्तरेण पञ्चदशभेदो वा । क्रोधमानमायालोभभेदेन कषायाश्चत्वार, कषायनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा वा । एते सर्वे भेदा कस्य सम्बन्धिन. "पुव्वस्स" पूर्वसूत्रोदितभावास्रवस्येत्यर्थ ॥ ३० ॥

बाह्य विषय मे व्रत आदि को धारण न करना, सो अविरति है । अन्तरङ्ग मे प्रमादरहित शुद्ध आत्म-अनुभव से डिगाने रूप और बाह्य विषय मे मूल गुणो तथा उत्तर गुणो मे मैल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है । निश्चयनय की अपेक्षा क्रियारहित परमात्मा है तो भी व्यवहारनय से वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न मन वचन काय वर्गणा को अवलम्बन करने वाला, कर्मवर्गणा के ग्रहण करने मे कारणभूत आत्मा के प्रदेशो का जो परिस्पन्द (संचलन) है उसको योग कहते है । अन्तरङ्ग मे परम उपशम-मूर्त्ति केवलज्ञान आदि अनन्त, गुण-स्वभाव परमात्मरूप मे क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा बाह्य विषय मे अन्यपदार्थो के सम्बन्ध से क्रूरता आवेश रूप क्रोध आदि (कषाय) है । इस प्रकार मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, योग तथा कषाय ये पाच भावास्रव है । 'अथ, अहो, 'विण्णेया, ये जानने चाहियें । इन पाच भावास्रवो के कितने भेद है ? 'पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु' उन मिथ्यात्व आदि के क्रम से पाच, पाच, पन्द्रह, तीन और चार भेद है । बौद्धमत एकान्त मिथ्यात्वी है, याज्ञिक ब्रह्म विपरीतमिथ्यात्व के धारक है, तापस विनयमिथ्यात्वी है, इन्द्राचार्य संशयमिथ्यात्वी है और मस्करी अज्ञान मिथ्यात्वी है । १ । इस गाथा के कथनानुसार ५ तरह का मिथ्यात्व है । हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह मे इच्छा रूप अविरति भी पाच प्रकार की है अथवा मन और पाचो इन्द्रियो की प्रवृत्ति रूप ६ भेद तथा छहकाय के जीवो की विराधना रूप ६ भेद ऐसे बारह प्रकार की भी अविरति है । "चार विकथा, चार कषाय, पाच इन्द्रिय, निद्रा और राग ऐसे पन्द्रह प्रमाद होते है । मनोव्यापार, वचन व्यापार और कायव्यापार इस तरह योग तीन प्रकार का है, अथवा विस्तार से १५ प्रकार का है । क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन भेदो मे कषाय चार प्रकार के हैं, अथवा १६ कषाय और ९ नोकषाय इन भेदो से पच्चीस प्रकार के कषाय हैं । ये सब भेद किस आस्रव के है ? "पुव्वस्स" पूर्व गाथा मे कहे भावास्रव के हैं ॥ ३० ॥

अथ द्रव्यास्रवस्वरूपमुद्योतयति —

णाणावरणादीणं जोग्गं ज पुग्गल समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ ३१ ॥

ज्ञानावरणादीना योग्य यत् पुद्गल समास्रवति ।
द्रव्यास्रव स ज्ञेय अनेकभेद जिनाख्यात ॥ ३१ ॥

व्याख्या—'णाणावरणादीण' सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्दवाच्य परमात्मान वा आवृणोतीति ज्ञानावरण, तदादिर्येषा तानि ज्ञानावरणादीनि तेषा ज्ञानावरणादीना 'जोग्ग' योग्य 'ज पुग्गल समासवदि' स्नेहाभ्यक्तशरीराणा धूलिरेणुसमागम इव निष्कषायशुद्धात्मसवित्तिच्युतजीवाना कर्मवर्गणारूप यत्पुद्गलद्रव्य समास्रवति, 'दव्वासओ स णेओ' द्रव्यास्रव स विज्ञेय । 'अणेयभेओ' स च ज्ञानदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसज्ञानामष्टमूलप्रकृतीना भेदेन, तथैव 'पण णव दु अट्ठवीसा चउ तियणवदी य दोण्णि पचेव । बावण्णहीण वियसय-पयडिविणासेण होति ते सिद्धा ॥ १ ॥' इति गाथाकथितक्रमेणाष्टचत्वारिंशदधिकशत-सख्याप्रमितोत्तरप्रकृतिभेदेन तथा चासख्येयलोकप्रमितपृथिवीकायनामकर्माद्युत्तरोत्तर-प्रकृतिरूपेणानेकभेद इति 'जिणक्खादो' जिनख्यातो जिनप्रणीत इत्यर्थ ॥ ३१ ॥ एवमा-स्रवव्याख्यानगाथात्रयेण प्रथमस्थल गतम् ।

अब द्रव्यास्रव का स्वरूप कहते है —

गाथार्थ—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मो के योग्य जो पुद्गल आता है उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये। वह अनेक भेदो वाला है, ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है ॥ ३१ ॥

वृत्त्यर्थ—"णाणावरणादीण सहज शुद्ध केवल ज्ञान को अथवा अभेद की अपेक्षा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणो के आधार भूत, 'ज्ञान, शब्द से कहने योग्य परमात्मा को जो आवृत करे यानी ढके सो ज्ञानावरण है। वह ज्ञानावरण है आदि मे जिनके ऐसे जो ज्ञानावरणादि है उनके 'जोग्ग योग्य ज' जो 'पुग्गल' पुद्गल' समासवदि, आता है जैसे तेल से चुपडे शरीर वाले जीवो की देह पर धूल के कण आते हैं, उसी प्रकार कषाय रहित शुद्ध आत्मानुभूति से रहित जीवो के जो कर्म वर्गणा रूप पुद्गल आता है, 'दव्वासओ स णेओ, उसको द्रव्यास्रव जानना चाहिये । 'अणेयभेओ वह अनेक प्रकार का है, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय ये आठ मूल कर्म प्रकृति है तथा 'ज्ञानावरणीय के पाच, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के २८, आयु के ४-नाम के ९३, गोत्र के २ और अन्तरायके पाच इस प्रकार १४८ प्रकृतियो के नाश होने से सिद्ध होते है।, (सिद्ध भक्ति गाथा ८) इस गाथा मे कहे हुए क्रम से एक सौ अडतालीस १४८ उत्तर प्रकृतियां है और असंख्यात लोकप्रमाण जो पृथिवीकाय नामकर्म आदि उत्तरोत्तर प्रकृति भेद है उनकी अपेक्षा कर्म अनेक

अत परं सूत्रद्वयेन बन्धव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ गाथापूर्वार्धेन भावबन्ध-मुत्तरार्धेन तु द्रव्यबन्धस्वरूपमावेदयति —

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबधो सो।

कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ ३२ ॥

बध्यते कर्म येन तु चेतनभावेन भावबन्धः सः।

कर्मात्मप्रदेशानां अन्योन्यप्रवेशनं इतरः ॥ ३२ ॥

व्याख्या—'बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबन्धो सो' बध्यते कर्म येन चेतनभावेन स भावबन्धो भवति। समस्तकर्मबन्धविध्वंसनसमर्थाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमचैतन्यविलासलक्षणज्ञानगुणस्य, अभेदनयेनानन्तज्ञानादिगुणाधारभूतपरमात्मनो वा संबन्धिनी या तु निर्मलानुभूतिस्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाऽशुद्ध-चेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते। 'कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो' कर्मात्मप्रदेशानामन्योन्यप्रवेशनमितरः। तेनैव भावबन्धनिमित्तेन कर्मप्रदेशानामात्मप्रदेशानां च क्षीरनीरवदन्योन्यं प्रवेशनं संश्लेषो द्रव्यबन्ध इति ॥ ३२ ॥

प्रकार का है। 'जिणक्खादो' यह श्री जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार आस्रव के व्याख्यान की तीन गाथाओं से प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

अब इसके आगे दो गाथाओं में बन्ध का व्याख्यान करते हैं। उसमें प्रथम गाथा के पूर्वार्ध से भावबन्ध और उत्तरार्ध में द्रव्यबन्ध का स्वरूप कहते हैं—

गाथार्थ —जिस चेतनभाव से कर्म बंधता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश अर्थात् कर्म और आत्मप्रदेशों का एकमेक होना द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

वृत्त्यर्थ —'बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबधो सो' जिस चैतन्य भाव से कर्म बंधता है, वह भावबंध है। समस्त कर्मबंध नष्ट करने में समर्थ, अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभास रूप परम-चैतन्य विलास-लक्षण का धारक ज्ञान गुण की या अभेदनय की अपेक्षा अनन्तज्ञान आदि गुणों के आधारभूत परमात्मा की जो निर्मल अनुभूति है उससे विरुद्ध मिथ्यात्व, राग आदि में परिणति रूप अशुद्ध-चेतन भाव-स्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बंधते हैं वह परिणाम भावबंध कहलाता है। 'कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो' कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर मिलना दूसरा है, अर्थात् उस भावबंध के निमित्त से कर्म के प्रदेशों का और आत्मा के प्रदेशों का जो दूध और जल की तरह एक दूसरे में प्रवेश होकर मिल जाना है सो द्रव्यबंध है ॥ ३२ ॥

अब गाथा के पूर्वार्ध से उसी बंध के प्रकृतिबंध आदि चार भेदों को कहते हैं और उत्तरार्ध से उनके कारण का कथन करते हैं।—

अथ तस्यैव बन्धस्य गाथापूर्वार्धेन प्रकृतिबन्धादिभेदचतुष्टय कथयति, उत्तरार्धेन तु प्रकृतिबन्धादीना कारण चेति ।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बन्धो ।

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥ ३३ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात् तु चतुर्विधः बन्धः ।

योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः भवतः ॥ ३३ ॥

व्याख्या—'पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बन्धो' प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधो बन्धो भवति । तथाहि—ज्ञानावरणीयस्य कर्मण का प्रकृति ? देवतामुखवस्त्रमिव ज्ञानप्रच्छादनता । दर्शनावरणीयस्य का प्रकृति ? राजदर्शनप्रतिषेधकप्रतीहारवद्दर्शनप्रच्छादनता । सातासातवेदनीयस्य का प्रकृति ? मधुलिप्तखड्गधारास्वादनवदल्पसुखबहुदु खोत्पादकता । मोहनीयस्य का प्रकृति ? मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता । आयु कर्मण का प्रकृति ? निगडवद्गत्यन्तरगमननिवारणता । नामकर्मण का प्रकृति ? चित्रकारपुरुषवन्नानारूपकरणता । गोत्रकर्मण का प्रकृति ? गुरुलघुभाजनकारककुम्भकारवदुच्चनीचगोत्रकरणता । अन्तरायकर्मण का प्रकृति ? भाण्डागारिकवद्दानादिविघ्नकरणतेति । तथाचोक्त— 'पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभडयारीण । जह एदेसि भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा ॥ १ ॥' इति दृष्टान्ताष्टकेन प्रकृतिबन्धो ज्ञातव्य । अजागोमहिष्यादिदुग्धाना प्रहरद्वयादिस्वकीयमधुररसावस्था-

---

गाथार्थ —प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदो से बन्ध चार प्रकार का है । योगो से प्रकृति तथा प्रदेशबध होते है और कषायो से स्थिति तथा अनुभाग बध होते है ॥ ३३ ॥

वृत्त्यर्थ —'पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बधो' प्रकृतिबध, स्थितिबध, अनुभागबध और प्रदेशबध इस तरह बध चार प्रकार का है । ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति (स्वभाव) क्या है ? उत्तर—जैसे देवता के मुख को परदा आच्छादित कर देता है (ढक देता है) उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को ढक देता है । दर्शनावरण की प्रकृति क्या है ? राजा के दर्शन की रुकावट जैसे द्वारपाल करता है, उसी तरह दर्शनावरण दर्शन को नही होने देता । सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म की क्या प्रकृति है ? मधु (शहद) से लिपटी हुई तलवार की धार चाटने से जैसे कुछ सुख और अधिक दु ख होता है, वैसे ही वेदनीय कर्म भी अल्पसुख और अधिक दु ख देता है । मोहनीय कर्म का क्या स्वभाव है ? मद्यपान के समान, 'हेय उपादेय पदार्थ के ज्ञान की रहितता' यह मोहनीय कर्म का स्वभाव अथवा मोहनीय कर्म की प्रकृति है । आयुकर्म की क्या प्रकृति है ? बेडी के समान दूसरी गति मे जाने को रोकना, यह आयुकर्म की प्रकृति है ? नाम कर्म की प्रकृति क्या है ? चित्रकार के समान अनेक प्रकार के शरीर बनाना, यह नामकर्म की प्रकृति है । गोत्रकर्म का क्या स्वभाव है ? छोटे बड़े घट आदि को बनाने

नपर्यन्त यथा स्थितिर्भण्यते, तथा जीवप्रदेशेष्वपि यावत्कालं कर्मसम्बन्धेन स्थिति स्तवत्काल स्थितिबन्धो ज्ञातव्य । यथा च तेषामेव दुग्धाना तारतम्येन रसगतशक्तिविशेषोऽनुभागो भण्यते तथा जीवप्रदेशस्थितकर्मस्कन्धानामपि सुखदु खदानसमर्थशक्तिविशेषोऽनुभागबन्धो विज्ञेय । सा च घातिकर्मसम्बधिनी शक्तिर्लतादार्वस्थिपाषाणभेदेन१ चतुर्धा । तथैवाशुभाऽघातिकर्मसम्बधिनी निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपेण, शुभाघातिकर्मसबधिनी पुनर्गुडखण्डशर्करामृतरूपेण चतुर्धा भवति । एकैकात्मप्रदेशे सिद्धानन्तैकभागसख्या अभव्यानतगुणप्रमिता अनतानतपरमाणव प्रतिक्षणबधमायातीति प्रदेशबध । इदानी बधकारण कथ्यते । 'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुति ।' योगात्प्रकृतिप्रदेशौ, स्थित्यनुभागौ कषायतो भवत इति । तथाहि—निश्चयेन निष्क्रियाणामपि शुद्धात्मप्रदेशाना व्यवहारेण परिस्पदनहेतुर्योग, तस्मात्प्रकृतिप्रदेशबधद्वयं भवति । निर्दोषपरमात्मभावनाप्रतिबंधकक्रोधादिकषायोदयात् स्थित्यनुभागबधद्वय भवतीति । आस्रवे बधे च मिथ्यात्वाविरत्यादिकारणानि समानानि को विशेष । इति चेत्, नैव, प्रथमक्षणे कर्मस्कधानामागमनमास्रव,

वाले कुम्भकार की तरह उच्च-नीच गोत्र का करना, यह गोत्र कर्म की प्रकृति है । अन्तरायकर्म का स्वभाव क्या है ? भडारीके समान 'दान आदि मे विघ्न करना', यह अन्तरायकर्म की प्रकृति है । सो ही कहा है 'पट प्रतीहार, द्वारपाल, तलवार, मद्य, बेडी चितेरा, कुम्भकार और भडारी इन आठो का जैसा स्वभाव है वैसा ही क्रम से ज्ञानावरण आदि आठो कर्मो का स्वभाव जानना चाहिये ।। १ ।। इस प्रकार गाथा मे कहे हुए आठ दृष्टान्तो के अनुसार प्रकृति बंध जानना चाहिए । बकरी, गाय, भैंस आदि के दूधो मे जैसे दो पहर आदि समय तक अपने मधुर रस मे रहने की मर्यादा है, (बकरी का दूध दो पहर तक अपने रस मे ठीक स्थित रहता है, गाय, भैंस का दूध उससे अधिक देर तक ठीक बना रहता है), इत्यादि स्थिति का कथन है उसी प्रकार जीव के प्रदेशो के साथ जितने काल तक कर्मसम्बध की स्थिति है उतने काल को स्थितिबंध कहते है । जैसे उन बकरी आदि के दूध मे तारतम से हीनाधिक मीठापन व चिकनाई शक्ति रूप अनुभाग कहा जाता है, उसी प्रकार जीव प्रदेशो मे स्थित जो कर्मों के प्रदेश है, उनमे भी जो हीनाधिक सुख-दु ख देने की समर्थ शक्ति विशेष है, उसको अनुभाग बन्ध जानना चाहिये । घाति कर्म से सम्बन्ध रखने वाली वह शक्ति लता (बेल) काठ, हाड और पाषाण के भेद से चार प्रकार की है । उसी तरह अशुभ अघातिया कर्मो मे शक्ति नीम, काजीर (काली जीरी), विष तथा हालाहल रूप से चार तरह की है तथा शुभ अघातिया कर्मों की शक्ति गुड खाड, मिश्री तथा अमृत इन भेदो मे चार तरह की है । एक-एक आत्मा के प्रदेश मे सिद्धो से अनन्तवे भाग (सिद्धो के अनन्तवे भाग) और अभव्य राशि से अनन्त गुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण मे बध को प्राप्त होते है । इस प्रकार प्रदेश बध का स्वरूप है । अब बध के कारण को कहते है—'जोगो पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुन्ति" योग से प्रकृति प्रदेश और कषाय से स्थिति अनुभाग बध होते है । निश्चयनय

१—'शक्तिभेदेन' इति पाठ अन्तरं

आगमनानतर द्वितीयक्षणादौ जीवप्रदेशेष्ववस्थान बध इति भेद । यत एव योगकषाया-द्वधचतुष्टय भवति तत एव बधदिनाशार्थ योगकषायत्यागेन निजशुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् ॥ ३३ ॥ एव बधव्याख्यानेन सूत्रद्वयेन द्वितीय स्थल गतम् ।

अत ऊर्ध्व गाथाद्वयेन सवरपदार्थ कथ्यते । तत्र प्रथमगाथाया भावसंवरद्रव्यसवरस्वरूप निरूपयति —

चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।

सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥ ३४ ॥

चेतनपरिणाम य. कर्मणः आस्रवनिरोधने हेतुः ।

सः भावसवरः खलु द्रव्यास्रवरोधने अन्यः ॥ ३४ ॥

व्याख्या—"चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसंवरो खलु" चेतनपरिणामो य , कथभूत ? कर्मास्रवनिरोधने हेतु स भावसवरो भवति खलु निश्चयेन । 'दव्वासवरोहणे अण्णो' द्रव्यकर्मास्रवनिरोधने सत्यन्यो द्रव्यसवर इति । तद्यथा—निश्चयेन स्वत सिद्धत्वात्परकारणनिरपेक्ष , स चैवाविनश्वरत्वान्नित्य परमोद्योतस्वभा-

---

से क्रिया रहित शुद्ध आत्मा के प्रदेश है, व्यवहार नय से उन आत्म प्रदेशो के परिस्पदन का (चलायमान करने का) जो कारण है उसको योग कहते हैं । उस योग से प्रकृति प्रदेश दो बध होते है । दोषरहित परमात्मा की भावना (ध्यान) के प्रतिबंध करने वाले क्रोध आदि कषाय के उदय से स्थिति और अनुभाग ये दो बध होते हैं । शका—आस्रव और बध के होने मे मिथ्यात्व, अविरति आदि कारण समान है, इसलिये आस्रव और बध मे क्या भेद है ? उत्तर—यह शका ठीक नहीं । क्योकि प्रथम क्षण मे जो कर्मस्कन्धो का आगमन है वह तो आस्रव है और कर्मस्कंधो के आगमन के पीछे द्वितीय क्षण मे जो उन कर्मस्कधो का जीव के प्रदेशो म स्थित होना, सो बध है । यह भेद आस्रव और बध मे है । क्योकि योग और कषायो से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग नामक चार बध होते हैं । इस कारण बन्ध का नाश करने के लिये योग तथा कषाय का त्याग करके अपनी शुद्ध आत्मा मे भावना करनी चाहिये । यह तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

इस तरह बध के व्याख्यान रूप जो दो गाथासूत्र हैं, उनके द्वारा द्वितीय अध्याय मे द्वितीय स्थल समाप्त हुआ ।

अब इसके आगे दो गाथाओ द्वारा सवर पदार्थ का कथन करते है । उनमे से प्रथम गाथा मे भावसंवर और द्रव्यसवर का स्वरूप निरूपण करते हैं —

गाथार्थ —आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने मे कारण है, उसको भावसवर कहते है । और जो द्रव्यास्रव का रुकना है सो द्रव्यसवर है ॥ ३४ ॥

त्वात्स्वपरप्रकाशनसमर्थ , अनाद्यनन्तत्वादादिमध्यान्तमुक्त, दृष्टश्रुतानभूतभोगाकांक्षारूप-निदानबन्धादिसमस्तरागादिविभावमलरहितत्वादत्यन्तनिर्मल परमचैतन्यविलासलक्षणत्वा-दुच्छलननिर्भर स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणत्वात्परमसुखमूर्ति , निरास्रवसहजस्वभावत्वा-त्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षण परमात्मा तत्स्वभावभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणाम स भावसवरो भवति । यस्तु भावसवरात्कारणभूतादुत्पन्न कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागम-नाभाव स द्रव्यसवर इत्यर्थ ।

अथ सवरविषयनयविभाग कथ्यते । तथाहि—मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तमु-पर्युपरि मन्दत्वात्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्त्तते । तस्य मध्ये पुनर्गुणस्थानभेदेन शुभाशुभशुद्धानुष्ठानरूपउपयोगत्रयव्यापारस्तिष्ठति । तदुच्यते—मिथ्यादृष्टिसासादनमि - गुणस्थानेषूपर्युपरि मन्दत्वेनाशुभोपयोगो वर्तते, ततोऽप्यसयतसम्यग्दृष्टिश्रावकप्रमत्तसंयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते, तदनन्तरमप्रमत्ता-दिक्षीणकषायपर्यन्त जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते।

वृत्त्यर्थ —"चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू सो भावसवरो खलु" जो चेतन परिणाम कर्म—आस्रव को रोकने मे कारण है, वह निश्चय से भावसवर है। 'दव्वासवरोहणे अण्णो" द्रव्यकर्मों के आस्रव का निरोध होने पर दूसरा द्रव्यसवर होता है। वह इस प्रकार है—निश्चयनय से स्वय सिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षा से रहित, अविनाशी होने से नित्य, परम प्रकाश स्वभाव होने मे स्व-पर प्रकाशन मे समर्थ, अनादि अनन्त होने से आदि मध्य और अन्तरहित, देखे सुने और अनुभव किए हुए भोगो की आकाक्षा रूप निदान बध आदि समस्त रागादिक विभावमल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल, परम चैतन्यविलासरूप लक्षण का धारक होने से चित्—चमत्कार से भरपूर, स्वाभाविक परमानन्दस्वरूप होने से परम सुख की मूर्त्ति और आस्रवरहित-सहज-स्वभाव होने से सब कर्मो के सवर मे कारण, इन लक्षणो वाले परमात्मा के स्वभाव की भावना से उत्पन्न जो शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसवर है। कारणभूत भावसवर से उत्पन्न हुआ जो शुद्ध चेतन परिणाम है सो भावसवर से उत्पन्न हुआ जो कार्यरूप नवीन द्रव्य-कर्मों के आगमन का अभाव सो द्रव्यसवर है। यह गाथार्थ है।

अब सवर के विषय मे नयो का विभाग कहते है—मिथ्यात्व गुणस्थान से क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक ऊपर—ऊपर मन्दता की तारतम्य से अशुद्ध निश्चय वर्तता है। उस अशुद्ध निश्चयनय गुणस्थानो के भेद मे शुभ अशुभ और शुद्ध अनुष्ठानरूप तीन उपयोगो का व्यापार होता है। सो कहते हैं–मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र, इन तीनो गुणस्थानो मे ऊपर २ मन्दता से अशुभ उपयोग होता है, (जो अशुभोपयोग प्रथम गुणस्थान मे है, उससे कम दूसरे मे और दूसरे मे कम तीसरे मे है)। उसके आगे असयत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत, इन तीन गुणस्थानो मे परम्परा से शुद्ध—उपयोग का साधक ऊपर ऊपर तारतम्य से शुभ उपयोग रहता है। तदनन्तर अप्रमत्त आदि क्षीणकषाय तक ६

तत्रैव, मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तावत् संवरो नास्ति, सासादनादिगुणस्थानेषु 'सोलसपणवीसणभ दसचउछक्केक्कबंधवोछिण्णा । दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलस जोगिणो एक्को । १ ।' इति बन्धविच्छेदत्रिभङ्गीकथितक्रमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति । अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटते ? इति चेत्तत्रोत्तरं--शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते । स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते ।

कश्चिदाह--केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकलनिरावरणेन शुद्धेन भाव्यम्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । तत्रोत्तरं दीयते--युक्तमुक्तं भवता परं किन्तूपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्तनवर्णिकोपादानकार-

गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एक देश शुद्ध नयरूप शुद्ध उपयोग वर्त्तता है। इनमें से--मिथ्यादृष्टि (प्रथम) गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं। सासादन आदि गुणस्थानों में, मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान में १६ प्रकृतियों, दूसरे में २५, तीसरे में शून्य, चौथे में १०, पांचवें में ४, छठे में ६, सातवें में १, आठवें में २, ३० व ४, नौवें में ५, दसवें में १६ और सयोग केवली के १ प्रकृति की बन्ध व्युच्छत्ति होती है।" इस प्रकार बन्धविच्छेद त्रिभंगी में कहे हुए कर्म के अनुसार ऊपर ऊपर अधिकता से संवर जानना चाहिए। ऐसे अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ, शुद्ध रूप तीनों उपयोगों का व्याख्यान किया।

शंका--इस अशुद्ध निश्चयनय में शुद्ध उपयोग किस प्रकार घटित होता है ?

उत्तर--शुद्ध उपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक स्व-आत्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होता है, इस कारण उपयोगमें शुद्धध्येय होनेसे शुद्ध अवलम्बनपनेसे तथा आत्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग सिद्ध होता है। 'संवर' इस शब्द से कहे जाने वाला वह शुद्धोपयोग, संसार के कारणभूत जो मिथ्यात्व--राग आदि अशुद्ध पर्यायों की तरह अशुद्ध नहीं होता, तथा फलभूत केवलज्ञान स्वरूप शुद्ध पर्याय की भांति (वह शुद्धोपयोग) शुद्ध भी नहीं होता, किन्तु उन अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप निश्चय रत्नत्रय रूप, मोक्ष का कारण, एक देश में प्रगट रूप और एक देश में आवरणरहित ऐसा तीसरी अवस्थान्तर रूप कहा जाता है।

कोई शंका करता है--केवल ज्ञान समस्त आवरणसे रहित शुद्ध है, इसलिये केवल ज्ञानका कारण भी समस्त आवरण रहित शुद्ध होना चाहिये, क्योंकि 'उपादान कारण के समान कार्य होता है' ऐसा आगम वचन है ? इस शंका का उत्तर देते हैं--आपने ठीक कहा, किन्तु उपादान कारण भी सोलह वानी के सुव-

णवत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलोपादानकारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति। यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति, तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारणभावो न घटते। तत किं सिद्धं ? एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्तिरूप विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन संवरशब्दवाच्य शुद्धोपयोगस्वरूप मुक्तिकारण भवति। यच्च लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाट निरावरण ज्ञानं श्रूयते तदपि सूक्ष्मनिगोदसर्वजघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं, न च सर्वथा। कस्मादिति चेत् ? तदावरणे जीवाभाव प्राप्नोति। वस्तुत उपरितनक्षायोपशमिकज्ञानापेक्षया केवलज्ञानापेक्षया च तदपि सावरणं, संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावाच्च क्षायोपशमिकमेव। यदि पुनर्लोचनपटलस्यैकदेशनिरावरण वत्केवलज्ञानांश रूपं भवति तर्हि तेनैकदेशेनापि लोकालोकप्रत्यक्षता प्राप्नोति, न च तथा दृश्यते। किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्यविम्बवन्निविडलोचनपटलवद्वा स्तोक प्रकाशयतीत्यर्थः।

अथ क्षयोपशमलक्षण कथ्यते---सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिका कर्मशक्तय सर्व-

---

र्णरूप कार्य के पूर्ववर्तिनी वर्णिकारूप उपादान कारणके समान और मिट्टीका रूप घट कार्य के प्रति मिट्टी पिण्ड, स्थास, कोश तथा कुशूल रूप उपादान कारण के समान, कार्य से एक देश भिन्न होना है (सोलह वानी के सोने के प्रति जैसे पूर्व की सब पन्द्रह वर्णिकाये उपादान कारण है और घट के प्रति जैसे मिट्टी पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि उपादान कारण है, सो सोलह वानी के सुवर्ण और घट रूप कार्य से एक देश भिन्न है, बिलकुल सोलह वानी के सुवर्ण रूप और घट रूप नही है। इसी तरह सब उपादान कारण का कार्यसे एक देश भिन्न होते है)। यदि उपादान कारण का कार्यके साथ एकान्तसे सर्वथा अभेद या भेद हो तो उपर्युक्त सुवर्ण और मिट्टी के दो दृष्टान्तो के समान कार्य कारणभाव सिद्ध नही होता।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? एक देश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप लक्षणवाला एक देश व्यक्ति रूप, विवक्षित एक देश शुद्ध नय की अपेक्षा 'सवर' शब्द से वाच्य शुद्ध उपयोग स्वरूप क्षयोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण होता है। जो लब्धि अपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीव मे नित्य उद्घाटित तथा आवरण रहित ज्ञान सुना जाता है, वह भी सूक्ष्म निगोद मे ज्ञानावरण कर्म का सर्व जघन्य क्षयोपशम की अपेक्षा से आवरण रहित है, किन्तु सर्वथा आवरण रहित नही है। वह आवरण रहित क्यो रहता है ? उत्तर---यदि उस जघन्य ज्ञान का भी आवरण हो जावे तो जीव का ही अभाव हो जायेगा। वास्तव में तो उपरिवर्त्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा और केवल ज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरण सहित है, क्योंकि ससारी जीवो के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिये निगोदिया का वह ज्ञान क्षायोपशमिक ही है। यदि नेत्रपटल के एक देश मे निरावरण के समान वह ज्ञान के ल-ज्ञान का अंशरूप हो तो उस एक देश (अंश) से भी लोकालोक प्रत्यक्ष हो जाये, परन्तु ऐसा देखा नही जाता, किन्तु अधिक बादलो से आच्छादित सूर्य-बिम्ब के समान या निविड नेत्रपटल के समान, वह निगोदिया का ज्ञान सबसे थोडा जानता है, यह तात्पर्य है।

अब क्षयोपशम का लक्षण कहते हैं---सब प्रकार से आत्मा के गुणों को आच्छादन करने

घातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिका शक्तयो देशघातिस्पर्द्धकानि भण्यन्ते, सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभाव एव क्षयस्तेषामेवास्तित्वमुपशम उच्यते सर्वघात्युदयाभावलक्षणक्षयेण सहित उपशम तेषामेव देशघातिस्पर्द्धकानामुदयश्चेति समुदायेन क्षयोपशमो भण्यते । क्षयोपशमे भव क्षायोपशमिको भाव । अथवा देशघातिस्पर्द्धकोदये सति जीव एकदेशेन ज्ञानादिगुण लभते यत्र स क्षायोपशमिको भाव । तेन कि सिद्ध ? पूर्वोक्तसूक्ष्मनिगोदजीवे ज्ञानावरणीयदेशघातिस्पर्द्धकोदये सत्येकदेशेन ज्ञानगुण लभ्यते तेन कारणेन तत् क्षायोपशमिक ज्ञान, न च क्षायिक, कस्मादेकदेशोदयसद्भावादिति । अयमत्रार्थ —यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोगलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्तिकारण भवति तथापि ध्यातृपुरुषेण यदेव नित्यसकलनिरावरणमखण्डैकसकलविमलकेवलज्ञानलक्षण परमात्मस्वरूप तदेवाह, न च खण्डज्ञानरूप, इति भावनीयम् । इति सवरतत्त्वव्याख्यानविषये नयविभागो ज्ञातव्य इति ॥ ३४ ॥

अथ सवरकारणभेदान् कथयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु कै कृत्वा सवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तर ददातीति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति भगवान्—

वाली जो कर्मों की शक्तिया है उनको 'सर्वघातिस्पर्द्धक' कहते हैं। और विवक्षित एक देश से जो आत्मा के गुणो को आच्छादन करने वाली कर्मशक्तिया हैं वे 'देशघातिस्पर्द्धक' कहलाती है। सर्वघातिस्पर्द्धको के उदय का जो अभाव है सो ही क्षय है और उन्ही सर्वघातिस्पर्द्धको का जो अस्तित्व है वह उपशम कहलाता है। सर्वघातिस्पर्द्धको के उदय का अभावरूप क्षय सहित उपशम और उन (कर्मो) के एक देश घातिस्पर्द्धको का उदय होना, सो ऐसे तीन प्रकार के समुदाय से क्षयोपशम कहा जाता है। क्षयोपशम मे जो भाव हो, वह क्षायोपशमिक भाव है। अथवा देशघातिस्पर्द्धको के उदय के होने हुए, जीव जो एक देश ज्ञानादि गुण प्राप्त करता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोद जीव मे ज्ञानावरण कर्म के देशघातिस्पर्द्धको का उदय होने के कारण एकदेश से ज्ञान गुण होता है इस कारण वह ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, क्षायिक नही, क्योकि, वहा कर्म के एक देश उदय का सद्भाव है।

यहा साराश यह है—यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षणवाला क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण है तथापि ध्यान करने वाले पुरुष को, 'नित्य सकल—आवरणो से रहित, अखण्ड, एक सकल विमल—केवल ज्ञानरूप परमात्मा का जो स्वरूप है, वही मै हू, खण्ड ज्ञानरूप नही हूँ' ऐसा ध्यान करना चाहिये। इस तरह सवर तत्त्व के व्याख्यान मे नय का विभाग जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

अब सवर के कारणो के भेद कहते है, यह एक भूमिका है। किनसे सवर होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देनेवाली दूसरी भूमिका है, इन दोनो भूमिकाओं को मन मे धारण करके, श्री नेमिचन्द्र आचार्य गाथासूत्र को कहते हैं –

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ ३५ ॥

व्रतसमितिगुप्तयः धर्मानुप्रेक्षाः परीषहजयः च ।
चारित्रं बहुभेदं ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—'वदसमिदीगुत्तीओ' व्रतसमितिगुप्तयः, 'धम्माणुपेहा' धर्मस्तथैवानुप्रेक्षाः 'परीसहजओ य' परीषहजयश्च, 'चारित्त बहुभेया' चारित्रं बहुभेदयुक्तं, 'णायव्वा भावसंवरविसेसा' एते सर्वे मिलिता भावसंवरविशेषा भेदा ज्ञातव्या । अथ विस्तरः—निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादिविकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्, व्यवहारेण तत्साधकं हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च यावज्जीवनिवृत्तिलक्षणं पञ्चविधं व्रतम् । निश्चयेनानन्तज्ञानादिस्वभावे निजात्मनि सम् सम्यक् समस्तरागादिविभावपरित्यागेन तल्लीनतच्चिन्तनतन्मयत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समितिः, व्यवहारेण तद्बहिरङ्गसहकारिकारणभूताचारादिचरणग्रन्थोक्ता ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञा पञ्च समितयः । निश्चयेन सहजशुद्धात्मभावनालक्षणे गूढस्थाने संसारकारणरागादिभयात्स्वस्यात्मनो गोपनं प्रच्छादनं झम्पनं प्रवेशनं रक्षणं गुप्तिः, व्यवहारेण बहिरङ्गसाधनार्थं मनोवचनकायव्यापारनिरोधो गुप्तिः । निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति

गाथार्थ—पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय तथा अनेक प्रकार का चारित्र इस तरह ये सब भावसंवर के भेद जानने चाहिए ।

वृत्त्यर्थ—'वदसमिदीगुत्तीओ' व्रत, समिति, गुप्तियां, "धम्माणुपेहा" धर्म और अनुप्रेक्षा, 'परीसहजओ य' और परीषहों का जीतना, 'चारित्त बहुभेया' अनेक प्रकार का चारित्र, 'णायव्वा भावसंवरविसेसा' ये सब मिलकर भावसंवर के भेद जानने चाहिए । अब इसको विस्तार से कहते हैं-निश्चयनय की अपेक्षा विशुद्ध ज्ञान दर्शनरूप स्वभाव धारक निज–आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ--अशुभ राग आदि विकल्पों से रहित होना व्रत है । व्यवहारनय से उस निश्चय व्रत को साधने वाला हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्म और परिग्रह से जीवन भर त्यागरूप पांच प्रकार का व्रत है । निश्चयनय की अपेक्षा अनन्तज्ञान-आदि स्वभाव धारक निज आत्मा है, उसमें 'सम्' भले प्रकार, अर्थात् समस्त रागादि विभावों के त्याग द्वारा आत्मा में लीन होना, आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदिरूप से जो अयन कहिये गमन अर्थात् परिणमन सो 'समिति' है । व्यवहार से उस निश्चय समिति के बहिरंग सहकारी कारणभूत आचार चारित्र विषयक ग्रन्थों में कही हुई ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, उत्सर्ग ये पांच समितियां हैं । निश्चय से सहज-शुद्ध-आत्म-भावनारूप गुप्त स्थान में संसार के कारणभूत रागादि के भय से अपने आत्मा का जो छिपाना, प्रच्छादन झंपन, प्रवेशन, या रक्षा करना है, सो गुप्ति है । व्यवहारनय से बहिरंग साधन के अर्थ जो मन, वचन काय की क्रिया को रोकना सो गुप्ति है । निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे (बचावे)

विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्म , व्यवहारेण तत्साधनार्थ देवेन्द्रनरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकारो धर्म ।

तद्यथा--प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहार्थ धर्मवचन । क्रोधोत्पत्तिनिमित्ताविषह्याक्रोशादिसभवेऽकालुष्योपरम क्षमा । शरीरस्थितिहेतुमार्गणार्थ परकुलान्युपगच्छतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशोत्प्रहसनावज्ञानताडनशरीरव्यापादनादीना क्रोधोत्पत्ति निमित्ताना सन्निधाने कालुष्याभाव क्षमा इति उच्यते ॥ १ ॥ जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दव ॥ २ ॥ योगस्यावक्रता आर्जव । योगस्यकायवाङ्मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जव इति उच्यते ॥ ३ ॥ सत्सु साधुवचन सत्यं । सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचन सत्यमिति उच्यते ॥ ४ ॥ प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्ति शौच । लोभस्य निवृत्ति प्रकर्षप्राप्ता, शुचेर्भाव कर्म वा शौच इति निश्चीयते ॥ ५ ॥ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहार सयम । ईर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्तत्प्रतिपालनार्थ प्राणीन्द्रियपरिहार सयम इत्युच्यते । एकेन्द्रियादि प्राणिपीडापरिहार प्राणिसयम । शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभिष्वङ्ग इन्द्रियसयम ।

सो विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षणमयी निज शुद्ध आत्मा की भावनास्वरूप धर्म है। व्यवहारनय मे उनके साधन के लिये इन्द्र चक्रवर्ती आदि मे जो वदने योग्य पद है उसमे पहुचाने वाला उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, स यम, तप, त्याग आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्यरूप दस प्रकार का धर्म है।

वे धर्म इस प्रकार हैं, जो समिति पालन मे प्रवृत्तिरूप हैं, उनके प्रमाद को दूर करने के लिये धर्म का निरूपण किया गया है। क्रोध उत्पन्न होने मे निमित्तीभूत ऐसे असह्य दुर्वचन आदि के अवसर प्राप्त होने पर कलुषता का न होना क्षमा है अर्थात् शरीर की स्थिति का कारण जो शुद्ध आहार उसकी खोज के लिये पर कुलो (गृहो) मे जाते हुये मुनि को दुष्टजनो द्वारा गाली, हास्य, निरादर के वचन कहे जाने पर भी तथा ताडन, शरीर घात इत्यादि क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त कारण मिलने पर भी परिणामो मे मलिनता न आना, इस ही का नाम क्षमा कहा गया है ॥ १ ॥

उत्तम जाति आदि मद के आवेग से अभिमान का न होना मार्दव हे ॥२॥ योगो की अकुटिलता आर्जव है अर्थात् मन वचन कायरूप योगो की सरलता को आर्जव कहा गया है ॥ ३ ॥ सत्जनो से साधुवचन बोलना सत्य है अर्थात् प्रशस्त एव श्रेष्ठ सज्जन पुरुषो मे समीचीन वचन बोलना, वह सत्य कहलाता है ॥ ४ ॥ लोभ की निवृत्ति की प्रकर्षता होना, शौच है। शुचि नाम पवित्रता का है, शुचि के भाव व कर्म को शौच कहते हैं ॥ ५ ॥ समितियो के पालन करने वाले मुनिराज का प्राणियो की रक्षा करना तथा इन्द्रियो के विषयो का निषेध संयम है, अर्थात् ईर्यासमिति आदि मे प्रवर्तमान मुनि का उनकी (समिति की) प्रतिपालना के लिये प्राणी पीडा परिहार एव इन्द्रियविषयाशक्ति परिहार को सयम कहते है। एकेन्द्रियादि जीवो की हिसा का त्याग प्राणि सयम है, शब्दादि इन्द्रियविषयो मे राग का लगाव न होना इन्द्रिय--सयम है।

तत्प्रतिपादनार्थं शुद्ध्यष्टकोपदेश, तद्यथा—अष्टौ शुद्धय—भावशुद्धि कालशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि प्रतिष्ठापनशुद्धि, शयनासनशुद्धि, वाक्यशुद्धिश्चेति। तत्र भावशुद्धि कर्मक्षयोपशमजनिता, मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा, रागाद्युपप्लवरहिता। कायशुद्धि निरावरणाभरणा, निरस्तसस्कारा, यथाजातमलधारिणी, निराकृताङ्गविकारा। विनयशुद्धि अर्हदादिषु परमगुरुषु यथार्हं पूजाप्रवणा, ज्ञानादिषु च यथाविधिभक्तियुक्ता गुरो सर्वत्रानुकूलवृत्ति। ईर्यापथशुद्धि नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयाववोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा, ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी, द्रुतविलम्बितसम्भ्रातविस्मितलीलाविकारदिगान्तरावलोकनादिदोषविरहितगमना। भिक्षाशुद्धि आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला, लाभालाभमानापमानसमानमनोवृत्ति, लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा, चन्द्रगतिरिवहीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थाना दीनानाथदानशालाविवाहयजनगेहादि परिवर्जनोपलक्षिता, दीनवृत्तिविगमा, प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना, आगमविहित निरवद्याशनपरिप्रातप्राणयात्राफला। प्रतिष्ठापनशुद्धि, नखरोमसिङ्घाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च जतूपरोधविरहिता। शयनासनशुद्धि, स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्या, अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादय कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता सेव्या। वाक्यशुद्धि,

---

उस सयम के विशेष निरूपण करने के लिये अथवा उसकी पालना के लिये अष्टशुद्धियो का उपदेश है। वे अष्टशुद्धि इस प्रकार है—भावशुद्धि--कायशुद्धि--विनयशुद्धि--ईर्यापथशुद्धि--भिक्षाशुद्धि प्रतिष्ठापनशुद्धि--शयनासनशुद्धि--वाक्यशुद्धि। इनमे भावशुद्धि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है, मोक्षमार्ग मे रुचि होने से परिणामो को निर्मल करने वाली है, तथा रागादि विकार से रहित है। १। कायशुद्धि, आवरण एवं आभूषणो से रहित, समस्त सस्कारो से अतीत, बालक (यथाजात) के समान धूलि धूसरित देह को धारण करने वाली शरीर विकारो से रहित है। २। विनयशुद्धि—परम गुरु अरहतादि की यथा योग्य पूजा मे तत्परता जहा रहती है, ज्ञानादि मे यथाविधि भक्ति जहा की जाती है, गुरु के प्रति जहा सर्वत्र अनुकूल वृत्ति होती है। ३। ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवो की उत्पत्ति के स्थान तथा योनिरूप आश्रयो का वोध होने से ऐसा प्रयत्न करना जिससे जीवो को पीडा न हो, ज्ञानरूपी सूर्य मे एवं इन्द्रियो से तथा प्रकाशसे भले प्रकार देखे हुए प्रदेश मे गमन करना, जल्दी चलना, देरसे चलना चचल उपयोग सहित चलना, साश्चर्य चलना, क्रीडा करते हुए चलना, विकार युक्त चलना, इधर उधर दिशाओ मे देखते हुए चलना, इत्यादि चलने सम्बन्धी दोषो से रहित गमन करना। ४। भिक्षाशुद्धि आचार सूत्र मे कहे अनुसार काल, देश, प्रकृति का वोध करना, लाभ—अलाभ, मान-अपमान मे समान मनोवृत्ति का रहना, लोकनिद्य परिवारो मे आहार के लिये नही जाना, चन्द्रमा के समान कम और गृहो की मर्यादा हो, विशेष रूप से जो स्थान दीनअनाथो के लिये दानशाला हो अथवा विवाह तथा यज्ञ जिस गृह मे हो रहे हो, ऐसे स्थानो मे आहार के लिये चर्या नही करनी। (अन्तराय एवं अनेक

पृथिवीकायिकारम्भादिप्रेरणरहिता, परुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका, व्रतशील-देशनादिप्रधानफला, हितमितमधुरमनोहरा, सयतस्ययोग्या, इति सयमान्तर्गताष्टशुद्धय ॥ ६

कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तप । तद्द्विविध, बाह्यमभ्यन्तर च, तत्रत्येक षड्विधम् ॥७॥ परिग्रहनिवृत्तिस्त्याग । परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्याग इति निश्चीयते अथवा सयतस्य योग्य ज्ञानादिदान त्याग इत्युच्यते ॥ ८ ॥ ममेदमित्यभिसंधि-निवृत्तिराकिचन्य । उपात्तेष्वपि शरीरादिषु सस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसधिनिवृत्तिरा-किचन्यमित्याख्यायते । नास्य किचनास्ति इत्यकिचन, तस्य भाव कर्म वा आकिंचन्यम् ॥ ६ ॥ अनुभूताङ्गनास्मरणतत्कथाश्रवण स्त्रीससक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्य । मया अनुभूताङ्गना कलागुणविशारदा इति स्मरण तत्कथाश्रवण रतिपरिमलादिवासित स्त्रीसस-क्तशयनासनमित्येवमादिवर्जनात् परिपूर्ण ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते । स्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति वा ॥ १० ॥ एव दशधा धर्म ।

उपवासो के पश्चात् भी) दीनवृत्ति का न होना । प्रासुक आहार खोजना ही जहा मुख्य लक्ष्य है। आगम विधि के अनुसार निर्दोष भोजन की प्राप्ति से प्राणो की स्थिति मात्र है लक्ष्य जिसमे, ऐसी भिक्षा-शुद्धि है ।५। प्रतिष्ठापनशुद्धि--नख-रोम-नासिका-मल-कफ-वीर्य-मल-मूत्र की क्षेपणक्रिया मे तथा शरीरके उठाने-बैठाने इत्यादि मे जन्तुओ को बाधा न होने देना । ६ । शयनासनशुद्धि-स्त्री, क्षुद्र पुरुष, चोर, मद्यपायी, जुआरी, मद्य-विक्रेता तथा पक्षियो को पकडने वाले आदि के स्थानो मे नही बसना चाहिये । प्राकृतिक गिरि-गुफा, वृक्ष का कोटर तथा बनाये हुए सून घर, छूटे हुए, छोडे हुए स्थानो मे, जो अपने उद्देश्यसे नही बनाये गये हो, बसना चाहिए ।७। वाक्यशुद्धि--पृथिवीकायिक आदि सम्बन्धी आरम्भ आदि की प्रेरणा जिस मे न हो । जो कठोर निष्ठुर और पर पीडा कारी प्रयोगो से रहित हो । व्रतशील आदि का उपदेश देने वाली हो । हित मित मधुर मनोहर ऐसी सयमी के योग्य वाक्य शुद्धि है । ८ । इस प्रकार संयम के अतर्गत आठ शुद्धियो का वर्णन हुआ ।

कर्मक्षयके लिये जो तपा जाये वह तप है । वह तप दो प्रकार का है, बाह्य तप, अन्तरग तप । इनमे से प्रत्येक छ छ प्रकार का है ॥७॥ चेतन अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं अथवा सयमी के योग्य ज्ञानादि के दान को भी त्याग कहा गया है ॥ ८ ॥ 'यह मेरा है' इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग आकिंचन्य है अर्थात् जो शरीरादि प्राप्त परिग्रह है उनमे संस्कार न रहे इसके लिये "यह मेरा है" इस अभिप्राय की निवृत्ति को आकिंचन्य के नाम से कहा गया है। जिसके कुछ भी (परिग्रह) नही है वह अकिंचन है उसका जो भाव अथवा कर्म उसे आकिंचन्य कहते हैं ॥ ९ ॥ अनुभूत स्त्री का स्मरण, उसकी कथा का श्रवण तथा स्त्री संसक्त शय्या आसन आदि स्थान के त्याग से ब्रह्मचर्य है अर्थात् "मैने उस कला गुण विशारदा स्त्री को भोगा था" ऐसा स्मरण उसकी पूर्व कथा

द्वादशानुप्रेक्षा. कथ्यन्ते—अध्रुवाशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसवरनिर्जरालोकवोधिदुर्लभधर्मानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । अथाध्रुवानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—द्रव्यार्थिकनयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेनाविनश्वरस्वभावनिजपरमात्मद्रव्याादन्यद् भिन्न यज्जीवसवन्धे अशुद्धनिश्चयनयेन रागादिविभावरूप भावकर्म, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मनोकर्मरूपं च तथैव (उपचरितासद्भूतव्यवहारेण) तत्स्वस्वामिभावसम्बन्धेन गृहीत यच्चेतन वनितादिकम्, अचेतन सुवर्णादिक, तदुभयमिश्रं चेत्युक्तलक्षणं तत्सर्वमध्रुवमिति भावयितव्यम् । तद्भावनासहितपुरुषस्य तेषा वियोगेऽपि सत्युच्छिष्टेष्विव ममत्व न भवति तत्र ममत्वाभावादविनश्वरनिजपरमात्मानमेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भावयति, यादृशमविनश्वरमात्मान भावयति तादृशमेवाक्षयानन्तसुखस्वभाव मुक्तात्मान प्राप्नोति । इत्यध्रुवानुप्रेक्षा गता ॥ १ ॥

अथाशरणानुप्रेक्षा कथ्यते—निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्वहिरङ्गसहकारिकारणभूत पञ्चपरमेष्ठ्याराधनञ्च शरणम्, तस्माद्वहिर्भूता ये देवेन्द्रचक्रवर्तिसुभ-

---

का श्रवण एवं रतिकालीन सुगन्धित द्रव्यो की सुवास तथा स्त्रीससक्तशय्या आसन आदि के त्याग से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये गुरु स्वरूप ब्रह्म जो शुद्ध आत्मा उसमे चर्या होना ब्रह्मचर्य है ॥ १० ॥ इस प्रकार दश धर्म हैं।

वारह अनुप्रेक्षाओ को कहते है—अध्रुव, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, वोधि दुर्लभ और धर्म इनका चिन्तवन करना, अनुप्रेक्षा है। उनको विस्तार से कहते हैं—

अध्रुव अनुप्रेक्षा—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावसे अविनाशी स्वभाव वाले निज परमात्म-द्रव्यसे भिन्न, अशुद्ध निश्चयनयसे जो जीव के रागादि विभावरूप भावकर्म एव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्म व शरीरादि नोकर्मरूप, तथा (उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से) उनके स्वस्वामि-भाव सम्बन्ध से ग्रहण किये हुए स्त्री आदि चेतन द्रव्य सुवर्ण आदि अचेतन द्रव्य और चेतन-अचेतन मिश्र पदार्थ, उक्त लक्षण वाले ये सव पदार्थ अध्रुव (नाशवान) है इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए। उस भावना सहित पुरुषके, उन स्त्री आदि के वियोग होने पर भी, झूठे भोजनो के समान, ममत्व नही होता। उनमें ममत्व का अभाव होने से अविनाशी निज परमात्मा को ही भेद, अभेद रूप रत्नत्रय की भावना द्वारा भाता है। जैसी अविनिश्वर आत्मा को भाता है, वैसी ही अक्षय अनन्त सुख स्वभाव वाली मुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अध्रुव भावना है॥ १ ॥

अशरण अनुप्रेक्षा—निश्चय रत्नत्रय से परिणत जो स्वशुद्धात्म द्रव्य और उसकी वहिरग सहकारी कारण भूत पचपरमेष्ठियो की आराधना, यह दोनो शरण (रक्षक) है। उनसे भिन्न जो देव, इन्द्र, चक्रवर्ती, सुभट, कोटिभट और पुत्र आदि चेतन पदार्थ तथा पर्वत, किला, भोहरा, मणि,

टकोटिभटपुत्रादिचेतना गिरिदुर्गभूविवरमणिमन्त्राज्ञाप्रासादौषधादय पुनरचेतनास्तदुभयात्मका मिश्राश्च मरणकालादौमहाटव्या, व्याघ्रगृहीतमृगबालस्येव, महासमुद्रे पोतच्युतपक्षिण इव शरण न भवन्तीति विज्ञेयम् । तद्विज्ञाय भोगकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिनिरालम्बने स्वसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतसालम्बने स्वशुद्धात्मन्येवावलम्बन कृत्वा भावना करोति । यादृशं शरणभूतमात्मान भावयति तादृशमेव सर्वकालशरणभूत शरणागतवज्रपञ्जरसदृशं निजशुद्धात्मान प्राप्नोति । इत्यशरणानुप्रेक्षा व्याख्याता ॥ २ ॥

अथ ससारानुप्रेक्षा कथ्यते—शुद्धात्मद्रव्यादितराणि सपूर्वापूर्वमिश्रपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेण, शरीरपोषणार्थाशनपानादिपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण चानन्तवारान् गृहीत्वा विमुक्तानीति द्रव्यससार । स्वशुद्धात्मद्रव्यसबन्धिसहजशुद्धलोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशेभ्यो भिन्ना ये लोकक्षेत्रप्रदेशास्तत्रैकैक प्रदेश व्याप्यानन्तवारान् यत्र न जातो न मृतोऽय जीव स कोऽपि प्रदेशो नास्तीति क्षेत्रससार । स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपनिर्विकल्पसमाधिकाल विहाय प्रत्येकदशकोटाकोटिसागरोपमप्रमितोत्सर्पिण्यवसर्पिण्येकैकसमये नानापरावर्त्तनकालेनानन्तवारानय जीवो यत्र न जातो न मृत स समयो नास्तीति कालस-

---

मन्त्र, तन्त्र, आज्ञा, प्रासाद (महल) और औषधि आदि अचेतन पदार्थ तथा चेतन-अचेतन मिश्रित पदार्थ ये कोई भी मरण आदि के समय शरण नही होते, जैसे महावन मे व्याघ्र से पकडे हुए हिरण के बच्चे को अथवा महासमुद्र मे जहाज से छूटे हुए पक्षी को कोई शरण नही होता, ऐसा जानना चाहिए । अन्य पदार्थों को अपना शरण न जानकर, आगामी भोगो की वाछारूप निदानबध आदि का अवलम्बन न लेकर तथा स्वानुभव से उत्पन्न सुख रूप अमृत का धारक निज-शुद्ध-आत्मा का ही अवलम्बन करके, उस शुद्ध-आत्मा की भावना करता है । जैसी आत्मा को यह शरणभूत भाता है, वैसे ही सदा शरणभूत शरण मे आये हुए के लिए वज्र के पिंजरे के समान, निज-शुद्धआत्मा को प्राप्त होता है । इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षा का व्याख्यान हुआ ।

ससारानुप्रेक्षा--शुद्ध-आत्मद्रव्य से भिन्न सपूर्व (पुराने) अपूर्व (नये) तथा मिश्र ऐसे पुद्गल द्रव्यो को ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूप से तथा शरीर पोषण के लिए भोजनपान आदि पाचो इन्द्रियो के विषय रूप से इस जीव ने अनन्त बार ग्रहण करके छोडा है, इस प्रकार 'द्रव्यससार है' । निज शुद्धआत्म द्रव्य सम्बन्धी जो सहज शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेश हैं, उनसे भिन्न लोक-क्षेत्र के सर्व प्रदेशो मे एक-एक प्रदेश को व्याप्त करके, अनन्त बार यह जीव उत्पन्न न हुआ हो और मरा न हो, ऐसा कोई भी प्रदेश नही है । यह 'क्षेत्रससार' हैं । निज-शुद्धआत्म अनुभव रूप निर्विकल्प समाधि के काल को छोडकर (प्राप्त न करके) दशकोटाकोटी सागर प्रमाण उत्सर्पिणी काल और दशकोटाकोटी सागर प्रमाण अवसर्पिणी काल के एक-एक समय मे अनेक परावर्त्तन काल से यह जीव अनन्त बार जन्मा न हो और मरा न हो ऐसा कोई भी समय नही है । इस प्रकार 'कालससार' है । अभेद

सार । अभेदरत्नत्रयात्मकसमाधिवलेन सिद्धगतौ स्वात्मोपलब्धिलक्षणसिद्धपर्यायरूपेण योऽसावुत्पादो भवस्त विहाय नारकतिर्यग्मनुष्यभवेषु तथैव देवभवेषु च निश्चयरत्नत्रयभावनारहितभोगाकाक्षानिदानपूर्वकद्रव्यतपश्चरणरूपजिनदीक्षावलेन नवग्रैवेयकपर्यन्त 'सक्को सहग्गमहिस्सी दक्खिणइन्दा य लोयवाला य । लोयतिया य देवा तच्छ चुदा णिव्वुदि जंति ॥ १ ॥' इति गाथाकथितपदानि तथागमनिषिद्धान्यन्यपदानि च त्यक्त्वा भवविध्वसकनिजशुद्धात्मभावनारहितो भवोत्पादकमिथ्यात्वरागादिभावनासहितश्च सन्नय जीवोऽनन्तवारान् जीवितो मृतश्चेति भवसंसारो ज्ञातव्य ।

अथ भावससार कथ्यते । तद्यथा–सर्वजघन्यप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यमनोवचनकायपरिस्पन्दरूपाणि श्रेण्यसख्येयभागप्रमितानि चतु स्थानपतितानि सर्वजघन्ययोगस्थानानि भवन्ति तथैव सर्वोत्कृष्टप्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टमनोवचनकायव्यापाररूपाणि तद्योग्यश्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि चतु स्थानपतितानि सर्वोत्कृष्ट योगस्थानानि च भवन्ति । तथैव सर्वजघन्यस्थितिबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानानि तद्योग्यासंख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति । तथैव च सर्वो-

---

रत्नत्रयात्मक ध्यान के बल से सिद्धगति मे निज-आत्मा की उपलब्धि रूप सिद्ध पर्याय रूप उत्पाद के सिवाय नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवो के भवो मे निश्चय रत्नत्रय की भावना से रहित और भोग वाछादि निदान सहित द्रव्यतपश्चरण रूप मुनि दीक्षा के बल से नवग्रैवेयक तक, 'प्रथम स्वर्ग का इन्द्र, प्रथम स्वर्ग की इन्द्राणी शची, दक्षिण दिशा के इन्द्र, लोकपाल और लोकान्तिक देव ये सब स्वर्ग से च्युत होकर निवृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त होते है ॥ १ ॥' इस मे कहे हुए पदो को तथा आगम मे निषिद्ध अन्य उत्तम पदो को छोड कर भव नाशक निज-आत्मा की भावना से रहित व ससार को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व व राग आदि भावो से सहित हुआ, यह जीव अनन्त बार जन्मा है और मरा है। इस प्रकार 'भवससार' जानना चाहिए ।

अब भाव ससार को कहते हैं--सबसे जघन्य प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध के कारणभूत जघन्य मन, वचन, काय के अवलम्बन से परिस्पन्द रूप, श्रेणी के असख्यातवेभाग प्रमाण तथा चार स्थानो मे पतित (वृद्धि हानि), ऐसे सर्व जघन्य योगस्थान होते हैं। इसी प्रकार सर्व उत्कृष्ट प्रकृति बन्ध व प्रदेश बन्ध के कारणभूत, सर्वोत्कृष्ट मन, वचन, काय के व्यापार रूप, यथायोग्य श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण, चार स्थानो मे पतित सर्वोत्कृष्ट योगस्थान होते हैं। इस प्रकार सर्वजघन्य स्थिति बन्ध के कारणभूत, अपने योग्य असंख्यात लोक प्रमाण, षट् स्थान वृद्धिहानि मे पतित सर्वजघन्य कषाय अध्यवसाय स्थान होते हैं। इसी तरह सर्वोत्कृष्ट स्थिति बन्ध के कारणभूत सर्वोत्कृष्ट कषाय अध्यवसाय स्थान है, वे भी असख्यात लोक-प्रमाण और षट् स्थानो मे पतित होते हैं। इसी प्रकार सबसे जघन्य अनुभाग बन्ध के कारणभूत सबसे जघन्य अनुभाग अध्यवसाय स्थान है, वे भी असख्यात लोक-प्रमाण

त्कृष्टस्थितिवधनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टकषायाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च भवन्ति । तथैव सर्वजघन्यानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वजघन्यानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि भवन्ति । तथैव च सर्वोत्कृष्टानुभागबन्धनिमित्तानि सर्वोत्कृष्टानुभागाध्यवसायस्थानानि तान्यप्यसख्येयलोकप्रमितानि षट्स्थानपतितानि च विज्ञेयानि । तेनैव प्रकारेण स्वकीयस्वकीयजघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये तारतम्येन मध्यमानि च भवन्ति । तथैव जघन्यादुत्कृष्टपर्यन्तानि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतीना स्थितिबधस्थानानि च । तानि सर्वाणि परमागमकथितानुसारेणानन्तवारान् भ्रमितान्यनेन जीवेन, पर किन्तु पूर्वोक्तसमस्तप्रकृतिबन्धादीना सद्भावविनाशकारणानि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि यानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्येव न लब्धानि । इति भावससार ।

एव पूर्वोक्तप्रकारेण द्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूप पञ्चप्रकार ससार भावयतोऽस्य जीवस्य ससारातीतस्वशुद्धात्मसवित्तिविनाशकेषु ससारवृद्धिकारणेषु मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगेषु परिणामो न जायते, किन्तु ससारातीतसुखास्वादे रतो भूत्वा स्वशुद्धात्मसवित्तिबलेन ससारविनाशकनिजनिरञ्जनपरमात्मन्येव भावना करोति । ततश्च यादृशमेव परमात्मान भावयति तादृशमेव लब्ध्वा ससारविलक्षणे मोक्षेऽनन्तकाल तिष्ठतीति । अय तु विशेष—

तथा षट् स्थान पतित हानिवृद्धि रूप होते है । इसी प्रकार सबसे उत्कृष्ट अनुभाग बध के कारण जो सर्वोत्कृष्ट अनुभाग अध्यवसाय स्थान है वे भी असख्यात लोक प्रमाण और षट् स्थान पतित जानने चाहिये । इसी प्रकार से अपने-अपने जघन्य और उत्कृष्टो के बीच मे तारतम्य से मध्यम भेद भी होते है । इसी तरह जघन्य से उत्कृष्ट तक ज्ञानावरण आदि मूल तथा उत्तर प्रकृतियो के स्थिति बधस्थान है । उन सब मे, परमागम अनुसार, इस जीव ने अनन्त बार भ्रमण किया, परन्तु पूर्वोक्त समस्त प्रकृति बध आदि की सत्ता के नाश के कारण जो विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान, आचरण रूप जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है, उनको इस जीव ने प्राप्त नही किया । इस प्रकार 'भावससार' है ।

इस प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पाच प्रकार के ससार को चिन्तन करते हुए इस जीव के, ससार रहित निज शुद्ध आत्मज्ञान का नाश करने वाले तथा ससार की वृद्धि के कारण भूत जो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है, उनमे परिणाम नही जाता किन्तु वह ससारातीत (ससार मे प्राप्त न होने वाला अतीन्द्रिय) सुख के अनुभव मे लीन होकर, निज-शुद्धआत्मज्ञान के बल से ससार को नष्ट करने वाले निज-निरजन-परमात्मा मे भावना करता है । तदनन्तर जिस प्रकार के परमात्मा को भाता है, उसी प्रकार के परमात्मा को प्राप्त होकर ससार से विलक्षण मोक्ष मे

नित्यनिगोदजीवान् विहाय, पञ्चप्रकारससारव्याख्यान ज्ञातव्यम् । कस्मादिति चेत्—नित्यनिगोदजीवाना कालत्रयेऽपि त्रसत्व नास्तीति । तथा चोक्तं—'अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो । भावकलंकसुपउरा णिगोदवास ण मुंचति ॥ १ ॥' अनुपममद्वितीयमनादिमिथ्यादृशोऽपि भरतपुत्रास्त्रयोविंशत्यधिकनवशतपरिमाणास्ते च नित्यनिगोदवासिन क्षपितकर्माण इन्द्रगोपा सजातास्तेषा च पुञ्जीभूतानामुपरि भरतहस्तिना पादो दत्तस्ततस्ते मृत्वापि वर्द्धनकुमारादयो भरतपुत्रा जातास्ते च केनचिदपि सह न वदन्ति । ततो भरतेन समवसरणे भगवान् पृष्टो, भगवता च प्राक्तनं वृत्तान्त कथितम् । तच्छ्रुत्वा ते तपो गृहीत्वा क्षणस्तोककालेन मोक्ष गता । आचाराराधनाटिप्पणे कथितमास्ते । इति ससारानुप्रेक्षा गता ॥ ३ ॥

अथैकत्वानुप्रेक्षा कथ्यते । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयैकलक्षणैकत्वभावनापरिणतस्यास्य जीवस्य निश्चयनयेन सहजानन्दसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतं केवलज्ञानमेवैक सहजं शरीरम् । शरीरं कोऽर्थ ? स्वरूप, न च सप्तधातुमयौदारिकशरीरम् । तथैवार्त्तरौद्रदुर्ध्यानविलक्षणपरमसामायिकलक्षणैकत्वभावनापरिणत निजात्मतत्त्वमेवैकं सदा शाश्वत परमहितकारी परमोबन्धु, न च विनश्वराहितकारी पुत्रकलत्रादि । तेनैव प्रकारेण परमोपेक्षा-

---

अनतकाल तक रहता है । यहा विशेष यह है—नित्य निगोद के जीवो को छोडकर, पंच प्रकार के ससार का व्याख्यान जानना चाहिए (नित्य-निगोदी जीव इस पाच प्रकार के ससार मे परिभ्रमण नही करते), क्योकि, नित्य निगोदवर्त्ती जीवो को तीन काल मे भी त्रसपर्याय नही मिलती । सो कहा भी है—'ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होने त्रसपर्याय को अभी तक प्राप्त ही नही किया और जो भाव-कलको (अशुभ परिणामो) से भरपूर है, जिससे वे निगोद के निवास को कभी नहीं छोडते ।' किन्तु यह वृत्तान्त अनुपम और अद्वितीय है कि नित्य निगोदवासी अनादि मिथ्यादृष्टि नौ सौ तेईस जीव, कर्मो की निर्जरा (मद) होने से, इन्द्रगोप (मखमली लाल कीडे) हुए, उन सबके ढेर पर भरत के हाथी ने पैर रख दिया इससे वे मर कर, भरत के वर्द्धनकुमार आदि पुत्र हुए । वे पुत्र किसी के भी साथ नही बोलते थे । इसलिये भरतने समवसरणमे भगवान् से पूछा उन पुत्रोका पुराना सब वृत्तान्त कहा । उसको सुनकर उन सब वर्द्धनकुमारादि ने तप ग्रहण किया और बहुत थोडे काल मे मोक्ष चले गये ।' यह कथा आचाराराधना की टिप्पणी मे कही गई है । इस प्रकार 'ससार अनुप्रेक्षा' का व्याख्यान हुआ । ३ ।

अब एकत्व-अनुप्रेक्षा को कहते हैं—निश्चयरत्नत्रय लक्षण वाली एकत्व भावना मे परिणत इस जीव के निश्चयनय से स्वाभाविक आनन्द आदि अनन्त गुणो का आधाररूप केवल ज्ञान ही एक स्वाभाविक शरीर है । यहा 'शरीर' शब्द का अर्थ 'स्वरूप' है, न कि सात धातुओ से निर्मित औदारिक शरीर । इसी प्रकार आर्त्त और रौद्र दुर्ध्यानो से विलक्षण परमसामायिक रूप एकत्व भावना मे परिणत जो एक अपना आत्मा है वही सदा अविनाशी और परमहितकारी व परम बन्धु है, विनश्वर व अहित-

संयमलक्षणैकत्वभावनासहित स्वशुद्धात्मपदार्थ एक एवाविनश्वरहितकारी परमोऽर्थ, न च सुवर्णाद्यर्थ । तथैव निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणानाकुलत्वस्वभावात्मसुखमेवैक सुख न चाकुलत्वोत्पादकेन्द्रियसुखमिति । कस्मादिद देहवन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादिकं जीवस्य निश्चयेन निराकृतमिति चेत् ? यतो मरणकाले जीव एव एक गत्यन्तर गच्छति न च देहादीनि । तथैव रोगव्याप्तिकाले विषयकषायादिदुर्ध्यानरहित स्वशुद्धात्मैकसहायो भवति । तदपि कथमिति चेत् ? यदि चरमदेहो भवति तर्हि केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं नयति, अचरमदेहस्य तु ससारस्थिति स्तोका कृत्वा देवेन्द्राद्यभ्युदयसुख दत्वा च पश्चात् पारम्पर्येण मोक्षं प्रापयतीत्यर्थ । तथा चोक्तम्—"सग्ग तवेण सव्वो, वि पावए तहि वि झाणजोयेण । जो पावइ सो पावइ, परलोए सासयं सोक्ख ॥ १ ॥" एवमेकत्वभावनाफल ज्ञात्वा निरन्तरं निजशुद्धात्मैकत्वभावना कर्तव्या । इत्येकत्वानुप्रेक्षा गता ॥ ४ ॥

अथान्यत्वानुप्रेक्षा कथयति । तथा हि—पूर्वोक्तानि यानि देहवन्धुजनसुवर्णाद्यर्थेन्द्रियसुखादीनि कर्माधीनत्वे विनश्वराणि तथैव हेयभूतानि च, तानि सर्वाणि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन नित्यात्सर्वप्रकारोपादेयभूतान्निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारस्वभा-

---

कारी पुत्र, मित्र, कलत्र आदि बन्धु नही है । उसी प्रकार परम उपेक्षा सयमरूप एकत्व भावना से सहित जो निज शुद्धात्म पदार्थ है, वह ही एक अविनाशी तथा हितकारी परम अर्थ है, सुवर्ण आदि परम-अर्थ नही हैं । एव निर्विकल्प-ध्यान से उत्पन्न निर्विकार परम-आनन्द-लक्षण, आकुलतारहित आत्म-सुख ही एक सुख है और आकुलता को उत्पन्न करने वाला इन्द्रियजन्य जो सुख है वह सुख नही है । शका--शरीर, बन्धुजन तथा सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि को निश्चयनय से जीव के लिये हेय क्यो कहे हैं ? समाधान--मरण समय यह जीव अकेला ही दूसरी गति मे गमन करता है, देह आदि इस जीव के साथ नही जाते । तथा जब जीव रोगो से घिर जाता है तब विषय कषाय आदि रूप दुर्ध्यान से रहित एक--निजशुद्ध--आत्मा ही इसका सहायक होता है । शका--वह कैसे सहायक होता है ? उत्तर--यदि जीव का वह अतिम शरीर हो, तब तो केवलज्ञान आदि की प्रकटतारूप मोक्ष मे ले जाता है, यदि अतिम शरीर न हो, तो वह ससार की स्थिति को कम करके देवेन्द्रिय आदि सासारिक सुख को देकर तत्पश्चात् परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कराता है । यह निष्कर्ष है कहा भी है--'तप करने से स्वर्ग सब कोई पाते है, परन्तु ध्यान के योग से जो कोई स्वर्ग पाता है वह अग्रिम भव मे अक्षय सुख को पाता है ॥ १ ॥' इस तरह एकत्व भावना के फल को जान कर, सदा निज-शुद्धात्मा मे एकत्व रूप भावना करनी चाहिये । इस प्रकार 'एकत्व' अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ४ ॥

अब अन्यत्व अनुप्रेक्षा कहते है--पूर्वोक्त देह, बधुजन, सुवर्ण आदि अर्थ और इन्द्रिय सुख आदि कर्मों के आधीन है, इसी कारण विनाशशील तथा हेय भी है । इस कारण टकोत्कीर्ण ज्ञायक रूप एक

वान्निजपरमात्मपदार्थान्निश्चयनयेनान्यानि भिन्नानि। तेभ्य पुनरात्माप्यन्यो भिन्न इति। अयमत्र भाव —एकत्वानुप्रेक्षायामेकोऽहमित्यादिविधिरूपेण व्याख्यान, अन्यत्वानुप्रेक्षाया तु देहादयो मत्सकाशदन्ये, मदीया न भवन्तीति निषेधरूपेण। इत्येकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाया विधिनिषेधरूप एव विशेषस्तात्पर्य तदेव। इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ ५॥

अत पर अशुचित्वानुप्रेक्षा कथ्यते। तद्यथा—सर्वाशुचिशुक्रशोणितकारणोत्पन्नत्वात्तथैव 'वसासृग्मासमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव' इत्युक्ताशुचिसप्तधातुमयत्वेन तथा नासिकादिनवरन्ध्रद्वारैरपि स्वरूपेणाशुचित्वात्तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचिमलानामुत्पत्तिस्थानत्वाच्चाशुचिरय देह। न केवलमशुचिकारणत्वेनाशुचि स्वरूपेणाशुच्युत्पादकत्वेन चाशुचि, शुचि सुगन्धमाल्यवस्त्रादीनामशुचित्वोत्पादकत्वाच्चाशुचि। इदानीं शुचित्व कथ्यते—सहजशुद्धकेवलज्ञानादिगुणानामाधारभूतत्वात्स्वय निश्चयेन शुचिरूपत्वाच्च परमात्मैव शुचि। 'जीवो बह्मा जीवह्मि चेव चरिया हविज्ज जो जदिणो। तं जाण बह्मचेर विमुक्कपरदेहभत्तीए ॥ १ ॥' इति गाथाकथितनिर्मलब्रह्मचर्य तत्रैव निजपरमात्मनि स्थितानामेव लभ्यते। तथैव ब्रह्मचारी सदा शुचि' इतिवचनात्तथाविधब्रह्मचारिणामेव शुचित्व न च कामक्रोधादिरताना जलस्नानादिशौचेऽपि। तथैव च—'जन्मना जायते शूद्र क्रियया द्विज

स्वभाव से नित्य, सब प्रकार उपादेयभूत निर्विकार--परम चैतन्य चित्--चमत्कार स्वभाव रूप जो निज-परमात्म पदार्थ है, निश्चयनय की अपेक्षा उससे वे सब देह आदि भिन्न है। आत्मा भी उनसे भिन्न है। भावार्थ यह है--एकत्व अनुप्रेक्षा मे तो 'मै एक हू' इत्यादि प्रकार से विधि रूप व्याख्यान है और अन्यत्व अनुप्रेक्षा मे 'देह आदिक पदार्थ मुझसे भिन्न हे, ये मेरे नही है' इत्यादि निषेध रूप मे वर्णन है। इस प्रकार एकत्व और अन्यत्व इन दोनो अनुप्रेक्षाओ मे विधि निषेध रूप का ही अन्तर है, तात्पर्य दोनो का एक ही है। ऐसे 'अन्यत्व' अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ५ ॥

इसके आगे अशुचित्व अनुप्रेक्षा को कहते है--सब प्रकार से अपवित्र वीर्य और रज से उत्पन्न होनेके कारण, वसा, रुधिर, मास, मेद अस्थि (हाड), मज्जा और शुक्र धातु है' इन अपवित्र सात धातु मय होने से, नाक आदि नौ छिद्र द्वार होने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्ठा आदि अशुचि मलो की उत्पत्ति का स्थान होने से ही यह देह अशुचि नही है, किन्तु यह शरीर अपने ससर्ग से पवित्र-सुगन्ध-माला व वस्त्र आदिमे भी अपवित्रता कर देता है, इसलिये भी यह देह अशुचि है--

अब पवित्रता को बतलाते है---सहज-शुद्ध केवलज्ञान आदि गुण का आधार होने मे और निश्चय से पवित्र होने से यह परमात्मा ही शुचि है। 'जीव ब्रह्म है, जीव ही मे जो मुनि की चर्या होती है उसको परदेह की सेवा रहित ब्रह्मचर्य जानो। इस गाथा मे कहा हुआ जो निर्मल ब्रह्मचर्य है, वह निज परमात्मा मे स्थित जीवो को ही मिलता है। तथा 'ब्रह्मचारी सदा पवित्र है' इस वचन से पूर्वोक्त प्रकार के ब्रह्मचारियो के ही पवित्रता है। जो काम, क्रोध आदि मे लीन जीव हैं, उनके जल--स्नान आदि करने पर भी पवित्रता नही है। क्योंकि 'जन्म से शूद्र होता है, क्रिया से द्विज कहलाता है, श्रुत

उच्यते । श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण ॥ १ ॥' इतिवचनात् एव निश्चयशुद्धा ब्राह्मणा । तथा चोक्त नारायणेन युधिष्ठिर प्रति विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्वकारण, न च लौकिकगङ्गादितीर्थे स्नानादिकम् । 'आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि । तत्राभिषेक कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥१॥' इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा गता ॥ ६ ॥

अत ऊर्ध्वमास्रवानुप्रेक्षा कथ्यते । समुद्रे सच्छिद्रपोतवदय जीव इन्द्रियाद्यास्रवै ससारसागरे पततीति वार्त्तिकम् । अतीन्द्रियस्वशुद्धात्मसवित्तिविलक्षणानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्रोत्राणीन्द्रियाणि भण्यन्ते । परमोपशममूर्तिपरमात्मस्वभावस्य क्षोभोत्पादका क्रोधमानमायालोभकषाया अभिधीयन्ते । रागादिविकल्पनिवृत्तिरूपाया शुद्धात्मानुभूते प्रतिकूलानि हिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहप्रवृत्तिरूपाणि पञ्चाव्रतानि । निष्क्रियनिर्विकारात्मतत्त्वाद्विपरीता मनोवचनकायव्यापाररूपा परमागमोक्ता सम्यक्त्वक्रिया मिथ्यात्वक्रियेत्यादिपञ्चविंशतिक्रिया उच्यन्ते । इन्द्रियकपायाव्रतक्रियारूपास्रवाणा स्वरूपमेतद्विज्ञेयम् । यथा समुद्रेऽनेकरत्नभाण्डपूर्णस्य सच्छिद्रपोतस्य जलप्रवेशे पातो भवति, न च वेलापत्तन प्राप्नोति । तथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणामूल्यरत्नभाण्डपूर्णजीवपोतस्य पूर्वोक्तास्रव-

---

शास्त्रसे श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण जानना चाहिये । १ ।' इस आगमवचनानुसार वे (परमात्मा मे लीन) ही वास्तविक शुद्ध ब्राह्मण है । नारायण ने युधिष्ठर से कहा भी है--'विशुद्ध आतमा रूपी शुद्ध नदी मे स्नान का करना ही परम पवित्रता का कारण है, लौकिक गगा आदि तीर्थो मे स्नान का करना शुचि का कारण नही है । 'सयम रूपी जल से भरी, सत्य रूपी प्रवाह शील रूप तट और दयामय तरङ्गो की धारक जो आतमा रूप नदी है, उसमे हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! स्नान करो क्योकि, अन्तरात्मा जल से शुद्ध नही होता । १ ।' इस प्रकार अशुचित्व अनुप्रेक्षा का वर्णन हुआ ॥ ६ ॥

अब आगे आस्रवानुप्रेक्षा को कहते हैं । जैसे छेद वाली नाव समुद्र मे डूबती है, उसी तरह इन्द्रिय आदि छिद्रो द्वारा यह जीव ससार-समुद्र मे गिरता है, यह वार्त्तिक है । अतीन्द्रिय निज-शुद्ध-आत्मज्ञान से विलक्षण स्पर्शन, रसना, नाक, नेत्र और कान ये पाच इन्द्रिया है । परम उपशम रूप परमात्म स्वभाव को क्षोभित करने वाले क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार कषाय कहे जाते हैं । राग आदि विकल्पो से रहित ऐसे शुद्ध-आत्मानुभव से प्रतिकूल हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाचो मे प्रवृत्ति रूप पाच अव्रत है । क्रिया रहित और निर्विकार आत्मतत्त्व मे विपरीत मन वचन काय के व्यापार रूप शास्त्र मे कही हुई सम्यक्क्रिया मिथ्यात्व क्रिया आदि पच्चीस क्रिया है । इस प्रकार इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया रूप आस्रवो का स्वरूप जानना चाहिये । जैसे समुद्र मे अनेक रत्नो से भरा हुआ छिद्र सहित जहाज जल के प्रवेश से डूब जाता है, समुद्र के किनारे पत्तन (नगर) को नही

द्वारे. कर्मजलप्रवेशे सति संसारसमुद्रे पातो भवति, न च केवलज्ञानाव्याबाधसुखाद्यनन्त-गुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति। एवमास्रवगतदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा ज्ञातव्येति ॥ ७ ॥

अथ संवरानुप्रेक्षा कथ्यते—यथा तदेव जलपात्रं छिद्रस्य झम्पने सति जलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन वेलापत्तनं प्राप्नोति, तथा जीवजलपात्रं निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन इन्द्रियाद्यास्रवच्छिद्राणां झम्पने सति कर्मजलप्रवेशाभावे निर्विघ्नेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपूर्णमुक्तिवेलापत्तनं प्राप्नोतीति। एवं संवरगतगुणानुचिन्तनं संवरानुप्रेक्षा ज्ञातव्या ॥८॥

अथ निर्जरानुप्रेक्षा प्रतिपादयति। यथा कोऽप्यजीर्णदोषेण मलसञ्चये जाते सत्याहारं त्यक्त्वा किमपि हरीतक्यादिकं मलपाचकमग्निदीपकं चौषधं गृह्णाति। तेन च मलपाकेन मलानां पतने गलने निर्जरणे सति सुखी भवति। तथायं भव्यजीवोऽप्यजीर्णजनकाहारस्थानीयमिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्ममलसञ्चये सति मिथ्यात्वरागादिकं त्यक्त्वा परमौषधस्थानीयं जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखादिसमभावनाप्रतिपादकं कर्ममलपाचकं शुद्धध्यानाग्निदीपकं च जिनवचनौषधं सेवते। तेन च कर्ममलानां गलने निर्जरणे सति

पहुँच पाता। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप अमूल्य रत्नों से पूर्ण जीव रूपी जहाज, इन्द्रिय आदि आस्रवों द्वारा कर्म रूपी जल का प्रवेश हो जाने पर संसार रूपी समुद्र में डूब जाता है। केवलज्ञान अव्याबाध सुख आदि अनंत गुणमय रत्नों से पूर्ण व मुक्ति स्वरूप वेलापत्तन (संसार-समुद्र के किनारे का नगर) को यह जीव नहीं पहुँच पाता इत्यादि प्रकार से आस्रव दोषों का विचार करना आस्रवानुप्रेक्षा है ॥ ७ ॥

अब संवर अनुप्रेक्षा कहते हैं। वही समुद्र का जहाज अपने छेदों के बन्द हो जाने से जल के न घुसने पर निर्विघ्न वेलापत्तन को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवरूपी जहाज अपने शुद्ध आत्मज्ञान के बल से इन्द्रिय आदि आस्रव रूप छिद्रों के मुँद जाने पर कर्म रूप जल न घुस सकने से, केवलज्ञान आदि अनन्तगुण रत्नों से पूर्ण मुक्ति रूप वेलापत्तन को निर्विघ्न प्राप्त हो जाता है। ऐसे संवर के गुणों के चिंतवन रूप संवर अनुप्रेक्षा जाननी चाहिए। ८।

अब निर्जरानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते हैं—जैसे किसी मनुष्य के अजीर्ण होने से पेट में मल का जमाव हो जाने पर, वह मनुष्य आहार को छोड़कर मल को पचाने वाले तथा जठराग्नि को तीव्र करने वाले हरड़ आदि औषध को ग्रहण करता है। जब उस औषध से मल पक जाता है, गल जाता है अथवा पेट से बाहर निकल जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है। उसी प्रकार यह भव्य जीव भी अजीर्ण को उत्पन्न करने वाले आहार के स्थानभूत मिथ्यात्व, रागादि अज्ञान भावों से कर्म रूपी मल का संचय होने पर मिथ्यात्व, राग आदि छोड़कर, जीवन–मरण में व लाभ–अलाभ में और सुख-दुःख आदि में समभाव को उत्पन्न करने वाला, कर्ममल को पकाने वाला तथा शुद्ध-ध्यान-अग्नि को प्रज्वलित करने वाला, जो परम औषध के स्थानभूत जिनवचन रूप औषध है, उसका सेवन करता है, उससे कर्म-

सुखी भवति । किञ्चयथा कोऽपि धीमानजीर्णकाले यद्दुख जातं तदजीर्णे गतेऽपि न विस्मरति ततश्चाजीर्णजनकाहार परिहरति तेन च सर्वदैव सुखी भवति । तथा विवेकिजनोऽपि 'आर्ता नरा धर्मपरा भवन्ति' इति वचनाद्दुखोत्पत्तिकाले ये धर्मपरिणामा जायन्ते तान् दु खे गतेऽपि न विस्मरति । ततश्च निजपरमात्मानुभूतिबलेन निर्जरार्थं दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षादिविभावपरिणामपरित्यागरूपै. सवेगवैराग्यपरिणामैर्वर्त्तत इति । सवेगवैराग्यलक्षणं कथ्यते—'धम्मे य धम्मफलह्मि दंसणे य हरिसो य हुति सवेगो । ससारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वैरग्ग ॥ १ ॥ इति निर्जरानुप्रेक्षा गता ॥ ९ ॥

अथ लोकानुप्रेक्षा प्रतिपादयति । तद्यथा—अनंतानताकाशबहुमध्यप्रदेशे घनोदधिघनवाततनुवाताभिधानवायुत्रयवेष्टितानादिनिधनाकृत्रिमनिश्चलासख्यातप्रदेशो लोकोऽस्ति । तस्याकार कथ्यते—अधोमुखार्द्धमुरजस्योपरि पूर्णे मुरजे स्थापिते यादृशाकारो भवति तादृशाकार, पर किन्तु मुरजो वृत्तो लोकस्तु चतुष्कोण इति विशेष । अथवा प्रसारितपादस्य कटितटन्यस्तहस्तस्य चोर्ध्वस्थितपुरुषस्य यादृशाकारो भवति तादृश । इदानी तस्यैवोत्सेधायामविस्तारा: कथ्यन्ते—चतुर्दशरज्जुप्रमाणोत्सेधस्तथैव दक्षिणोत्तरेण सर्वत्र सप्तरज्जुप्रमाणायामो भवति । पूर्वपश्चिमेन पुनरधोविभागे सप्तरज्जुविस्तार । ततश्चाधोभागान्

रूपी मलो के गलन तथा निर्जरण हो जाने पर सुखी होता है। विशेष—जैसे कोई बुद्धिमान् अजीर्ण के समय जो कष्ट हुआ उसको अजीर्ण चले जाने पर भी नही भूलता और अजीर्ण पैदा करने वाले आहार को छोड देता है, जिससे सदा सुखी रहता है, उसी तरह ज्ञानी मनुष्य भी, 'दु खी मनुष्य धर्म मे तत्पर होते हैं' इस वाक्यानुसार, दु ख के समय जो धर्म रूप परिणाम होते है उनको दु ख नष्ट हो जाने पर भी नही भूलता। तत्पश्चात् निज परमात्म अनुभव के बल मे निर्जरा के लिये देखे, सुने तथा अनुभव किए हुए भोगवाछादि रूप विभाव परिणाम के त्याग रूप सवेग तथा वैराग्य रूप परिणामो के साथ रहता है। सवेग और वैराग्य का लक्षण कहते है—धर्म मे, धर्म के फल और दर्शन मे जो हर्ष होता है सो तो संवेग है; और ससार, देह तथा भोगो मे जो विरक्त भाव है सो वैराग्य है। १।' ऐसे निर्जरानुप्रेक्षा समाप्त हुई ॥ ९ ॥

अब लोकानुप्रेक्षा का प्रतिपादन करते है—वह इस प्रकार है—अनंतानत आकाश के बिलकुल मध्य के प्रदेशो मे, घनोदधि घनवात नामक तीन पवनो से बेढा हुआ, अनादि अनत–अकृत्रिम–निश्चल असंख्यात प्रदेशी लोक है। उसका आकार बतलाते है—नीचे मुख किये हुए आधे मृदग के ऊपर पूरा मृदग रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोक का है, परन्तु मृदंग गोल है और लोक चौकोर है, यह अन्तर है । अथवा पैर फैलाये, कमर पर हाथ रक्खे, खडे हुए मनुष्य का जैसे आकार होता है, वैसा लोक का आकार है। अब उसी लोक की ऊंचाई—लम्बाई—विस्तार का निरूपण करते हैं—चौदह रज्जु प्रमाण ऊचा तथा दक्षिण उत्तर मे सब जगह सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम मे नीचे के भाग

क्रमहानिरूपेण हीयते यावन्मध्यलोके एकरज्जुप्रमाणविस्तारो भवति । ततो मध्यलोकादूर्ध्वं क्रमवृद्ध्या वर्द्धते यावद् ब्रह्मलोकान्ते रज्जुपञ्चकविस्तारो भवति । ततश्चोर्ध्वं पुनरपि हीयते यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणविस्तारो भवति । तस्यैव लोकस्य मध्ये पुनरुदूखलस्य मध्याधोभागे छिद्रे कृते सति निक्षिप्तवंशनालिकेव चतुष्कोणा त्रसनाडी भवति । सा चैकरज्जुविष्कम्भा चतुर्दशरज्जूत्सेधा विज्ञेया । तस्यास्त्वधोभागे सप्तरज्जवोऽधोलोकसंबन्धिन्य । ऊर्ध्वभागे मध्यलोकोत्सेधसवधिलक्षयोजनप्रमाणमेरूत्सेध सप्तरज्जव ऊर्ध्वलोकसम्बन्धिन्य ।

अत परमधोलोक कथ्यते । अधोभागे मेरोराधारभूत रत्नप्रभाख्या प्रथम पृथिवी । तस्या अधोऽध प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाश गत्वा यथाक्रमेण शर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातम सज्ञा षड्भूमयो भवन्ति । तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाणं क्षेत्र भूमिरहितं निगोदादिपञ्चस्थावरभृत च तिष्ठति । रत्नप्रभादिपृथिवीना प्रत्येक घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमाधारभूत भवतीति विज्ञेयम् । कस्या पृथिव्या कति नरकविलानि सन्तीति प्रश्ने यथाक्रमेण कथयति–तासु त्रिशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ८४००००० । अथ रत्नप्रभादिपृथिवीना क्रमेण पिण्डस्य प्रमाण कथयति ।

मे सात राजू विस्तार है, फिर उस अधोभाग से क्रम से घटता घटता मध्यलोक (तिर्यक्लोक) मे एक रज्जु रह जाता है फिर मध्यलोक से ऊपर क्रम से बढता है सो ब्रह्मलोक नामक पंचम स्वर्ग के अन्त मे पाच रज्जु का विस्तार है, उसके ऊपर फिर घटता हुआ लोक के अ त मे जाकर एक रज्जु प्रमाण विस्तारवाला रह जाता है। इसी लोक के मध्य मे, ऊखल के मध्य भाग मे नीचे की ओर छिद्र करके एक बास की नली रक्खी जावे उसका जैसा आकार होता है उसके समान, एक चौकोर त्रसनाडी है, वह एक रज्जु लम्बी और चौदह रज्जु ऊची जाननी चाहिये। उस त्रस नाडी के नीचे के भाग के जो सात रज्जु है वे अधोलोक सम्बन्धी है। ऊर्ध्व भाग मे, मध्य लोक की ऊचाई सम्बन्धी लक्ष-योजन-प्रमाण सुमेरु की ऊचाई सहित सात रज्जु ऊर्ध्व लोक सम्बन्धी है।

इसके आगे अधोलोक को कहते है—अधोभाग मे सुमेरु की आधारभूत रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी है। उस रत्नप्रभा पृथिवी के नीचे-नीचे एक-एक रज्जु प्रमाण आकाश जाकर क्रमशः शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तम प्रभा और महातमःप्रभा नामक . भूमि है। उनके नीचे भूमिरहित एक रज्जुप्रमाण जो क्षेत्र है वह निगोद आदि पंच स्थावरो स भरा हुआ है। घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक जो तीन वातवलय हैं वे रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथिवी के आधारभूत है (रत्नप्रभा आदि पृथिवी इन तीनो वातवलयो के आधार से है), यह जानना चाहिये। किस पृथिवी मे कितने (कुए सरोखे) नरक–विले है, उनको यथाक्रम से कहते है—पहली भूमि मे तीसलाख, दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दश लाख, पाचवी मे तीन लाख, छठी मे पाच कम एक लाख तथा सातवी पृथिवी मे पाच, इस प्रकार सव मिलकर चौरासी लाख ८४००००० नरक–बिले हैं।

लानि कोऽर्थः ? प्रस्तारा इन्द्रका अन्तर्भूमय इति । तत्र रत्नप्रभायां सीमन्तसंज्ञे प्रथमपटलविस्तारे नृलोकवत् यत्संख्येययोजनविस्तारवत् मध्यविलं तस्येन्द्रकसंज्ञा । तस्यैव चतुर्दिग्विभागे प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेणासंख्येययोजनविस्ताराण्येकोनपञ्चाशद्विलानि । तथैव विदिक्चतुष्टये प्रतिदिशं पङ्क्तिरूपेण यान्यष्टचत्वारिंशद्विलानि तान्यप्यसंख्यातयोजनविस्ताराणि । तेषामपि श्रेणीबद्धसंज्ञा । दिग्विदिगष्टकान्तरेषु पङ्क्तिरहितत्वेन पुष्पप्रकरवत्कानिचित्संख्येययोजनविस्ताराणि कानिचिदसंख्येययोजनविस्ताराणि यानि तिष्ठन्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा । इतीन्द्रकश्रेणीबद्धप्रकीर्णकरूपेण त्रिधा नरका भवन्ति । इत्यनेन क्रमेण प्रथमपटलव्याख्यानं विज्ञेयम् । तथैव पूर्वोक्तैकोनपञ्चाशत्पटलेष्वयमेव व्याख्यानक्रमः किन्त्वष्टवश्रेणिष्वेकैकपटलं प्रत्येकैकं हीयते यावत् सप्तमपृथिव्यां चतुर्दिग्भागेष्वेकं विलं तिष्ठति ।

रत्नप्रभादिनारकदेहोत्सेधः कथ्यते । प्रथमपटले हस्तत्रयं ततः क्रमवृद्धिवशात्त्रयोदशपटले सप्तचापानि हस्तत्रयमङ्गुलषट्कं चेति । ततो द्वितीयपृथिव्यादिषु चरमेन्द्रकेषु द्विगुणद्विगुणे क्रियमाणे सप्तमपृथिव्यां चापशतपञ्चकं भवति । उपरितने नरके य उत्कृष्टोत्सेधः सोऽधस्तने नरके विशेषाधिको जघन्यो भवति, तथैव पटलेषु च ज्ञातव्यः । आयुःप्रमाणं

मे पाच, छटी मे तीन और सातवी मे एक, ऐसे सब ४९ पटल हैं। 'पटल' का क्या अर्थ है ? 'पटल' का अर्थ प्रस्तार, इन्द्रक अथवा अन्तर भूमि है। रत्नप्रभा प्रथम पृथिवी के सीमन्त नामक पहले पटल मे ढाई द्वीप के समान सख्यात (पैंतालीस लाख) योजन विस्तार वाला जो मध्य-बिल है, उसकी इन्द्रक सज्ञा है। उस इन्द्रक की चारो दिशाओ मे से प्रत्येक दिशा मे असख्यात योजन विस्तार वाले ४९ बिल हैं। और इसी प्रकार चारो विदिशाओ मे से प्रत्येक विदिशा मे पक्ति रूप जो ४८-४८ बिल है, वे भी असख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले है। (इन्द्रक-बिल की दिशा और विदिशाओ मे जो पक्तिरूप बिल है) उनकी 'श्रेणिवद्ध' सज्ञा है। चारो दिशा और विदिशाओ के बीच मे, पक्ति के विना, बिखरे हुए पुष्पो के समान, असख्यात योजन तथा असख्यात योजन विस्तार वाले जो बिल है उनकी 'प्रकीर्णक' सज्ञा है। ऐसे इन्द्रक, श्रेणीवद्ध और प्रकीर्णक रूप से तीन प्रकार के नरक है। इस प्रकार प्रथम पटल का व्याख्यान जानना चाहिये। इसी प्रकार पूर्वोक्त जो सातो पृथिवियो मे उनचास पटल है उनमे भी बिलो का ऐसा ही क्रम है, किन्तु प्रत्येक पटल मे, आठो दिशाओ के श्रेणीवद्ध बिलो मे से एक-एक बिल घटता गया है, अतः सातवी पृथ्वी मे चारो दिशाओ मे एक-एक बिल ही रह जाता है।

रत्नप्रभादि पृथिवियोके नारकियोके शरीर की ऊचाई को कहते हैं-प्रथम पटलमे तीन हाथ की ऊचाई है और यहा से क्रम क्रम से बढते हुए तेरहवे पटल मे सात धनुष, तीन हाथ, ६ अगुल की ऊचाई है। तदनतर दूसरी आदि पृथिवियो के अन्त के इंद्रक बिलो मे दूनी-दूनी वृद्धि करने से सातवी पृथिवी मे पाचसौ धनुष की ऊचाई होती है। ऊपर के नरक मे जो उत्कृष्ट ऊचाई है उससे कुछ अधिक नीचे के

पिण्डस्य कोऽर्थ· ? मन्द्रत्वस्य बाहुल्यस्येति । अशीतिसहस्राधिकैकलक्ष तथैव द्वात्रिंशदष्टाविंशतिचतुर्विंशतिविंशतिषोडशाष्टसहस्रप्रमितानि योजनानि ज्ञातव्यानि । तिर्यग्विस्तारस्तु चतुर्दिग्विभागे यद्यपि त्रसनाड्यपेक्षयैकरज्जुप्रमाणस्तथापि त्रसरहितबहिर्भागे लोकान्तप्रमाणमिति । तथाचोक्तं 'भुवामन्ते स्पृशन्तीना लोकान्त सर्वदिक्षु च' । अत्र विस्तारेण तिर्यग्विस्तारपर्यन्तमन्द्रत्वेन मंदरावगाह्योजनसहस्रबाहुल्या मध्यलोके या चित्रा पृथिवी तिष्ठति तस्या अधोभागे षोडशसहस्रबाहुल्य: खरभागस्तिष्ठति । तस्मादप्यधश्चतुरशीतियोजनसहस्रबाहुल्य: पङ्कभाग· तिष्ठति । ततोऽप्यधोभागे अशीतिसहस्रबाहुल्यो अब्बहुलभागस्तिष्ठतीत्येवं रत्नप्रभा पृथिवी त्रिभेदा ज्ञातव्या । तत्र खरभागेऽसुरकुलं विहाय नवप्रकारभवनवासिदेवानां तथैव राक्षसकुलं विहाय सप्तप्रकारव्यन्तरदेवाना आवासा ज्ञातव्या इति । पङ्कभागे पुनरसुराणा राक्षसाना चेति । अब्बहुलभागे नारकास्तिष्ठन्ति ।

तत्र बहुभूमिकाप्रासादवदधोऽध· सर्वपृथिवीषु स्वकीयस्वकीयबाहुल्यात् सकाशादध उपरि चैकैकयोजनसहस्र विहाय मध्यभागे भूमिक्रमेण पटलानि भवन्ति त्रयोदशैकादशनवसप्तपञ्चत्र्येकसंख्यानि, तान्येव सर्वसमुदायेन पुनरेकोनपञ्चाशत्प्रमितानि पटलानि । पट-

---

अब रत्नप्रभा आदि भूमियो का पिंड प्रमाण क्रम से कहते हैं। यहा पिंड शब्द का अर्थ गहराई या मोटाई है। प्रथम पृथिवी का एक लाख अस्सी हजार, दूसरी का बत्तीस हजार तीसरी का अट्ठाईस हजार, चौथी का चौबीस हजार, पाचवी का बीस हजार, छठी का सोलह हजार और सातवी का आठ हजार योजन पिंड जानना चाहिये। उन पृथिवियों का तिर्यग् विस्तार चारो दिशाओ मे यद्यपि त्रस नाडी की अपेक्षा से एक रज्जु प्रमाण है तथापि त्रसो से रहित जो त्रस नाडी के बाहर का भाग है वह लोक के अन्त तक है। सोही कहा है–"अन्त को स्पर्श करती हुई भूमियो का प्रमाण सब दिशाओ मे लोकान्त प्रमाण है।" अब यहा विस्तार की अपेक्षा तिर्यग् लोक पर्यन्त विस्तार वाली, गहराई (मोटाई) की अपेक्षा मेरु की अवगाह समान एक हजार योजन मोटी चित्रा पृथिवी मध्य लोक मे है। उस पृथिवी के नीचे सोलह हजार योजन मोटा खर भाग है। उस खर भाग के नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पङ्क भाग है। उससे भी नीचे के भाग मे अस्सी हजार योजन मोटा अब्बुल भाग है। इस प्रकार रत्नप्रभा पृथिवी खर भाग, पङ्क भाग और अब्बहुल भाग भेदो से तीन प्रकार की जाननी चाहिए। उनमें ही खर भाग मे असुरकुमार देवो के सिवाय नौ प्रकार के भवनवासी देवो के और राक्षसो के सिवाय सात प्रकार के व्यन्तर देवो के निवासस्थान हैं। पङ्क भाग मे असुर तथा राक्षसो का निवास है। अब्बहुल भाग मे नरक हैं।

बहुत से खनो वाले महल के समान नीचे-नीचे सब पृथिवियो मे अपनी-अपनी मोटाई मे, नीचे और ऊपर एक-एक हजार योजन छोड कर, जो बीच का भाग हैं, उसमे पटल होते है। भूमि के क्रम से वे पटल पहली नरक पृथ्वी मे तेरह, दूसरी मे ग्यारह, तीसरी मे नौ, चौथी मे सात, पाचवी

कथ्यते । प्रथमपृथिव्या प्रथमे पटले जघन्येन दशवर्षसहस्राणि तत आगमोक्तक्रमवृद्धिवशादन्तपटले सर्वोत्कर्षेणैकसागरोपमम् । तत पर द्वितीयपृथिव्यादिषु क्रमेण त्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपममुत्कृष्टजीवितम् । यच्च प्रथमपृथिव्यामुत्कृष्टं तद्द्वितीयाया समयाधिकं जघन्य, तथैव पटलेषु च । एव सप्तमपृथिवीपर्यन्त ज्ञातव्यम् । स्वशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयविलक्षणैस्तीव्रमिथ्यात्वदर्शनज्ञानचारित्रै. परिणतानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियसरटपक्षिसर्पसिंहस्त्रीणा क्रमेण रत्नप्रभादिषु षट्पृथिवीषु गमनशक्तिरस्ति सप्तम्या तु कर्मभूमिजमनुष्याणा मत्स्यानामेव । किञ्च—यदि कोऽपि निरन्तर नरके गच्छति तदा पृथिवीक्रमेणाष्टसप्तषट्पञ्चचतुस्त्रिद्विसंख्यवारानेव । किन्तु सप्तमनरकादागता पुनरप्येकवारं तत्रान्यत्र वा नरके गच्छन्तीति नियम । नरकादागता जीवा बलदेववासुदेवप्रतिवासुदेवचक्रवर्तिसंज्ञा शलाकापुरुषा न भवन्ति । चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमनरकेभ्य. समागता' क्रमेण तीर्थकरचरमदेहभावसयतश्रावका न भवन्ति । तर्हि कि भवन्ति ? 'णिरयादो णिस्सरिदो णरतिरिए कम्मसण्णिपज्जत्ते । गब्भभवे उप्पज्जदि सत्तमणिरयादु तिरिएव ॥ १ ॥'

नरक मे जघन्य ऊंचाई है। इसी प्रकार पटलो मे भी जानना चाहिये । नारकी जीवो की आयु का प्रमाण कहते है। प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल मे जघन्य दस हजार वर्ष की आयु है, तत्पश्चात् आगम मे कही हुई क्रमनुसार वृद्धि से अन्त के तेरहवे पटल मे एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनन्तर क्रम से दूसरी पृथिवी मे तीन सागर, तीसरी मे सात सागर, चौथी मे दस सागर, पाचवी मे सत्रह सागर छठी मे बाईस सागर और सातवी मे तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। जो पहली पृथिवी मे उत्कृष्ट आयु है, वह समय अधिक दूसरी मे जघन्य आयु है। इसी तरह जो पहले पटल मे उत्कृष्ट आयु है सो दूसरे में समयाधिक जघन्य है। ऐसे ही सातवी पृथिवी तक जानना चाहिये । निजशुद्ध-आत्मानुभव रूप निश्चय रत्नत्रय से विलक्षण जो तीव्र मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, उनसे परिणत असज्ञी पचेन्द्रिय, सरट (गोह आदि), पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री की क्रम से रत्नप्रभादि छः पृथिवियो तक जाने की शक्ति है (असैनी पंचेन्द्रिय प्रथम भूमि तक, सरट (गोह) दूसरी तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पाचवी तक तथा स्त्री का जीव छठी भूमि तक जा सकता है), और सातवी पृथिवी मे कर्मभूमि के उत्पन्न हुए मनुष्य और मगरमच्छ ही जा सकते हैं। विशेष—यदि कोई जीव निरन्तर नरक मे जाता है तो प्रथम पृथिवी मे आठ बार, दूसरी मे सात बार, तीसरी मे छ बार, चौथी मे पाच बार, पाचवी मे चार बार, छठी मे तीन बार और सातवी मे दो बार ही जा सकता है। किंतु सातवे नरक से आये हुए जीव फिर भी एक बार उसी या अन्य किसी नरक मे जाते हैं, ऐसा नियम है। नरक से आये हुए जीव बलदेव, नारायण, प्रतिनारायण और चक्रवर्ती नामक शलाका पुरुष नही होते। चौथे नरक के आये हुये तीर्थङ्कर, पाचवे से आये हुये चरम शरीरी, छठे से आये हुये भावलिंगी मुनि

इदानी नारकदुःखानि कथ्यन्ते । तद्यथा—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानभावनोत्पन्ननिर्विकारपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादरहितैः पञ्चेन्द्रियविषयसुखास्वादलम्पटैर्मिथ्यादृष्टिजीवैर्यदुपार्जितं नरकायुर्नरकगत्यादिपापकर्म तदुदयेन नरके समुत्पद्य पृथिवीचतुष्टये तीव्रोष्णदुःखं, पञ्चम्यां पुनरुपरितन–त्रिभागे तीव्रोष्णदुःखमधोभागे तीव्र–शीत–दुःखं, षष्ठीसप्तम्योरतिशीतोत्पन्नदुःखमनुभवन्ति । तथैव छेदनभेदनक्रकचविदारणयन्त्रपीडनशूलारोहणादितीव्रदुःखं सहंते तथाचोक्तं—"अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुःखमेव अणुवद्धं । णिरये णेरयियाण अहोणिसं पच्चमाणाणं ॥ १ ॥" प्रथमपृथिवीत्रयपर्यंतमसुरोदीरितं चेति । एवं ज्ञात्वा,, नारकदुःखविनाशार्थं भेदाभेदरत्नत्रयभावना कर्तव्या । सक्षेपेणाधोलोकव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ।

अतः परं तिर्यक्लोकः कथ्यते—जम्बूद्वीपादिशुभनामानो द्वीपाः लवणोदादिशुभनामानः समुद्राश्च द्विगुणद्विगुणविस्तारेण पूर्वं पूर्वं परिवेष्ट्य वृत्ताकाराः स्वयम्भूरमणपर्यन्तास्तिर्यग्विस्तारेण विस्तीर्णास्तिष्ठन्ति यतस्तेन कारणेन तिर्यग् लोको भण्यते, मध्य-

---

और सातवे से आये हुए श्रावक नही होते । तो क्या होते हैं ? "नरक से आये हुए जीव, कर्मभूमि मे सज्ञी, पर्याप्त तथा गर्भज मनुष्य या तिर्यंच होते हैं। सातवें नरक से आये हुये तिर्यंच ही होते हैं ॥ १ ॥

अब नारकियो के दुःखों का कथन करते है। यथा—विशुद्धज्ञान, दर्शनस्वभाव निज शुद्ध परमात्म तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान–ज्ञान-आचरण की भावना से समुत्पन्न निर्विकार-परम-आनन्दमय सुखरूपी अमृत के आस्वाद से रहित और पाच इन्द्रियो के विषय सुखास्वाद मे लम्पट, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवो ने जो नरक आयु तथा नरक गति आदि पापकर्म उपार्जन किया है, उसके उदय से वे नरक मे उत्पन्न होते है। वहा पहले की चार पृथिवियो मे तीव्र गर्मी का दुःख और पांचवी पृथिवी के ऊपरी तीन चौथाई भाग मे तीव्र उष्णता का दुःख और नीचे के चौथाई भाग मे तीव्र शीत का दुःख तथा छठी और सातवी पृथिवी मे अत्यन्त शीत के दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार छेदने, भेदने, करोती से चीरने, घानी मे पेरने और शूली पर चढाने आदिरूप तीव्र दुःख सहन करते है। सो ही कहा है कि 'नरक मे रात—दिन दुःख—रूप अग्नि मे पकते हुए नारकी जीवो को नेत्रो के टिमकार मात्र भी सुख नहीं है, किन्तु सदा दुःख ही लगा रहता है। १।' पहली तीन पृथिवियो तक, असुरकुमार देवो द्वारा उत्पन्न किये हुए दुःख को भी सहते हैं। ऐसा जान कर, नरक—सम्बन्धी दुःख के नाश के लिये भेद तथा अभेद रूप रत्नत्रय की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार सक्षेप से अधोलोक का व्याख्यान जानना चाहिये ।

इसके अनन्तर तिर्यग् लोक का वर्णन करते है। अपने दूने—दूने विस्तार से पूर्व-पूर्व द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप इस क्रम से वेढ करके, गोल आकार वाले जबू द्वीप आदि शुभ नामो वाले द्वीप और लवणोदधि आदि शुभ नामो वाले समुद्र, स्वयभूरमण समुद्र तक तिर्यग् विस्तार से फैले हुए

लोकाश्च । तद्यथा—तेषु सार्द्धतृतीयोद्धारसागरोपमलोमच्छेदप्रमितेष्वसख्यातद्वीपसमुद्रेषु मध्ये जम्बूद्वीपस्तिष्ठति । स च जम्बूवृक्षोपलक्षितो मध्यभागस्थितमेरुपर्वतसहितो वृत्ताकारलक्षयोजनप्रमाणस्तद्द्विगुणविष्कम्भेण योजनलक्षद्वयप्रमाणेन वृत्ताकारेण वहिर्भागे लवणसमुद्रेण वेष्टित । सोऽपि लवणसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनलक्षचतुष्टयप्रमाणेन वृत्ताकारेण वहिर्भागे धातकीखण्डद्वीपेन वेष्टित । सोऽपि धातकीखण्डद्वीपस्तद्द्विगुणविस्तारेण योजनाष्टलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण वहिर्भागे कालोदकसमुद्रेण वेष्टित । सोऽपि कालोदकसमुद्रस्तद्द्विगुणविस्तारेण षोडशयोजनलक्षप्रमाणेन वृत्ताकारेण वहिर्भागे पुष्करद्वीपेन वेष्टित । इत्यादिद्विगुणद्विगुणविष्कम्भ स्वयम्भूरमणद्वीपस्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तो ज्ञातव्य. । यथा जम्बूद्वीपलवणसमुद्रविष्कम्भद्वयसमुदायाद्योजनलक्षत्रयप्रमितात्सकाशाद्धातकीखण्ड एकलक्षेणाधिकस्तथैवासख्येयद्वीपसमुद्रविष्कम्भेभ्य स्वयम्भूरमणसमुद्रविष्कम्भ एकलक्षेणाधिको ज्ञातव्य । एवमुक्तलक्षणेष्वसंख्येयद्वीपसमुद्रेषु व्यन्तरदेवाना पर्वताद्युपरिगता आवासा, अधोभूभागगतानि भवनानि तथैव द्वीपसमुद्रादिगतानि पुराणि च, परमागमोक्तभिन्नलक्षणानि । तथैव खरभागपङ्कभागस्थितप्रतरासख्येयभागप्रमाणासंख्येयव्यन्तरदेवावासा, तथैव

है । इस कारण इसको तिर्यग् लोक या मध्य लोक भी कहते है । वह इस प्रकार है—साढे तीन उद्धार सागर प्रमाण लोमो (बालो) के टुकडो के बराबर जो असख्यात द्वीप समुद्र है, उनके बीच मे जवू द्वीप है वह जवू (जामन) के वृक्ष से चिन्हित तथा मध्य भाग मे स्थित सुमेरु पर्वत से सहित है, गोलाकार एक लाख योजन लम्बा चौडा है । बाह्य भाग अपने से दूने विस्तार वाले दो लाख योजन प्रमाण गोलाकार लवण समुद्र से वेष्टित वेढा हुआ) है । वह लवण—समुद्र भी बाह्य भाग मे अपने से दूने विस्तार वाले चार लाख योजन प्रमाण गोलाकार धातकी खण्ड द्वीप से वेष्टित है । वह धातकी खण्ड द्वीप भी बाह्य भाग मे अपने से दूने विस्तार वाले आठ लाख योजन प्रमाण गोलाकार कालोदक समुद्र से वेष्टित है । वह कालोदक समुद्र भी बाह्य भाग मे अपने से दूने विस्तार वाले सोलह योजन प्रमाण गोलाकार पुष्कर द्वीप से वेष्टित है । इस प्रकार यह दूना विस्तार स्वयभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण समुद्र तक जानना चाहिये । जैसे जवू द्वीप एक लाख योजन और लवण समुद्र दो लाख योजन चौडा है, इन दोनो का समुदाय तीन लाख योजन है, उससे एक लाख योजन अधिक अर्थात् चार लाख योजन धातकी खण्ड है । इसी प्रकार असख्यात द्वीप समुद्रो का जो विष्कभ है उससे एक लाख योजन अधिक स्वयभूरमण समुद्र का विष्कम्भ जानना चाहिये । ऐसे पूर्वोक्त लक्षण के धारक असख्यात द्वीप समुद्रो मे पर्वत आदि के ऊपर व्यन्तर देवो के आवास, नीचे की पृथिवी के भाग मे भवन, और द्वीप तथा समुद्र आदि मे पुर है । इन आवास, भवन तथा पुरो के परमागमानुसार ये भिन्न २ लक्षण हैं । इसी प्रकार रत्नप्रभा भूमि के खर भाग और पङ्क भाग मे स्थित प्रतर के असंख्यातव भाग प्रमाण व्यतर देवो के आवास

द्वासप्ततिलक्षाधिककोटिसप्तप्रमितभवनवासिदेवसंबन्धिभवनानि अकृत्रिमजिनचैत्यालयसहितानि भवन्ति । एवमतिसंक्षेपेण तिर्यग्लोको व्याख्यातः ।

अथ तिर्यग्लोकमध्यस्थितो मनुष्यलोको व्याख्यायते—तन्मध्यस्थित–जम्बूद्वीपे सप्तक्षेत्राणि भण्यन्ते । दक्षिणदिग्विभागादारभ्य भरतहैमवतहरिविदेहरम्यक हैरण्यवतैरावतसंज्ञानि सप्तक्षेत्राणि भवन्ति । क्षेत्राणि कोऽर्थः ? वर्षा वंशादेशा जनपदा इत्यर्थः । तेषां क्षेत्राणां विभागकारका. षट् कुलपर्वता कथ्यन्ते—दक्षिणदिग्भागमादीकृत्य हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिसंज्ञा भरतादिसप्तक्षेत्राणामन्तरेषु पूर्वापरायता. षट् कुलपर्वता. भवन्ति । पर्वता इति कोऽर्थ । वर्षधरपर्वताः सीमापर्वता इत्यर्थः । तेषां पर्वतानामुपरि क्रमेण ह्रदा कथ्यन्ते । पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकसंज्ञा अकृत्रिमा षट् ह्रदा भवन्ति । ह्रदा इति कोऽर्थ. ? सरोवराणीत्यर्थः । तेभ्य पद्मादिषड्ह्रदेभ्यः सकाशादागमकथितक्रमेण निर्गता याश्चतुर्दशमहानद्यस्ताः कथ्यन्ते । तथाहि—हिमवत्पर्वतस्थपद्मनाममहाह्रदादर्धक्रोशावगाहक्रोशाधिकषट्योजन[१] प्रमाणविस्तारपूर्वतोरणद्वारेण निर्गत्य तत्पर्वतस्यैवोपरि पूर्वदिग्विभागेन योजनशतपञ्चकम् गच्छति ततो गङ्गाकूटसमीपे दक्षिणेन

(भवन) तथा सात करोड बहत्तर लाख भवनवासी देवो के भवन अकृत्रिम चैत्यालयो सहित है । इस प्रकार अत्यन्त सक्षेप से मध्यलोक का व्याख्यान किया ।

अब तिर्यग् लोक के बीच मे स्थित मनुष्य लोक का व्याख्यान करते हैं । उस मनुष्य लोक के बीच मे स्थित जम्बू द्वीप मे सात क्षेत्र हैं । दक्षिण दिशा से आरम्भ होकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नामक सात क्षेत्र हैं । क्षेत्र का क्या अर्थ है ? यहा क्षेत्र शब्द से वर्ष, वश देश अथवा जनपद अर्थ का ग्रहण है । उन क्षेत्रो का विभाग करने वाले छह कुलाचल हैं । दक्षिण दिशा की ओर से उनके नाम हिमवत् १, महाहिमवत् २, निषध ३, नील ४, रुक्मी ५ और शिखरी ६ है । पूर्व-पश्चिम लम्बे ये पर्वत उन भरत आदि सप्त क्षेत्रो के बीच मे हैं । पर्वत का क्या अर्थ है ? पर्वत का अर्थ वर्षधर पर्वत अथवा सीमा पर्वत है । उन पर्वतो के ऊपर ह्रदो का क्रम से कथन करते है । पद्म १, महापद्म २, तिगिंछ ३, केसरी ४, महापुण्डरीक ५ और पुण्डरीक ६ ये अकृत्रिम छ. ह्रद हैं ह्रद का क्या अर्थ है ह्रद का अर्थ सरोवर है । उन पद्म आदि ह्रदोसे आगममे कहे क्रमानुसार जो चौदह महा नदिया निकली हैं उनका वर्णन करते है । तथा–हिमवत् पर्वत पर स्थित पद्म नामक महा ह्रद के पूर्वतोरण द्वार से, अर्ध कोस प्रमाण गहरी और एक कोस अधिक छ योजन प्रमाण चौडी गङ्गा नदी निकलकर, उसी हिमवत् पर्वत के ऊपर पूर्व दिशा मे पाच सौ योजन तक जाती है, फिर वहा से गङ्गाकूट के पास दक्षिण दिशा को मुडकर, भूमि मे स्थित कुण्ड मे गिरती है, वहा से दक्षिण द्वार से निकलकर, भरत क्षेत्र के मध्य भाग मे स्थित तथा अपनी लम्बाई से पूर्व पश्चिम समुद्र को छूने वाले विजयार्द्ध पर्वत की गुफा

१—'क्रोशार्धाधिक षट योजन' इति पाठान्तर ।

व्यावृत्य भूमिस्थकुण्डे पतति तस्माद् दक्षिणद्वारेण निर्गत्य भरतक्षेत्रमध्यभागस्थितस्य दीर्घत्वेन पूर्वापरसमुद्रस्पर्शिनो विजयार्द्धस्य गुहाद्वारेण निर्गत्य, तत आर्यखण्डार्द्धभागे पूर्वेण व्यावृत्य प्रथमावगाहापेक्षया दशगुणेन गव्यूतिपञ्चकावगाहेन तथैव प्रथमविष्कम्भापेक्षया दशगुणेन योजनार्द्धसहितद्विषष्टियोजनप्रमाणविस्तारेण च पूर्वसमुद्रे प्रविष्टा गङ्गा। तथा गङ्गावत्सिन्धुरपि तस्मादेव हिमवत्पर्वतस्थपद्महृदात्पर्वतस्यैवोपरि पश्चिमद्वारेण निर्गत्य पश्चाद्दक्षिणदिग्विभागेनागत्य विजयार्द्धगुहाद्वारेण निर्गत्यार्यखण्डार्द्धभागे पश्चिमेन व्यावृत्य पश्चिमसमुद्रे प्रविष्टेति। एवं दक्षिणदिग्विभागसमागतगङ्गासिन्धुभ्यां पूर्वापरायतेन विजयार्द्धपर्वतेन च षट्खण्डीकृतं भरतक्षेत्रम्।

अथ महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्महृदाद्दक्षिणदिग्विभागेन हैमवतक्षेत्रमध्ये समागत्य तत्रस्थनाभिगिरिपर्वतं योजनार्द्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धं प्रदक्षिणं कृत्वा रोहित्पूर्वसमुद्रं गता। तथैव हिमवत्पर्वतस्थितपद्महृदादुत्तरेणागत्य तमेव नाभिगिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्द्धप्रदक्षिणं कृत्वा रोहितास्या पश्चिमसमुद्रं गता। इति रोहिद्रोहितास्यासंज्ञं नदीद्वन्द्वं हैमवतसंज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम्। अथ निषधपर्वतस्थिततिगिञ्छनामहृदाद्दक्षिणेनागत्य नाभिगिरिपर्वतं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरित्पूर्वसमुद्रं गता। तथैव महाहिमवत्पर्वतस्थमहापद्मनामहृदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य तमेव नाभि-

---

के द्वार से निकलकर, आर्यखंड के अर्ध भाग मे पूर्व को घूमकर पहली गहराई की अपेक्षा दसगुणी अर्थात् ५ कोस गहराई और इसी प्रकार पहली चौडाई से दसगुणी अर्थात् साढे बासठ योजन चौडी गङ्गा नदी पूर्व समुद्र मे प्रवेश करती है। इस गङ्गा की भाति सिंधु नामक महानदी भी उसी हिमवत् पर्वत पर विद्यमान् पद्म ह्रद के पश्चिम द्वार से निकलकर पर्वत पर ही गमन करके फिर दक्षिण दिशा को आकर विजयार्द्ध की गुफा के द्वार के निकलकर आर्यखड के अर्धभाग मे पश्चिम को मुडकर पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। इस प्रकार दक्षिण दिशा को आई हुई गगा और सिंधु दो नदियो से और पूर्व पश्चिम लम्बे विजयार्द्ध पर्वत से भरत क्षेत्र छ खंड वाला किया गया अर्थात् भरत के छ खड हो जाते है।

महा हिमवत् पर्वत पर स्थित महा पद्म नामक ह्रद के दक्षिण दिशा की ओर से हैमवत् क्षेत्र के मध्य मे आकर, वहा पर स्थित नाभिगिरि पर्वत को आधा योजन से न छूती हुई। पर्वत से आधा योजन दूर रहकर), उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करती हुई रोहितनामा नदी पूर्व समुद्र को गई है। इसी प्रकार रोहितास्या नदी हिमवत् पर्वत के पद्म ह्रद से उत्तर को आकर, उसी नाभिगिरि से आधा योजन दूर रहती हुई, उसी पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पश्चिम समुद्र मे गई है। ऐसे रोहित और रोहितास्या नामक दो नदिया हैमवत नामक जघन्य भोग भूमि के क्षेत्र मे जाननी चाहिए। हरित नदी निषध पर्वत के तिगिंछ ह्रद से दक्षिण को आकर नाभिगिरि पर्वत से आधे योजन दूर रहकर उसी

गिरिं योजनार्धेनास्पृशन्ती तस्यैवार्धप्रदक्षिणं कृत्वा हरिकान्तानामनदी पश्चिमसमुद्रम् गता। इति हरिद्धरिकातासज्ञं नदीद्वय हरिसज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे विज्ञेयम्। अथ नीलपर्वतस्थितकेसरिनामह्रदाद्दक्षिणेनागत्योत्तरकुरुसंज्ञोत्कृष्टभोगभूमिक्षेत्रे मध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरुं विहाय पूर्वभद्रशालवनस्य मध्येन पूर्वविदेहस्य च मध्येन शीतानामनदी पूर्वसमुद्रं गता। तथैव निषधपर्वतस्थिततिगिच्छह्रदादुत्तरदिग्विभागेनागत्य देवकुरुसज्ञोत्तमभोगभूमिक्षेत्रमध्येन गत्वा मेरुसमीपे गजदन्तपर्वतं भित्वा च प्रदक्षिणेन योजनार्धेन मेरु विहाय पश्चिमभद्रशालवनस्य मध्येन पश्चिमविदेहस्य च मध्येन शीतोदा पश्चिमसमुद्र गता। एवं शीताशीतोदासज्ञ नदीद्वय विदेहाभिधाने कर्मभूमिक्षेत्रे ज्ञातव्यम्। यत्पूर्वं गङ्गासिन्धुनदीद्वयस्य विस्तारावगाहप्रमाणं भणितं तदेव क्षेत्रे क्षेत्रे नदीयुगलं प्रति विदेहपर्यन्तं द्विगुणं द्विगुणं ज्ञातव्यम्। अथ गङ्गा चतुर्दशसहस्रपरिवारनदीसहिता, सिन्धुरपि तथा, तद्द्विगुणसख्यान रोहिद्रोहितास्याद्वयम्, ततोऽपि द्विगुणसख्यानं हरिद्धरिकान्ताद्वयम्, तद्द्विगुणं शीताशीतोदाद्वयमिति। तथा षड्विंशत्यधिकयोजनशतपञ्चकमेकोनविंशतिभागी–कृतैकयोजनस्य भागषट्कं च यद्दक्षिणोत्तरेण कर्मभूमिसज्ञ भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भप्रमाणं, तद्द्विगुणं हिमवत्पर्वते, तस्माद्द्विगुणं

पर्वत की आधी प्रदक्षिणा करके पूर्व समुद्र मे गई है। इसी तरह हरिकान्ता नदी महा हिमवत् पर्वत के महा पद्म ह्रद से उत्तर दिशा की ओर आकर, उसी नाभिगिरि को आधे योजन तक न स्पर्शती हुई अर्ध प्रदक्षिणा देकर, पश्चिम समुद्र मे गई है। ऐसे हरित् और हरिकान्ता नामक दो नदिया हरि नामक मध्य-भोग-भूमि क्षेत्र मे हैं। शीता नदी नील पर्वत के केसरी ह्रद से दक्षिण को आकर, उत्तरकुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमि क्षेत्र के बीच मे होकर, मेरु के पास आकर, गजदन्त पर्वत को भेदकर और मेरु की प्रदक्षिणा से आधे योजन तक दूर रहकर, पूर्व भद्रशालवन और पूर्व विदेह के मध्य मे होकर, पूर्व समुद्र को गई है। इसी प्रकार शीतोदा नदी निषेध पर्वत से तिगिञ्छ ह्रद से उत्तर को आकर, देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि क्षेत्र के बीच मे से जाकर, मेरु के पास गजदन्त पर्वत को भेद कर और मेरु की प्रदक्षिणा से आधे योजन दूर रह कर, पश्चिम भद्रशालवन के और पश्चिम विदेह के मध्य मे गमन करके, पश्चिम समुद्र को गई है। ऐसे शीता और शीतोदा नामक नदियो का युगल विदेह नामक कर्मभूमि के क्षेत्र मे जानना चाहिये। जो विस्तार और अवगाह का प्रमाण पहले गंगा–सिंधु नदियो का कहा है, उससे दूना दूना विस्तार आदि, प्रत्येक क्षेत्र मे, नदियो के युगलो का विदेह तक जानना चाहिये गङ्गा चौदह हजार परिवार की नदियो सहित है। इसी प्रकार सिंधु भी चौदह हजार नदियो की धारक है। इनसे दूनी परिवार नदियो की धारक रोहित व रोहितास्या है। हरित-हरिकान्ता का इससे भी दूना परिवार है। शीता-शीतोदा दोनो नदियो का इससे भी अधिक परिवार है। दक्षिण से उत्तर को पांच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागो मे से ६ भाग प्रमाण कर्मभूमि भरत क्षेत्र

हैमवतक्षेत्रे, इत्यादि द्विगुण द्विगुण विदेहपर्यन्त ज्ञातव्यम् । तथा पद्महृदो योजनसहस्रायामस्तदर्द्ध विष्कम्भो दशयोजनावगाहो योजनैकप्रमाणपद्मविष्कम्भस्तस्मान्महापद्मे द्विगुणस्तस्मादपि तिगिछे द्विगुण इति ।

अथ यथा भरते हिमवत्पर्वतान्निर्गतं गङ्गासिन्धुद्वय, तथोत्तरे कर्मभूमिसज्ञैरावतक्षेत्रे शिखरिपर्वतान्निर्गत रक्तारक्तोदानदीद्वयम् । यथा च हैमवतसज्ञे जघन्यभोगभूमिक्षेत्रे महाहिमवद्धिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गत रोहितरोहितास्यानदीद्वय, तथोत्तरे हैरण्यवतसज्ञजघन्यभोगभूमिक्षेत्रे शिखरिरुक्मिसज्ञपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गत सुवर्णकूलारूप्यकूलानदीद्वयम् । तथैव यथा हरिसज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे निषधमहाहिमवन्नामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गत हरिद्धरिकान्तानदीद्वय, तथोत्तरे रम्यकसज्ञमध्यमभोगभूमिक्षेत्रे रुक्मिनीलनामपर्वतद्वयात्क्रमेण निर्गत नारीनरकान्तानदीद्वयमिति विज्ञेयम् । सुषमसुषमादिषट्कालमवधिपरमागमोक्तायुरुत्सेधादिसहिता दशसागरोपमकोटिप्रमितावसर्पिणी तथोत्सर्पिणी च यथा भरते वर्त्तते तथैवैरावते च । अयन्तु विशेष, भरतैरावतम्लेच्छखण्डेषु विजयार्धनगेषु च चतुर्थकालसमयाद्यन्ततुल्यकालोऽस्ति नापर । किं बहुना, यथा खट्वाया एकभागे ज्ञाते

का निष्कम्भ है। उसमे दूना हिमवत्पर्वत का, हिमवत् पर्वत से दूना हैमवत क्षेत्र का, ऐसे दूना—दूना विष्कम्भ विदेह क्षेत्र-तक जानना चाहिये। पद्मह्रद एक हजार योजन लम्बा, उससे आधा (पाच सौ योजन (चौडा और दस योजन गहरा है, उसमे एक योजन का कमल है, उससे दूना महापद्म ह्रद मे और उससे दूना तिगिछ ह्रद मे जानना।

जैसे भरत क्षेत्र मे हिमवत् पर्वत से गङ्गा तथा सिंधु ये दो नदियें निकलती है वैसे ही उत्तर दिशा मे कर्मभूमि सज्ञक ऐरावत क्षेत्र मे शिखरी पर्वत से निकली हुई रक्ता तथा रक्तोदा नामक दो नदियें है। जैसे हैमवत नामक जघन्य भोगभूमि क्षेत्र मे महाहिमवत् और हिमवत् नामक दो पर्वतो मे क्रमश निकली हुई रोहित तथा रोहितास्या, ये दो नदिया है, इसी प्रकार उत्तर मे हैरण्यवत नामक जघन्य भोगभूमि मे, शिखरी और रुक्मी नामक पर्वतो मे क्रमश निकली हुई सुवर्णकूला तथा रूप्यकूला ये दो नदिया हैं। जिस तरह हरि नामक मध्यम भोगभूमि मे, निषध और महाहिमवन पर्वतो से क्रमश निकली हुई हरित—हरिकान्ता, ये दो नदिया है, उसी तरह उत्तर मे रम्यक नामक मध्यम भोगभूमि क्षेत्र मे रुक्मी और नील सज्ञक दो पर्वतो से क्रमश निकली हुई नारी-नरकान्ता दो नदिया जाननी चाहियें। सुषमसुषमा आदि छहो कालो सम्बन्धी आयु तथा शरीर की ऊचाई आदि परमागम मे कही गई है, उन सहित, दसकोटाकोटि सागर प्रमाण, अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल भरत जैसे ही ऐरावत् मे भी होते है। इतना विशेष है, भरत-ऐरावत के म्लेच्छ खण्डो मे और विजयार्द्ध पर्वत मे चतुर्थ काल की आदि तथा अन्त के समान काल वर्तता है, अन्य काल नही वर्तता। विशेष क्या कहे, जैसे खाट का एक भाग जान लेने पर उसका दूसरा भाग भी उसी प्रकार समझ लिया जाता है, उसी तरह जम्बूद्वीप

द्वितीयभागस्तथैव ज्ञायते तथैव जम्बूद्वीपस्य क्षेत्रपर्वतनदीह्रदादीनां यदेव दक्षिणविभागे व्याख्यानं तदुत्तरेऽपि विज्ञेयम् ।

अथ देहममत्वमूलभूतमिथ्यात्वरागादिविभावरहिते केवलज्ञानदर्शनसुखाद्यनन्तगुणसहिते च निजपरमात्मद्रव्ये यया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभावनया कृत्वा विगतदेहा देहरहिता सन्तो मुनय प्राचुर्येण यत्र मोक्ष गच्छन्ति स विदेहो भण्यते । तस्य जम्बूद्वीपस्य मध्यवर्त्तिन. किमपि विवरणं क्रियते । तद्यथा—नवनवतिसहस्रयोजनोत्सेध एकसहस्रावगाह आदौ भूमितले दशयोजनसहस्रवृत्तविस्तार उपर्युपरि पुनरेकादशांशहानिक्रमेण हीयमानत्वे सति मस्तके योजनसहस्रविस्तार आगमोक्ताकृत्रिमचैत्यालयदेववनदेवावासाद्यागमकथितानेकाश्चर्यसहितो विदेहक्षेत्रमध्ये महामेरुर्नाम पर्वतोस्ति । स च गजो जातस्तस्मान्मेरुगजात्मकाशादुत्तरमुखे दन्तद्वयाकारेण यन्निर्गत पर्वतद्वयं तस्य गजदन्तद्वयसंज्ञेति, तथोत्तरे भागे नीलपर्वते लग्न तिष्ठति । तयोर्मध्ये यत्त्रिकोणाकारक्षेत्रमुत्तमभोगभूमिरूपं तस्योत्तरकुरुसज्ञा । तस्य च मध्ये मेरोरीशानदिग्विभागे शीतानीलपर्वतयोर्मध्ये परमागमवर्णितानाद्यकृत्रिमपार्थिवो जम्बूवृक्षस्तिष्ठति । तस्या एव शीताया उभयतटे यमकगिरिसंज्ञं पर्वतद्वयं विज्ञेयम् । तस्मात्पर्वतद्वयाद्दक्षिणभागे कियन्तमध्वानं गत्वा शीतानदीमध्ये अन्त-

---

के क्षेत्र, नदी, पर्वत और ह्रद आदि का जो दक्षिण दिशा सम्बन्धी व्याख्यान है वही उत्तर दिशा सम्बन्धी जानना चाहिये ।

अब शरीरमे ममत्वके कारणभूत मिथ्यात्व तथा राग आदि विभावोसे रहित और केवलज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख आदि अनन्त गुणो से सहित निज परमात्म द्रव्य मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप भावना करके, मुनिजन जहा मे विगतदेह अर्थात् देहरहित होकर अधिकता से मोक्ष प्राप्त करते हैं उसको विदेह कहते हैं । जम्बूद्वीप के मध्य मे स्थित विदेह क्षेत्रका कुछ वर्णन करते हैं । निण्यानवे हजार योजन ऊंचा, एक हजार योजन गहरा और आदि मे भूमितल पर दस हजार योजन गोल विस्तार वाला तथा ऊपर ऊपर ग्यारहवे भाग हानि क्रम से घटते घटते शिखर पर एक हजार योजन विस्तार का धारक और शास्त्र में कहे हुए अकृत्रिम चैत्यालय, देववन तथा देवो के आवास आदि नाना प्रकार के आश्चर्यों सहित ऐसा महामेरुनामक पर्वत विदेह क्षेत्र के मध्य मे है, वही मानो गज (हाथी) हुआ, इस मेरुरूप गज से उत्तर दिशा मे दो दन्तो के आकार से जो दो पर्वत निकले हैं, उनका नाम 'दो-गजदन्त' है और वे दोनो उत्तर भाग मे जो नील पर्वत है उसमे लगे हुए है । उन दोनो गजदन्तो के मध्य मे जो त्रिकोण आकारवाला उत्तम भोगभूमिरूप क्षेत्र है, उसका नाम 'उत्तरकुरु' है और उसके मध्य में मेरु की ईशान दिशा मे शीता नदी और नील पर्वत के बीच मे परमागम-कथित अनादि—अकृत्रिम तथा पृथ्वीकायिक जम्बू वृक्ष है । उसी शीता नदी के दोनो किनारो पर यमकगिरि नामक दो पर्वत जानने चाहिये । उन दोनो यमकगिरि पर्वतो से दक्षिण दिशा मे कुछ मार्ग चलने पर शीता नदी के बीच में कुछ-कुछ अन्तराल से पद्म आदि पांच ह्रद है । उन ह्रदों के दोनो पसवाड़ो में से प्रत्येक पार्श्व में, लोकानुयोग के

रान्तरेण पद्मादिह्रदपञ्चकमस्ति । तेषां ह्रदानामुभयपार्श्वयोः प्रत्येकं सुवर्णरत्नमयजिन-गृहमण्डिता लोकानुयोगव्याख्यानेन दश दश सुवर्णपर्वता भवन्ति । तथैव निश्चयव्यवहार-रत्नत्रयाराधकोत्तमपात्रपरमभक्तिदत्ताहारदानफलेनोत्पन्नानां तिर्यग्मनुष्याणां स्वशुद्धात्म-भावनोत्पन्ननिर्विकारसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादविलक्षणस्य चक्रवर्तिभोगसुखादप्य-धिकस्य विविधपञ्चेन्द्रियभोगसुखस्य प्रदायका ज्योतिर्गृहप्रदीपतूर्यभोजनवस्त्रमाल्यभाजन-भूषणरागमदोत्पादकरसांगसंज्ञा दशप्रकारकल्पवृक्षा भोगभूमिक्षेत्रं व्याप्य तिष्ठन्तीत्यादि-परमागमोक्तप्रकारेणानेकाश्चर्याणि ज्ञातव्यानि । तस्मादेव मेरुगजाद्दक्षिणदिग्विभागेन गजदन्तद्वयमध्ये देवकुरुसंज्ञमुत्तमभोगभूमिक्षेत्रमुत्तरकुरुवद्विज्ञेयम् ।

तस्मादेव मेरुपर्वतात्पूर्वस्यां दिशि पूर्वापरेण द्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भं सवेदिकं भद्रशालवनमस्ति । तस्मात्पूर्वदिग्भागे कर्मभूमिसंज्ञः पूर्वविदेहोऽस्ति । तत्र नीलकुल-पर्वताद्दक्षिणभागे शीतानद्या उत्तरभागे मेरोः प्रदक्षिणेन यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषां विभागः कथ्यते । तथाहि—मेरोः पूर्वदिशाभागे या पूर्वभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्याः पूर्वदिग्भागे प्रथमं क्षेत्रं भवति, तदनन्तरं दक्षिणोत्तरायतो वक्षारनामा पर्वतो भवति, तदनन्तरं क्षेत्रं तिष्ठति, ततोऽप्यनन्तरं विभङ्गा नदी भवति, ततोऽपि क्षेत्रं, तस्मादपि

व्याख्यान के अनुसार, सुवर्ण तथा रत्ननिर्मित जिनचैत्यालयों से भूषित दश दश सुवर्ण पर्वत हैं। इसी प्रकार निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रय की आराधना करने वाले उत्तम पात्रों को परम भक्ति से दिये हुए आहार-दान के फल से उत्पन्न हुए तिर्यंच और मनुष्यों को, निज शुद्ध आत्म—भावना से उत्पन्न होने वाला निर्विकार सदा आनन्दरूप सुखामृत रस के आस्वाद से विलक्षण और चक्रवर्ती के भोग-सुखों से भी अधिक, नाना प्रकार के पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोग—सुखों के देनेवाले ज्योतिरङ्ग, गृहाङ्ग, दीपाङ्ग, तूर्याङ्ग, भोजनाङ्ग, वस्त्राङ्ग, माल्याङ्ग, भाजनाङ्ग, भूषणाङ्ग तथा राग एवं मद को उत्पन्न करने वाले रसाङ्ग नामक, ऐसे दस प्रकार के कल्पवृक्ष भोगभूमिया क्षेत्र में स्थित हैं। इत्यादि परमागम-कथित प्रकार से अनेक आश्चर्य समझने चाहियें। उसी मेरुगज से निकले हुए दक्षिण दिशा में जो 'दो गजदन्त' हैं उनके मध्य में उत्तर कुरु के समान देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि का क्षेत्र जानना चाहिये।

उसी मेरु पर्वत से पूर्व दिशा में, पूर्व—पश्चिम बाईस हजार योजन विस्तार वाला वेदी सहित भद्रशाल वन है। उससे पूर्व दिशा में कर्मभूमि नामक पूर्वविदेह है। वहां नील नामक कुलाचल से दक्षिण दिशा में और शीता नदी के उत्तर में मेरु की प्रदक्षिणा रूप से जो क्षेत्र हैं, उनके विभागों को कहते हैं। वह इस प्रकार है—मेरु से पूर्व दिशा में जो पूर्वभद्रशाल वन की वेदिका है, उससे पूर्व दिशा में प्रथम क्षेत्र है, उसके पश्चात् दक्षिण-उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है, उसके बाद क्षेत्र है, उसके आगे विभङ्गा नदी है, उसके आगे क्षेत्र है, उसके अनन्तर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र फिर विभंगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभंगा नदी है और फिर क्षेत्र है, उससे

वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, ततश्च क्षेत्रं, ततोऽपि विभङ्गा नदी, तदनन्तर क्षेत्रं, तत. पर वक्षारपर्वतोऽस्ति, तदनन्तरं क्षेत्र, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्तत. क्षेत्र, तदनन्तर पूर्वसमुद्रसमीपे यद्देवारण्यं तस्य वेदिका चेति नवभित्तिभिरष्टक्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। तेषा क्रमेण नामानि कथ्यन्ते. कच्छा १ सुकच्छा २ महाकच्छा ३ कच्छावती ४ आवर्त्ता ५ लाङ्गलावर्त्ता ६ पुष्कला ७ पुष्कलावती ८ चेति। इदानी क्षेत्रमध्यस्थितनगरीणा नामानि कथ्यन्ते। क्षेमा १ क्षेमपुरी २ रिष्टा ३ रिष्टपुरी ४ खड्गा ५ मञ्जूषा ६ औषधी ७ पुण्डरीकिणी ८ चेति।

अत ऊर्ध्वं शीताया दक्षिणविभागे निषधपर्वतादुत्तरविभागे यान्यष्टक्षेत्राणि तानि कथ्यन्ते। तद्यथा—पूर्वोक्ता या देवारण्यवेदिका तस्या पश्चिमभागे क्षेत्रमस्ति, तदनन्तर वक्षारपर्वतस्तत पर क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्रं, तस्माद्वक्षारपर्वतस्ततश्च क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, तत. क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वत, तत क्षेत्र, ततो विभङ्गा नदी, तदनन्तर क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्तत क्षेत्र, ततो मेरुदिग्भागे पूर्वभद्रशालवनवेदिका भवतीति नवभित्तिमध्येऽष्टौ क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। इदानी तेषा क्रमेण नामानि कथ्यन्ते-वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७, मङ्गलावती ८ चेति। इदानी तन्मध्यस्थितनगरीणा नामानि कथ्यन्ते—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी ४, अङ्का ५, पद्मा ६, शुभा ७, रत्नसंचया ८ चेति, इति पूर्वविदेहक्षेत्रविभागव्याख्यान समाप्तम्।

आगे फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, तदनन्तर पूर्व समुद्र के पास जो देवारण्य नामक वन है, उसकी वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियो (दीवारो) से आठ क्षेत्र जानने चाहियें। क्रम से उनके नाम हैं—कच्छा १, सुकच्छा २, महाकच्छा ३, कच्छावती ४, आवर्त्ता ५, लाङ्गलावर्त्ता ६, पुष्कला ७ और पुष्कलावती ८। अब क्षेत्रो के मध्य में जो नगरिया है, उनके नाम कहते हैं—क्षेमा १, क्षेमपुरी २, रिष्टा ३, रिष्टपुरी ४, खड्गा ५, मजूषा ६, औषधी ७ और पुण्डरीकणी ८।

इसके ऊपर शीता नदी से दक्षिण भाग मे निषध पर्वत से उत्तर भाग मे जो आठ क्षेत्र है उनको कहते है—पहले कही हुई जो देवारण्य की वेदी है उसके पश्चिम क्षेत्र है, तदनन्तर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, फिर विभङ्गा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, उसके आगे क्षेत्र है, तत्पश्चात् विभङ्गा नदी है, फिर क्षेत्र है, पुन फिर पर्वत है वक्षार क्षेत्र है, पश्चात् विभङ्गा नदी है, तदनन्तर क्षेत्र है, फिर वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे मेरु के पूर्व दिशा वाले पूर्वभद्रशाल वन की वेदी है। ऐसे नौ भित्तियो के मध्य मे आठ क्षेत्र जानने योग्य है। उन क्षेत्रो के नाम क्रम से कहते हैं वच्छा १, सुवच्छा २, महावच्छा ३, वच्छावती ४, रम्या ५, रम्यका ६, रमणीया ७ और मगलावती ८। अब उन क्षेत्रो मे स्थित नगरियो के नाम कहते हैं—सुसीमा १, कुण्डला २, अपराजिता ३, प्रभाकरी

अथ मेरो पश्चिमदिग्भागे पूर्वापरद्वाविंशतिसहस्रयोजनविष्कम्भो पश्चिमभद्रशालवनानन्तर पश्चिमविदेहस्तिष्ठति । तत्र निषधपर्वतादुत्तरविभागे शीतोदानद्यादक्षिणभागे यानि क्षेत्राणि तेषां विभाग उच्यते । तथाहि—मेरुदिग्भागे या पश्चिमभद्रशालवनवेदिका तिष्ठति तस्या. पश्चिमभागे क्षेत्र भवति, ततो दक्षिणोत्तरायतो वक्षारपर्वतस्तिष्ठति, तदनन्तर क्षेत्र, ततो विभङ्गा नदी, ततश्च क्षेत्र, ततो वक्षारपर्वतस्तत. पर क्षेत्रं, ततो विभङ्गा नदी, तत क्षेत्र, ततो वक्षारपर्वतस्तत. क्षेत्र, तत विभङ्गा नदी, तत क्षेत्रं, तत वक्षारपर्वतस्तत क्षेत्र, तदनन्तर पश्चिमसमुद्र समीपे यद्भूतारण्यवन तिष्ठति तस्य वेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति । तेषा नामानि कथ्यन्ते । पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७, सलिला ८ चेति । तन्मध्यस्थितनगरीणा नामानि कथयन्ति—अश्वपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४, अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकापुरी ७, विशोकापुरी ८ चेति ।

अत ऊर्ध्वं शीतोदाया उत्तरभागे नीलकुलपर्वताद्दक्षिणे भागे यानि क्षेत्राणि तिष्ठन्ति तेषा विभागभेद कथयति । पूर्वभणिता या भूतारण्यवनवेदिका तस्या पूर्वभागे क्षेत्रं भवति । तदनतर वक्षारपर्वतस्तदनतर क्षेत्र ततो विभगा नदी, तत क्षेत्रं ततो वक्षार-

---

४, अका ५, पद्मा ६ शुभा ७ और रत्नसचय ८ । इस प्रकार पूर्व विदेह क्षेत्र के विभागो का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब मेरु पर्वत से पश्चिम दिशा मे पूर्व—पश्चिम बाईस हजार योजन विस्तार वाला पश्चिम भद्रशाल वन के बाद पश्चिम विदेह क्षेत्र है वहा निषध पर्वत स उत्तर मे और शीतोदा नदी के दक्षिण मे जो क्षेत्र है, उनका विभाग कहते हैं—मेरु का पश्चिम दिशा म जा पश्चिम भद्रशाल वन की वेदिका है, उसके पश्चिम भाग मे क्षेत्र है, उससे आगे दक्षिण उत्तर लम्बा वक्षार पर्वत है' तदनन्तर क्षेत्र फिर विभगा नदी है, उसके बाद क्षेत्र है, उसस आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात क्षेत्र हैं, फिर विभगा नदी है, फिर क्षेत्र है, उसके आगे वक्षार पर्वत है, तत्पश्चात् क्षेत्र है, फिर विभगा नदी है, उसके अनन्तर क्षेत्र है उस के पश्चात् वक्षार पर्वत है, फिर क्षेत्र है, उसके अनतर पश्चिम समुद्र के समीप मे जो भूतारण्य नामक वन है उसकी वेदिका है । ऐस नौ भितिया के मध्यमे आठ क्षेत्र होते हैं । उनके नाम कहते हैं-पद्मा १, सुपद्मा २, महापद्मा ३, पद्मकावती ४, शखा ५, नलिना ६, कुमुदा ७ और सलिला ८ । उन क्षेत्रों के मध्य मे स्थित नगरियो के नाम कहते है—अश्वपुरी १, सिंहपुरी २, महापुरी ३, विजयापुरी ४, अरजापुरी ५, विरजापुरी ६, अशोकपुरी ७ और विशोकापुरी ८ ।

अब शीतोदा के उत्तर मे और नील कुलाचल से दक्षिण मे जो क्षेत्र हैं, उनके विभाग-भेद का वर्णन करते हैं—पहले कही हुई जो भूतारण्य वन की वेदिका है उसके पूर्व मे क्षेत्र है, उसके बाद वक्षार

पर्वत, ततश्च क्षेत्र, ततश्च विभंगा नदी, ततोऽपि क्षेत्रं, ततो वक्षारपर्वतस्तत क्षेत्रं, ततो विभगा नदी, तत. क्षेत्र, ततश्च वक्षारपर्वतस्तत क्षेत्रं, ततो मेरुदिशाभागे पश्चिमभद्रशालवनवेदिका चेति नवभित्तिषु मध्येऽष्टौ क्षेत्राणि भवन्ति। तेषा क्रमेण नामानि कथ्यन्ते–वप्रा १ सुवप्रा २ महावप्रा ३ वप्रकावती ४ गन्धा ५ सुगन्धा ६ गन्धिला ७ गन्धमालिनी ८ चेति। तन्मध्यस्थितनगरीणा नामानि कथ्यन्ते। विजया १ वैजयंती २ जयती ३ अपराजिता ४ चक्रपुरी ५ खड्गपुरी ६ अयोध्या ७ अवध्या ८ चेति।

अथ यथा—भरतक्षेत्रे गङ्गासिंधुनदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च म्लेच्छखण्डपञ्चकमार्यखण्ड चेति षट् खण्डानि जातानि। तथैव तेषु द्वात्रिंशत्क्षेत्रेषु गङ्गासिधुसमाननदीद्वयेन विजयार्धपर्वतेन च प्रत्येक षट् खण्डानि ज्ञातव्यानि। अय तु विशेष'। एतेषु क्षेत्रेषु सर्वदैव चतुर्थकालादिसमानकाल.। उत्कर्षेण पूर्वकोटिजीवित, पञ्चशतचापोत्सेधश्चेति विज्ञेयम्। पूर्वप्रमाण कथ्यते। "पुव्वस्स हु परिमाण सदरिं खलु सदसहस्सकोडीओ। छप्पण्णं च सहस्सा वोधव्वा वासगणनाओ॥ १॥" इति सक्षेपेण जम्बूद्वीपव्याख्यान समाप्तम्।

तदनन्तर यथा सर्वद्वीपेषु सर्वसमुद्रेषु च द्वीपसमुद्रमर्यादाकारका योजनाष्टकोत्सेधा वज्रवेदिकास्ति तथा जम्बूद्वीपेप्यस्तीति विज्ञेयम्। यद्वहिर्भागे योजनलक्षद्वयवयविष्कम्भ

पर्वत, उसके अनंतर क्षेत्र, उसके वाद विभगा नदी, उसके पीछे क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत. उसके अनंतर पुन. क्षेत्र, इसके वाद पुन विभगा नदी, उसके अनतर पुन. क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके वाद क्षेत्र, तदनतर विभगा नदी, उसके अनंतर क्षेत्र, उसके पश्चात् वक्षार पर्वत, उसके बाद क्षेत्र है। उसके अनतर मेरु की (पश्चिम) दिशा मे स्थित पश्चिमभद्र-शाल वन की वेदिका है। ऐसे नौ भित्तियों के वीच मे आठ क्षेत्र हैं। उनके नाम क्रम से कहते है–वप्रा १, सुवप्रा २, महावप्रा ३, वप्रकावती ४, गधा ५, सुगधा ६, गधिला ७ और गंधमालिनी ८। उन क्षेत्रो के मध्य मे वर्तमान नगरियो के नाम कहते हैं–विजया १, वैजयन्ती २, जयन्ती ३, अपराजिता ४, चक्रपुरी ५, खड्गपुरी ६, अयोध्या ७ और अवध्या ८।

अव जैसे भरत क्षेत्र मे गंगा और सिंधु इन दोनो नदियो से तथा विजयार्ध पर्वत से पाच म्लेच्छ खंड और एक आर्य खड ऐसे छ खड हुए हैं, उसी तरह पूर्वोक्त वत्तीस विदेह क्षेत्रो मे गगा सिंधु समान दो नदियो और विजयार्ध पर्वत से प्रत्येक क्षेत्र के छ खंड जानने चाहिये। इतना विशेष है कि इन सव क्षेत्रो मे सदा चौथे काल की आदि जैसा काल रहता है। उत्कृष्टता से कोटि प्रमाण आयु है और पाच सौ धनुष प्रमाण शरीर का उत्सेध है। पूर्व का प्रमाण कहते है—"पूर्व का प्रमाण सत्तर लाख छप्पन हजार कोडि वर्ष जानना चाहिये।" ऐसे सक्षेप से जम्बू द्वीप का व्याख्यान समाप्त हुआ।

जैसे सव द्वीप और समुद्रो मे द्वीप और समुद्र की मर्यादा (सीमा) करने वाली आठ योजन ऊंची वज्र की वेदिका (दीवार) है, उसी प्रकार से जंबू द्वीप मे भी है, ऐसा जानना चाहिये। उस वेदिका

आगमकथितषोडशसहस्रयोजनजलोत्सेधाद्यनेकाश्चर्यसहितो लवणसमुद्रोऽस्ति । तस्मादपि वहिर्भागे योजनलक्षचतुष्टयवलयविष्कम्भो धातकीखण्डद्वीपोऽस्ति । तत्र च दक्षिणभागे लवणोदधिकालोदधिसमुद्रद्वयवेदिकास्पर्शी दक्षिणोत्तरायाम सहस्रयोजनविष्कम्भ शतचतुष्टयोत्सेध इष्वाकारनामपर्वत अस्ति । तथोत्तरविभागेऽपि । तेन पर्वतद्वयेन खण्डीकृत पूर्वापरधातकीखण्डद्वय ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वधातकीखण्डद्वीपमध्ये चतुरशीतिसहस्रयोजनोत्सेध सहस्रयोजनावगाह क्षुल्लकमेरुरस्ति । तथा पश्चिमधातकीखण्डेऽपि । यथा जम्बूद्वीपमहामेरो भरतादिक्षेत्रहिमवदादिपर्वतगङ्गादिनदीपद्मादिह्रदाना दक्षिणोत्तरेण व्याख्यान कृत तथात्र पूर्वधातकीखण्डमेरौ पश्चिमधातकीखण्डमेरौ च ज्ञातव्यम् । अत एव जम्बूद्वीपापेक्षया सख्या प्रति द्विगुणानि भवन्ति भरतक्षेत्राणि, न च विस्तारायामापेक्षया । कुलपर्वता पुनर्विस्तारापेक्षयैव द्विगुणा, नत्वायामं प्रति । तत्र धातकीखण्डद्वीपे यथा चक्रस्यारास्तथाकारा कुलपर्वता भवन्ति । यथा चाराणा विवराणि छिद्राणि मध्यान्यभ्यन्तरे सङ्कीर्णानि वहिर्भागे विस्तीर्णानि तथा क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि ।

इत्थभूत धातकीखण्डद्वीपमष्टलक्षयोजनवलयविष्कम्भ कालोदकसमुद्र परिवेष्ट्य तिष्ठति । तस्माद्वहिर्भागे योजनलक्षाष्टकं गत्वा पुष्करवरद्वीपस्य अर्द्धे वलयाकारेण

के वाहर दो लाख योजन चौडा गोलाकार शास्त्रोक्त सोलह हजार योजन जल की ऊंचाई आदि अनेक आश्चर्यों सहित लवण समुद्र है, उसके वाहर चार लाख योजन गोल विस्तार वाला धातकी खड द्वीप है । वहा पर दक्षिण भाग मे लवणोदधि और कालोदधि इन दोनो समुद्रो की वेदिका को छूने वाला, दक्षिण–उत्तर लम्वा, एक हजार योजन विस्तार वाला तथा चार सौ योजन ऊंचा इक्ष्वाकार नामक पर्वत है। इसी प्रकार उत्तर भाग मे भी एक इक्ष्वाकार पर्वत है । इन दोनो पर्वतो से विभाजित, पूर्व धातकी खड तथा पश्चिम धातकी खड ऐसे दो भाग जानने चाहिये । पूर्व धातकी खड द्वीप के मध्य में चौरासी हजार योजन ऊचा और एक हजार योजन गहरा छोटा मेरु है । उसी प्रकार पश्चिम धातकीखड मे भी एक छोटा मेरु है । जैसे जवू द्वीप के महामेरु मे भरत आदि क्षेत्र, हिमवत् आदि पर्वत, गंगा आदि नदी और पद्म आदि ह्रदो का दक्षिण व उत्तर दिशाओ सम्बन्धी व्याख्यान किया है, वैसे ही इस पूर्व धातकी खड के मेरु और पश्चिम धातकी खंडके मेरु सम्बन्धी जानना चाहिये । इसी कारण धातकीखड मे जवू द्वीप की अपेक्षा सख्या मे भरत क्षेत्र आदि दूने होते हैं, परन्तु लम्वाई चौडाई की अपेक्षा से दुगुने नही है । कुल पर्वत तो विस्तार की अपेक्षा ही दुगुने हैं, आयाम (लम्वाई) की अपेक्षा दुगुने नही हैं । उस धातकीखड द्वीप मे, जैसे चक्र के आरे होते है, वैसे आकार के धारक कुलाचल हैं । जैसे चक्र के आरों के छिद्र अन्दर की ओर तो सकीर्ण (सुकड़े) होते हैं और वाहर की ओर विस्तीर्ण (फैले हुए) होते हैं, वैसा ही क्षेत्रो का आकार समझना चाहिये ।

इस प्रकार जो धातकीखड द्वीप है उसको आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदक समुद्र

चतुर्दिशाभागे मानुषोत्तरनामा पर्वतस्तिष्ठति । तत्र पुष्करार्धेऽपि धातकीखण्डद्वीपवद्दक्षिणोत्तरेणेक्ष्वाकारनामपर्वतद्वय पूर्वापरेण क्षुल्लकमेरुद्वय च । तथैव भरतादिक्षेत्रविभागश्च वोधव्य. । पर किन्तु जम्बूद्वीपभरतादिसख्यापेक्षया भरतक्षेत्रादिद्विगुणत्व, न च धातकीखण्डापेक्षया । कुलपर्वताना तु धातकीखण्डकुलपर्वतापेक्षया द्विगुणो विष्कम्भ आयामश्च । उत्सेधप्रमाण पुन दक्षिणभागे विजयार्धपर्वते योजनानि पञ्चविशति', हिमवति पर्वते शतं महाहिमवति द्विशत, निषधे चतु शतं, तथोत्तरभागे च । मेरुसमीपगजदन्तेषु शत पञ्चकं, नील निषध पार्श्वे गजदन्तानि योजन चतु शतानि । नदीसमीपे वक्षारेषु चान्त्यनिषधनीलसमीपे चतु शत च । शेषपर्वताना च मेरु त्यक्त्वा यदेव जम्बूद्वीपे भणित तदेवार्धतृतीयद्वीपेषु च विज्ञेयम् । तथा नामानि च क्षेत्रपर्वतनदीदेशनगरादीनां तान्येव । तथैव क्रोशद्वयोत्सेधा पञ्चशतधनुर्विस्तारा पद्मरागरत्नमयी वनादीना वेदिका सर्वत्र समानेति । अत्रापि चक्राराकारवत्पर्वता आरविवरसस्थानानि क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि । मानुषोत्तरपर्वतादभ्यन्तरभाग एव मनुष्यास्तिष्ठन्ति, न च बहिर्भागे । तेषा च जघन्यजीवितमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम्, उत्कर्षेण पल्यत्रय, मध्ये मध्यमविकल्पा बहवस्तथा तिरश्चां च । एवम-

---

वेढे हुए है । उस कालोदक समुद्र के वाहर आठ लाख योजन चलकर पुष्करवर द्वीप के अर्ध भाग मे गोलाकार रूप मे चारो दिशाओ मे मानुषोत्तर नामक पर्वत है । उस पुष्करार्ध द्वीप मे भी धातकीखड द्वीप के समान दक्षिण तथा उत्तर दिशा मे इक्ष्वाकार दो पर्वत है, पूर्व-पश्चिम मे दो छोटे मेरु हैं । इसी प्रकार (धातकीखड के समान) भरत आदि क्षेत्रो का विभाग जानना चाहिए । परन्तु जबू द्वीप के भरत आदि की अपेक्षा मे यहा पर सख्या मे दूने २ भरत आदि क्षेत्र है, धातकीखंड की अपेक्षा मे भरत आदि दूने नही है । कुल पर्वतो का विष्कम्भ तथा आयाम धातकीखड के कुल पर्वतो की अपेक्षा से दुगुना है । दक्षिण मे विजयार्ध पर्वत की ऊचाई का प्रमाण पच्चीस योजन, हिमवन् पर्वत की ऊचाई १०० योजन, महाहिमवान् पर्वत की दो सौ योजन, निषध की चार सौ योजन प्रमाण है । तथा उत्तर भाग मे भी इसी प्रकार उत्सेध प्रमाण है मेरु के समीप मे गजदन्तो की ऊंचाई पाच सौ योजन है और नील निषध पर्वतो के पास चार सौ योजन है । वक्षार पर्वतो की ऊचाई नदी के निकट तथा अन्त मे नील और निषध पर्वतो के पास चार सौ योजन है । मेरु को छोडकर शेष पर्वतो की ऊंचाई जबू द्वीप मे कही है सो ही पुष्करार्द्ध तक द्वीपो मे जाननी चाहिये । तथा क्षेत्र, पर्वत, नदी, देश, नगर आदि के नाम भी वे ही है, जो कि जबू द्वीप मे हैं । इसी प्रकार दो कोश ऊची, पाचसौ धनुष चौडी पद्मराग रत्नमयी जो वन की आदि वेदिका है, वह सव द्वीपो मे समान है । इस पुष्करार्ध द्वीप मे भी चक्र के आरो के आकार समान पर्वत और आरो के छिद्रो के समान क्षेत्र जानने चाहिये । मानुषोत्तर पर्वत के भीतरी भाग मे ही मनुष्य निवास करते हैं वाहरी भाग मे नही । उन मनुष्यो की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य के वरावर है । मध्य मे मध्यमविकल्प वहुत से हैं । तिर्यंचो की आयु

सख्येयद्वीपसमुद्रविस्तीर्णतिर्यग्लोकमध्येऽर्धतृतीयद्वीपप्रमाण संक्षेपेण मनुष्यलोको व्याख्यान ।

अथ मानुषोत्तरपर्वतसकाशाद्वहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्ध परिक्षिप्य योऽसौ नागेन्द्रनामा पर्वतस्तस्मात्पूर्वभागे ये सख्यातीता द्वीपसमुद्रास्तिष्ठन्ति तेषु यद्यपि 'व्यन्तरा निरन्तरा' इति वचनाद् व्यन्तरदेवावासास्तिष्ठन्ति तथापि पल्यप्रमाणायुषा तिरश्चा सम्बन्धिनी जघन्यभोगभूमिरिति ज्ञेयम् । नागेन्द्रपर्वताद्वहिर्भागे स्वयम्भूरमणद्वीपार्धे समुद्रे च पुनर्विदेहवत्सर्वदैव कर्मभूमिश्चतुर्थकालश्च । पर किन्तु मनुष्या न सन्ति । एवमुक्तलक्षणतिर्यग्लोकस्य तदभ्यन्तर मध्यभागवर्त्तिनो मनुष्यलोकस्य च प्रतिपादनेन संक्षेपेण मध्यमलोकव्याख्यान समाप्तम् । अथ मनुष्यलोके द्विहीनशतचतुष्टय तिर्यग्लोके तु नन्दीश्वरकुण्डलरुचकाभिधानद्वीपत्रयेषु क्रमेण द्विपञ्चाशच्चतुष्टयचतुष्टयसख्याश्चाकृत्रिमा स्वतन्त्रजिनगृहा ज्ञातव्या ।

अत ऊर्ध्व ज्योतिर्लोक कथ्यते । तद्यथा—चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्राणि प्रकीर्णतारकाश्चेति ज्योतिष्कदेवा पञ्चविधा भवन्ति । तेषा मध्येऽस्माद्भूमितलादुपरि नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वा तारकविमाना सन्ति, ततोऽपि योजनदशकं गत्वा सूर्यविमाना, तत परमशीतियोजनानि गत्वा चन्द्रविमाना, ततोऽपि त्रैलोक्यसारकथितक्रमेण योजनच-

---

भी मनुष्यो की आयु के समान है। इस प्रकार असख्यात द्वीप समुद्रो से विस्तरित तिर्यग्लोक के मध्य मे ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य लोक का संक्षेप से व्याख्यान हुआ।

अब मानुषोत्तर पर्वत से बाहरी भाग मे, स्वयभूरमण द्वीप के अर्धभाग को वेढकर जो नागेन्द्र नामक पर्वत है, उस पर्वत के पूर्व भाग मे जो असख्यात द्वीप समुद्र हैं, उनमे 'व्यन्तर देव निरन्तर रहते हैं' इस वचनानुसार, यद्यपि व्यन्तर देवो के आवास हैं, तथापि एक पल्यप्रमाण आयुवाले तिर्यचों की जघन्य भोगभूमि भी है, ऐसा जानना चाहिये । नागेन्द्र पर्वत से बाहर स्वयभूरमण आधे द्वीप और पूर्णस्वयभूरमण समुद्र मे विदेह क्षेत्र के समान, सदा ही कर्मभूमि और चतुर्थ काल रहता है। परन्तु वहा पर मनुष्य नही है। इस प्रकार तिर्यग् लोक के मध्य मे विद्यमान मनुष्य-लोक के निरूपण द्वारा मध्य लोक का व्याख्यान समाप्त हुआ। मनुष्य लोक मे तीन सौ अट्ठानवे ३९८ और तिर्यक् लोक मे नन्दीश्वर द्वीप, कुण्डल द्वीप तथा रुचक द्वीप इन तीन द्वीपो सम्बन्धी क्रमश. बावन, चार, चार अकृत्रिम स्वतत्र चैत्यालय जानने चाहिये। (मध्यलोक मे सब अकृत्रिम चैत्यालय ४५८ हैं)।

इसके पश्चात् ज्योतिष्कलोक का वर्णन करते हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारा ऐसे ज्योतिष्क देव पाच प्रकार के होते हैं। उनमे से इस मध्य लोक की पृथ्वीतल से सात सौ नब्बे योजन ऊपर आकाश मे तारो के विमान हैं, तारो से दस योजन ऊपर सूर्य के विमान है। उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमा के विमान है। उसके अनतर, त्रैलोक्यसार कथित क्रमानुसार, चार योजन ऊपर

तुष्टय गते अश्विन्यादिनक्षत्रविमाना, तत परं योजनचतुष्टयं गत्वा बुधविमाना, तत परं योजनत्रय गत्वा शुक्रविमाना, तत पर योजनत्रये गते वृहस्पतिविमाना, ततो योजनत्रयानन्तर मङ्गलविमाना., ततोऽपि योजनत्रयानन्तर शनैश्चरविमाना इति। तथा चोक्त 'णउदुत्तरसत्तसया दस सीदी चउदुगं तु तिचउक्क। तारारविससिरिक्खा वुहभग्गवअंगिरारसणी॥ १॥" ते च ज्योतिष्कदेवा अर्धतृतीयद्वीपेषु निरतर मेरो. प्रदक्षिणेन परिभ्रमणगतिं कुर्वन्ति। तत्र घटिकाप्रहरदिवसादिरूप स्थूलव्यवहारकाल. समयनिमिषादिसूक्ष्मव्यवहारकालवत् यद्यप्यनादिनिधनेन समयघटिकादिविवक्षितविकल्परहितेन कालाणुद्रव्यरूपेण निश्चयकालेनोपादानभूतेन जन्यते तथापि चन्द्रादित्यादिज्योतिष्कदेवविमानगमनागमनेन कुम्भकारेण निमित्तभूतेन मृत्पिण्डोपादानजनितघट इव व्यज्यते प्रकटीक्रियते ज्ञायते तेन कारणेनोपचारेण ज्योतिष्कदेवकृत इत्यभिधीयते। निश्चयकालस्तु तद्विमानगतिपरिणतेर्बहिरङ्गसहकारिकारण भवति कुम्भकारचक्रभ्रमणस्याधस्तनशिलावदिति।

इदानीमर्धतृतीयद्वीपेषु चन्द्रादित्यसख्या कथ्यते। तथाहि––जम्बूद्वीपे चन्द्रद्वयं सूर्यद्वय च, लवणोदे चतुष्टय, धातकीखण्डद्वीपे द्वादश चन्द्रादित्याश्च, कालोदकसमुद्रे द्विचत्वारिंशच्चन्द्रादित्याश्च, पुष्करार्धे द्वीपे द्वासप्ततिचन्द्रादित्या. चेति। तत पर भरतैरावतस्थित-

---

अश्विनी आदि नक्षत्रो के विमान है। उसके पश्चात् चार योजन ऊपर वुध के विमान है। उसके अनन्तर तीन योजन ऊपर शुक्र के विमान हैं। वहा से तीन योजन ऊपर वृहस्पति के विमान हैं। उसके पश्चात् तीन योजन पर मगल के विमान हैं। वहा से भी तीन योजन के अन्तर पर शनैश्चर के विमान है। सो ही कहा है—"सात सौ नव्वे, दस, अस्सी, चार, चार तीन तीन, और तीन योजन ऊपर क्रम से तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वुध, शुक्र, वृहस्पति, मगल और शनैश्चर के विमान है। १।" वे ज्योतिष्क देव ढाई द्वीप मे मेरु की प्रदक्षिणा देते हुए सदा परिभ्रमण करते हैं। समय निमिष आदि सूक्ष्म व्यवहार काल के समान घटिका प्रहर दिवस आदि स्थूल व्यवहार काल भी, समय–घटिका आदि विवक्षित भेदो से रहित तथा अनादिनिधन कालाणुद्रव्यमयी निश्चयकाल रूप उपादान से यद्यपि उत्पन्न होता है, तो भी, निमित्तभूत कुम्भकार के द्वारा उपादान रूप मृत्तिकापिंड से घट प्रगट होने की तरह, उन ढाई द्वीप मे चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देवो के विमानो के गगनागमन से यह व्यवहार काल प्रकट किया जाता है तथा जाना जाता है, इस कारण उपचार से 'व्यवहार काल ज्योतिष्क देवो का किया हुआ है' ऐसा कहा जाता है। कुम्भकार के चाक के भ्रमण मे वहिरग सहकारी कारण नीचे की कीली के समान, निश्चय काल तो, उन ज्योतिष्क देवो के विमानो के गमन रूप परिणमन मे वहिरग सहकारी कारण होता है।

अब ढाई द्वीपो मे जो चन्द्र और सूर्य हैं, उनकी संख्या वतलाते हैं। वह इस प्रकार है—जंबू द्वीप मे दो चन्द्रमा और दो सूर्य हैं, लवणोदक समुद्र मे चार चन्द्रमा और चार सूर्य हैं, धातकीखड द्वीप

जम्बूद्वीपचन्द्रसूर्ययो किमपि विवरण क्रियते । तद्यथा—जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे योजनानामशीतिशत वहिर्भागे लवणसमुद्रसम्बन्धे त्रिशदधिकशतत्रयमिति समुदायेन दशोत्तरयोजनशतपञ्चक चारक्षेत्रं भण्यते, तत् चन्द्रादित्ययोरेकमेव । तत्र भरतेन (सह) वहिर्भागे तस्मिश्चारक्षेत्रे सूर्यस्य चतुरशीतिशतसख्या मार्गा भवन्ति, चन्द्रस्य पञ्चदशैव । तत्र जम्बूद्वीपाभ्यन्तरे कर्कटसक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे निपधपर्वतस्योपरि प्रथममार्गे सूर्य प्रथमोदयं करोति । यत्र सूर्यविमानस्थ निर्दोषपरमात्मनो जिनेश्वरस्याकृत्रिम जिनविम्बम् प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा अयोध्यानगरीस्थितो निर्मलसम्यक्त्वानुरागेण भरतचक्री पुष्पाञ्जलिमुत्क्षिप्यार्घ्यं ददातीति । तन्मार्गस्थितभरतक्षेत्रादित्यस्यैरावतादित्येन सह तथापि चन्द्रस्यान्यचद्रेण सह यदन्तर भवति तद्विशेषेणागमतो ज्ञातव्यम् ।

अथ "सदभिस भरणी अद्दा सादी असलेस्स जेट्ठमवर वरा । रोहिणि विसाह पुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेसा ॥ १ ॥" इति गाथाकथितक्रमेण यानि जघन्योत्कृष्टमध्यमनक्षत्राणि तेषु मध्ये कस्मिन्नक्षत्रे कियन्ति दिनान्यादित्यस्तिष्ठतीति । "इंदुरवीदो रिक्खा सत्तट्ठि पच गगणखंडहिया । अहियहिदरिक्खखडा रिक्खे इदुरवीअत्थणमुहुत्ता ॥ १ ॥"

मे वारह चन्द्रमा और वारह सूर्य है, कालोदक समुद्र मे ४२ चन्द्रमा और ४२ सूर्य है तथा पुष्करार्ध द्वीप मे ७२ चन्द्रमा और वहत्तर ही सूर्य हैं ।

इसके अनंतर भरत और ऐरावप मे स्थित जंवूद्वीप के चन्द्र—सूर्य का कुछ थोडा-सा विवरण कहते हैं। वह इस तरह है—जबू द्वीप के भीतर एक सौ अस्सी और वाहरी भाग मे अर्थात् लवणसमुद्र के तीन सौ तीस योजन, ऐसे दोनो मिलकर पाच सौ दस योजन प्रमाण सूर्य का चार क्षेत्र (गमन का क्षेत्र) कहलाता है। सो चन्द्र तथा सूर्य इन दोनो का एक ही गमन क्षेत्र है। भरत क्षेत्र और वाहरी भाग के चार क्षेत्र मे सूर्य के एक सौ चौरासी मार्ग (गली) है और चन्द्रमा के चन्द्रह ही मार्ग है। उनमे जंवू द्वीप के भीतर कर्कट सक्रान्ति के दिन जव दक्षिणायन प्रारम्भ होता है, तव निषध पर्वत के ऊपर प्रथम मार्ग मे सूर्य प्रथम उदय करता है। वहा पर सूर्य विमान मे स्थित निर्दोप-परमात्म-जिनेन्द्र के अकृत्रिम जिनविम्व को, अयोध्या नगरी मे स्थित भरत क्षेत्र का चक्रवर्ती प्रत्यक्ष देखकर निर्मल सम्यक्त्व के अनुराग से पुष्पाजलि उछालकर अर्घ देता है। उस प्रथम मार्ग मे स्थित भरत क्षेत्र के सूर्य का ऐरावत क्षेत्र के सूर्य के साथ तथा चन्द्रमा का चन्द्रमा के साथ और भरत क्षेत्र के सूर्य चन्द्रमाओ का मेरु के साथ जो अन्तर (फासला) रहता है, उसका विशेप कथन आगम से जानना चाहिए।

अव "शतभिपा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेपा, ज्येष्ठा, ये छः नक्षत्र जघन्य हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा और उत्तराभाद्रपद, ये छः नक्षत्र उत्कृष्ट हैं। इनके अतिरिक्त शेष नक्षत्र मध्यम हैं।" इस गाथा मे कहे हुए क्रमानुसार जो जघन्य उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्र हैं, उनमे किस नक्षत्र में कितने दिन सूर्य ठहरता है, सो कहते हैं—"एक मुहूर्त में चन्द्र १७६८, सूर्य १८३०

इत्यनेन गाथासूत्रेणागमकथितक्रमेण पृथक् पृथगानीय मेलापके कृते सति षडधिकषष्टियुत-त्रिशतसंख्यदिनानि भवन्ति। तस्य दिनसमूहार्धस्य यदा द्वीपाभ्यन्तराद्दक्षिणेन वहिर्भागेषु दिनकरो गच्छति तदा दक्षिणायनसंज्ञा, यदा पुनः समुद्रात्सकाशादुत्तरेणाभ्यन्तरमार्गेषु समायाति तदोत्तरायणसंज्ञेति। तत्र यदा द्वीपाभ्यन्तरे प्रथममार्गपरिधौ कर्कटसंक्रान्तिदिने दक्षिणायनप्रारम्भे तिष्ठत्यादित्यस्तदा चतुर्णवतिसहस्रपञ्चविंशत्यधिकपञ्चयोजनशतप्रमाणा उत्कर्षेणादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो ज्ञेयः। तत्र पुनरष्टादशमुहूर्तैर्दिवसो भवति द्वादशमुहूर्तै रात्रिरिति। ततः क्रमेणातपहानौ सत्या मुहूर्तद्वयस्यैकषष्टिभागीकृतस्यैको भागो दिवसमध्ये दिनं प्रति हीयते यावल्लवणसमुद्रेऽवसानमार्गे माघमासे मकरसंक्रान्तावुत्तरायणदिवसे त्रिषष्टिसहस्राधिकषोडशयोजनप्रमाणो जघन्येनादित्यविमानस्य पूर्वापरेणातपविस्तारो भवति। तथैव द्वादशमुहूर्तैर्दिवसो भवत्यष्टादशमुहूर्तै रात्रिश्चेति। शेषं विशेषव्याख्यानं लोकविभागादौ विज्ञेयम्।

ये तु मनुष्यक्षेत्राद्वहिर्भागे ज्योतिष्कविमानास्तेषां चलनं नास्ति। ते च मानुषोत्तरपर्वताद्वहिर्भागे पञ्चाशत्सहस्राणि योजनानां गत्वा वलयाकारं पंक्तिक्रमेण पूर्वक्षेत्रं

और नक्षत्र १८३५ गगनखंडो मे गमन करते हैं, इसलिये ६७ व ५ (१८३५–१७६८–६७, १८३५–१८३० ५) अधिक भागो से नक्षत्रखडो को भाग देने से जो मुहूर्त प्राप्त होते है, उन मुहूर्तों को चन्द्र और सूर्य के आसन्न मुहूर्त जानने चाहियें। अर्थात् एक नक्षत्र पर उतने मुहूर्तों तक चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति जाननी चाहिए। १।" इस प्रकार इस गाथा मे कहे हुए क्रम से भिन्न–भिन्न दिनो को जोडने से तीन सौ छयासठ दिन होते हैं। जव द्वीपके भीतर से दक्षिण दिशाके बाहरी मार्गों मे सूर्य गमन करता है, तव तीन सौ छयासठ दिनो के आधे एक सौ तिरासी दिनो की दक्षिणायन संज्ञा होती है और इसी प्रकार जब सूर्य समुद्र से उत्तर दिशा को अभ्यन्तर मार्गो मे आता है तव शेष १८३ दिनो की उत्तरायण संज्ञा है। उनमे जब द्वीप के भीतर कर्कट संक्रान्ति के दिन दक्षिणायन के प्रारम्भ मे सूर्य प्रथम मार्ग की परिधि मे होता है, तव सूर्य विमान के आतप (धूप) का पूर्व—पश्चिम फैलाव चौरानवे हजार पाच सौ पच्चीस योजन प्रमाण होता है, ऐसा जानना चाहिये। उस समय अठारह मुहूर्तों का दिन और वारह मुहूर्तों की रात्रि होती है। फिर यहा से क्रम—क्रम मे आताप की हानि होने पर दो मुहूर्तो के इकसठ भागो में से एक भाग प्रति दिन दिवस घटता है। यह तव तक घटता है जव तक कि लवणसमुद्र के अन्तिम मार्ग मे माघ मास मे मकर संक्रांति मे उत्तरायण दिवस के प्रारम्भ मे जघन्यता से सूर्य-विमान के आतप का पूर्व–पश्चिम विस्तार त्रेसठ हजार सोलह योजन प्रमाण होता है। उसी प्रकार इस समय वारह मुहूर्तों का दिन और अठारह मुहूर्तों की रात्रि होती है। अन्य विशेष वर्णन लोकविभाग आदि से जानना चाहिये।

मनुष्य क्षेत्र से वाहर ज्योतिष्क-विमानो का गमन नही है। वे मानुषोत्तर पर्वत के बाहर

परिवेष्ट्य तिष्ठन्ति । तत्र प्रथमवलये चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाणाश्चन्द्रास्तथादित्या अन्तरान्तरेण तिष्ठन्ति । तत पर योजनलक्षे लक्षे गते तेनैव क्रमेण वलयं भवति । अयं विशेष —वलये वलये चन्द्रचतुष्टय सूर्यचतुष्टय च वर्धते यावत्पुष्करार्धबहिर्भागे वलयाष्टक-मिति । तत पुष्करसमुद्रप्रवेशे वेदिकाया सकाशात्पचाशत्सहस्रप्रमितयोजनानि जलमध्ये प्रविश्य यत्पूर्वं चतुश्चत्वारिंशदधिकशतप्रमाण प्रथमवलय व्याख्यात तस्माद् द्विगुणसस्यान प्रथमवलय भवति । तदनन्तर पूर्ववद्योजनलक्षे गते वलय भवति चन्द्रचतुष्टयस्य सूर्यचतुष्ट-यस्य च वृद्धिरित्यनेनैव क्रमेण स्वयम्भूरमणसमुद्रबहिर्भागवेदिकापर्यन्त ज्योतिष्कदेवानाम-वस्थान बोधव्यम् । एते च प्रतरासख्येयभागप्रमिता असख्येया ज्योतिष्कविमाना अकृ-त्रिमसुवर्णमयरत्नमयजिनचैत्यालयमण्डिता ज्ञातव्या । इति सक्षेपेण ज्योतिष्कलोकव्या-ख्यान समाप्तम् ।

अथानन्तरमूर्ध्वलोक कथ्यते । तथाहि—सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मो-त्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतसज्ञा षोडश स्वर्गा ततोऽपि नवग्रैवेयकसज्ञास्ततश्च नवानुदिशसज्ञ नवविमानसख्यमेकपटल ततोऽपि पचानुत्तरसज्ञ पच-

---

पचास हजार योजन जाने पर, वलयाकार (गोलाकार) पक्ति—क्रम से पहिले क्षेत्र को वेढ [घेर] कर रहते हैं। वहा प्रथम वलय मे एक सौ चवालीस चन्द्रमा तथा सूर्य परस्पर अन्तर [फासले] से तिष्ठते हैं। उसके आगे एक—एक लाख योजन जाने पर इसी क्रमानुसार एक-एक वलय होता है विशेष यह है–प्रत्येक वलय मे चार-चार चन्द्रमा तथा चार-चार सूर्यों की वृद्धि पुष्करार्ध के बाह्य भाग मे आठवें वलय तक होता है, उसके बाद पुष्करसमुद्र के प्रवेश मे स्थित वेदिका से पचास हजार योजन प्रमाण जलभाग मे जाकर, प्रथम वलय मे, एक सौ चवालीस चन्द्र तथा सूर्य का जो पहले कथन किया है, उससे दुगुने (दो सौ अट्ठासी) चन्द्रमा व सूर्यों वाला पहला वलय । उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार एक—एक लाख योजन जाने पर एक-एक वलय है । प्रत्येक वलय मे चार चन्द्रमा और चार सूर्यों की वृद्धि होती है । इसी क्रम से स्वयभूरमण समुद्र की अन्त की वेदिका तक ज्योतिष्क देवो का अवस्थान जानना चाहिए । जगप्रतर के असख्यातवे भाग प्रमाण असख्यात ये ज्योतिष्कविमान अकृत्रिम सुवर्ण तथा रत्नमय जिनचैत्यालयो से भूषित है, ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार सक्षेप से ज्योतिष्क लोक का वर्णन समाप्त हुआ ।

अब इसके अनतर ऊर्ध्व लोक का कथन करते हैं । सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातव, कापिष्ट, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत नामक सोलह स्वर्ग हैं । वहा से आगे नव ग्रैवेयक विमान हैं । उनके ऊपर नवानुदिश नामक ९ विमानो का एक पटल है, इसके भी ऊपर पाच विमानो की सख्या वाला पचानुत्तर नामक एक पटल है, इस प्रकार

।नसस्थमेकपटलं चेत्युक्तक्रमेणोपर्युपरि वैमानिकदेवास्तिष्ठन्तीति वार्त्तिकं सङ्ग्रहवाक्यं समुदायकथनमिति यावत् । आदिमध्यान्तेषु द्वादशाष्टचतुर्योजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशत्प्रमितयोजनोत्सेधा या मेरुचूलिका तिष्ठति तस्या उपरि कुरुभूमिजमर्त्यबालाग्रान्तरितं पुनर्ऋजुविमानमस्ति । तदादिं कृत्वा चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाणं मेरूत्सेधमानमर्द्धाधिकैकरज्जुप्रमाणं यदाकाशक्षेत्रं तत्पर्यन्तं सौधर्मैशानसंज्ञं स्वर्गयुगलं तिष्ठति । ततः परमर्द्धाधिकैकरज्जुपर्यन्तं सानत्कुमारमाहेन्द्रसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, तस्मादर्द्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तराभिधानं स्वर्गयुगलमस्ति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तं लांतवकापिष्टनामस्वर्गयुगलमस्ति, ततश्चार्द्धरज्जुपर्यन्तं शुक्रमहाशुक्राभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यम्, तदनंतरमर्द्धरज्जुपर्यन्तं शतारसहस्रारसंज्ञं स्वर्गयुगलं भवति, ततोऽप्यर्द्धरज्जुपर्यन्तमानतप्राणतनाम स्वर्गयुगलं, ततः परमर्द्धरज्जुपर्यन्तमाकाशं यावदारणाच्युताभिधानं स्वर्गद्वयं ज्ञातव्यमिति । तत्र प्रथमयुगलद्वये स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा विज्ञेया, मध्ययुगलचतुष्टये पुनः स्वकीयस्वकीयप्रथमस्वर्गाभिधान एकैक एवेन्द्रो भवति, उपरितनयुगलद्वयेऽपि स्वकीयस्वकीयस्वर्गनामानश्चत्वार इन्द्रा भवन्ति, इति समुदायेन षोडशस्वर्गेषु द्वादशेन्द्रा ज्ञातव्याः । षोडशस्वर्गादूर्ध्वमेक-

---

उक्त क्रम से वैमानिक देव तिष्ठित है। यह वार्त्तिक अर्थात् सग्रह वाक्य अथवा समुदाय से कथन है। आदि मे वारह, मध्य मे आठ और अन्त मे चार योजन प्रमाण गोल व्यासवाली चालीस योजन ऊची मेरु की चूलिका है, उसके ऊपर देवकुरु अथवा उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि मे उत्पन्न हुए मनुष्य के वल के अग्रभाग प्रमाण के अन्तर से ऋजु विमान है। चूलिका सहित एक लाख योजन प्रमाण मेरु की ऊचाई का प्रमाण है, उस मान को आदि करके डेढ रज्जु प्रमाण जो आकाश क्षेत्र है वहा तक सौधर्म तथा ईशान नामक दो स्वर्ग है। इसके ऊपर डेढ रज्जुपर्यंत सानत्कुमार और माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग है। वहा से अर्धरज्जु प्रमाण आकाश तक ब्रह्म तथा ब्रह्मोत्तर नामक स्वर्गो का युगल है। वहा से भी आधे रज्जु तक लातव और कापिष्ठ नामक दो स्वर्ग है। वहा से आधे रज्जु प्रमाण आकाश मे शुक्र तथा महाशुक्र नामक स्वर्गो का युगल जानना चाहिए। उसके वाद आधे रज्जु तक शतार और सहस्रार नामक स्वर्गो का युगल है। उसके पश्चात् आधे रज्जु तक आनत व प्राणत दो स्वर्ग है। तदनन्तर आधे रज्जुपर्यंत आकाश तक आरण और अच्युत नामक दो स्वर्ग जानने चाहिए। उनमे से पहले के दो युगलो (४ स्वर्गो) मे तो अपने २ स्वर्ग के नाम वाले (सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र) चार इन्द्र है, वीच के चार युगलो (८ स्वर्गो) मे अपने २ प्रथम स्वर्ग के नाम का धारक एक-एक ही इन्द्र है। (अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग का एक इन्द्र है और वह ब्रह्म इन्द्र कहलाता है। ऐसे ही वारहवे स्वर्ग तक आठ स्वर्गो मे चार इन्द्र जानने), इनके ऊपर दो युगलो (४ स्वर्गो) मे भी अपने २ स्वर्ग के नाम के धारक चार इन्द्र होते हैं। इस प्रकार समुदाय से सोलह स्वर्गो मे वारह इन्द्र जानने चाहिए। सोलह स्वर्गो से ऊपर एक राजु मे नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाच अनुत्तर विमान

रज्जुमध्ये नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानवासिदेवास्तिष्ठन्ति । तत पर तत्रैव द्वादशयोजनेषु गतेष्वष्टयोजनवाहुल्या मनुष्यलोकवत्पञ्चाधिकचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारा मोक्षशिला भवति । तस्या उपरि घनोदधिघनवाततनुवातत्रयमस्ति । तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहिता सिद्धा तिष्ठन्ति ।

इदानी स्वर्गपटलसख्या कथ्यते--सौधर्मेशानयोरेकत्रिंशत्, सनत्कुमारमाहेन्द्रयो सप्त, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोश्चत्वारि, लान्तवकापिष्टयोर्द्वयम्, शुक्रमहाशुक्रयो पटलमेकम्, शतारसहस्रारयोरेकम्, आनतप्राणतयोस्त्रयम, आरणाच्युतयोस्त्रयमिति । नवसु ग्रैवेयकेषु नवक, नवानुदिशेषु पुनरेकं, पञ्चानुत्तरेषु चैकमिति समुदायेनोपर्युपरि त्रिपष्टिपटलानि ज्ञातव्यानि । तथा चोक्तम्--"इगतीससत्तचत्तारिदोण्णिएक्केक्कछक्कचदुकप्पे । तित्तियएक्केकिंदियगामा उडु आदि तेसट्ठी ।"

अत पर प्रथमपटलव्याख्यान क्रियते । ऋजु विमान यदुक्तं पूर्व मेरुचूलिकाया उपरि तस्य मनुष्यक्षेत्रप्रमाणविस्तारस्येन्द्रकसज्ञा । तस्य चतुर्दिग्भागेष्वसंख्येययोजनविस्ताराणि पक्तिरूपेण सर्वद्वीपसमुद्रेषूपरि प्रतिदिश यानि त्रिषष्टिविमानानि तिष्ठन्ति तेषां श्रेणीवद्धसज्ञा । यानि च पक्तिरहितपुष्पप्रकरवद्विदिक्चतुष्टये तिष्ठन्ति तेपा सख्येयासं-

---

वासी देव है। उसके आगे वारह योजन जाने पर आठ योजन मोटी और ढाई द्वीप के वरावर पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाली मोक्षशिला है। उस मोक्षशिला के ऊपर घनोदधि, घनवात तथा तनुवात नामक तीन वायु हैं। इनमे से तनुवात के मध्य मे तथा लोक के अन्त मे केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणो सहित सिद्ध परमेष्ठी हैं।

अव स्वर्ग के पटलो की सख्या वतलाते है। सौधर्म और ईशान इन दो स्वर्गो मे इकत्तीस, सानत्कुमार तथा माहेन्द्र मे सात, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर मे चार, लातव तथा कापिष्ट मे दो, शुक्र-महाशुक्र मे एक, शतार—सहस्रार मे एक आनत-प्राणत मे तीन और आरण-अच्युत मे भी तीन पटल है। नव ग्रैवेयको मे नौ, नव अनुदिशो मे एक व पंचानुत्तरो मे एक पटल है। ऐसे समुदाय मे ऊपर-ऊपर ६३ पटल जानने चाहियें। सो ही कहा है-"सौधर्म युगल मे ३१, सानत्कुमार युगल मे ७ ब्रह्म युगल मे ४, लातव युगल मे २, शुक्र युगल मे १, शतार युगल मे १, आनत आदि चार स्वर्गो मे ७, प्रत्येक तीनों ग्रैवेयको मे तीन-तीन, नव अनुदिश मे , पचानुत्तरो मे एक, ऐसे समुदाय से ६३ इन्द्रक होते हैं।

इसके आगे प्रथम पटल का व्याख्यान करते हैं। मेरु की चूलिका के ऊपर मनुष्य क्षेत्र प्रमाण विस्तार वाले पूर्वोक्त ऋजु विमान की इन्द्रक सज्ञा है। उसकी चारो दिशाओ मे से प्रत्येक दिशा मे सव द्वीप समुद्रो के ऊपर, असख्यात योजन विस्तार वाले पक्तिरूप ६३-६३ विमान हैं, उनकी 'श्रेणी वद्ध' सज्ञा है। पक्ति विना पुष्पो के समान चारो विदिशाओ मे सख्यात व असख्यात योजन विस्तार वाले जो विमान हैं, उन विमानो की 'प्रकीर्णक' संज्ञा है। इस प्रकार समुदाय मे प्रथम पटल का लक्षण

ख्येययोजनविस्ताराणा प्रकीर्णकसज्ञा । इति समुदायेन प्रथमपटललक्षण ज्ञातव्यम् । तत्र पूर्वापरदक्षिणश्रेणित्रयविमानानि, तन्मध्ये विदिग्द्वयविमानानि च सौधर्मसम्बधीनि भवन्ति, शेषविदिग्द्वयविमानानि तथोत्तरश्रेणिविमानानि च पुनरीशानसम्बन्धीनि । अस्मात्पटलादुपरि जिनदृष्टमानेन सख्येयान्यसख्येयानि योजनानि गत्वा तेनैव क्रमेण द्वितीयादिपटलानि भवन्ति । अय च विशेष —श्रेणीचतुष्टये पटले पटले प्रतिदिशमेकैकविमान हीयते यावत् पञ्चानुत्तरपटले चतुर्दिक्ष्वेकैकविमान तिष्ठति । एते सौधर्मादिविमानाश्चतुरशीतिलक्षसप्तनवतिसहस्रत्रयोविंशतिप्रमिता अकृत्रिमसुवर्णमयजिनगृहमण्डिता ज्ञातव्या इति ।

अथ देवानामायु प्रमाण कथ्यते । भवनवासिषु जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पुनरसुरकुमारेषु सागरोपम, नागकुमारेषु पल्यत्रय, सुपर्णे सार्धद्वय, द्वीपकुमारे द्वय, शेषकुलषट्के सार्धपल्यमिति । व्यन्तरे जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षेण पल्यमधिकमिति । ज्योतिष्कदेवे जघन्येन पल्याष्टमविभाग, उत्कर्षेण चन्द्रे लक्षवर्षाधिक पल्यम्, सूर्ये सहस्राधिक पल्य, शेषज्योतिष्कदेवानामागमानुसारेणेति । अथ सौधर्मैशानयोर्जघन्येन साधिकपल्य, उत्कर्षेण साधिकसागरोपमद्वय, सनत्कुमारमाहेन्द्रयो साधिकसागरोपमसप्तक, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयो साधिकसागरोपमदशक, लान्तवकापिष्ठयो साधिकानि चतुर्दशसागरोपमानि,

---

जानना चाहिए । उन विमानो मे से पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन श्रेणियो के विमान और इन तीनो दिशाओ के बीच मे दो विदिशाओ के विमान, ये सब सौधर्म प्रथम स्वर्ग सम्बन्धी हैं । तथा शेष दो विदिशाओ के विमान और उत्तर श्रेणी के विमान, वे ईशान स्वर्ग सम्बन्धी है । भगवान् द्वारा देखे प्रमाण अनुसार, इस पटल के ऊपर असंख्यात तथा असख्यात योजन जाकर इसी क्रम मे द्वितीय आदि पटल है । विशेष यह है—प्रत्येक पटल मे चारो दिशाओ मे से प्रत्येक दिशा मे एक–एक विमान घटता गया है, सो यहा तक घटता है कि पचानुत्तर पटल मे चारो दिशाओ मे एक -एक ही विमान रह जाता है । सौधर्म स्वर्ग आदि सम्बन्धी ये सब विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस अकृत्रिम सुवर्णमय जिन चैत्यालयो से मंडित हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

अब देवो की आयु का प्रमाण कहते हैं—भवन वासियो मे दस हजार वर्ष की जघन्य आयु है । असुरकुमारो की एक सागर, नागकुमारो मे तीन पल्य, सुपर्णकुमारो मे ढाई पल्य, दीपकुमारो मे दो पल्य और शेष ६ प्रकार के भवनवासियो मे डेढ पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है । व्यन्तरो मे दस हजार वर्ष की जघन्य और कुछ अधिक एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है । ज्योतिष्क देवो मे जघन्य आयु पल्य के आठवे भाग प्रमाण है । चन्द्रमा की एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य और सूर्य की एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है । शेष ज्योतिष्क देवो की उत्कृष्ट आयु आगम के अनुसार जाननी चाहिए । सौधर्म तथा कुछ ईशान स्वर्ग के देवो की जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट कुछ अधिक दो सागर है । सानत्कुमार तथा माहेन्द्र देवो मे कुछ अधिक सात सागर, ब्रह्म और

शुक्रमहाशुक्रयो षोडश साधिकानि, शतारसहस्रारयोरष्टादशसाधिकानि, आननप्राणतयोर्विंशतिरेव, आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिरिति। अत परमच्युतादूर्ध्वं कल्पातीननवग्रैवेयकेषु द्वाविंशतिसागरोपमप्रमाणादूर्ध्वमेकैकसागरोपमे वर्धमाने सत्येकत्रिंशत्सागरोपमान्यवसानग्रैवेयके भवन्ति। नवानुदिशपटले द्वात्रिंशत्, पञ्चानुत्तरपटले त्रयस्त्रिंशत्, उत्कृष्टायु प्रमाण ज्ञातव्यम्। तदायु सौधर्मादिपु स्वर्गेपु यदुत्कृष्ट तत्परस्मिन् परस्मिन् स्वर्गे सर्वार्थसिद्धि विहाय जघन्य चेति। शेष विशेषव्याख्यान त्रिलोकसारादौ बोद्धव्यम्।

किञ्च---आदिमध्यान्तमुक्ते शुद्धबुद्धैकस्वभावे परमात्मनि सकलविमलकेवलज्ञानलोचनेनादर्श बिम्बानीव शुद्धात्मादिपदार्था लोक्यन्ते दृश्यन्ते ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते। यत्तस्तेन कारणेन स एव निश्चयलोकस्तस्मिन्निश्चयलोकाख्ये स्वकीयशुद्धपरमात्मनि अवलोकन वा स निश्चयलोक। "सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदाय अट्टरुद्दाणि। णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदो होदि ॥ १ ॥" इति गाथोदितविभावपरिणाममादि कृत्वा समस्तशुभाशुभसकल्पविकल्पत्यागेन निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकसुखामृतरसास्वादानुभवनेन च या भावना सैव निश्चयलोकानुप्रेक्षा। शेषा पुनर्व्यवहारेणेत्येव संक्षेपेण लोकानुप्रेक्षाव्याख्यान समाप्तम् ॥ १० ॥

ब्रह्मोत्तर मे कुछ अधिक दस सागर, लातव कापिष्ट मे कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्र मे कुछ अधिक सोलह सागर, शतार और सहस्रार मे किंचित् अधिक अठारह सागर, आनत तथा प्राणत मे पूरे बीस ही सागर ओर आरण अच्युत मे बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसके अनन्तर अच्युत स्वर्ग से ऊपर कलपातीत नव ग्रैवेयको तक प्रत्येक ग्रैवेयक मे क्रमश बाईस सागर से एक-एक सागर अधिक उत्कृष्ट आयु है, तदनुसार अन्त के ग्रैवेयक मे इकतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। नव अनुदिश पटल मे बत्तीस सागर और पचानुत्तर पटल मे तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु जाननी चाहिये। तथा सौधर्म आदि स्वर्गो मे जो उत्कृष्ट आयु है, सवार्थसिद्धि के अतिरिक्त, वह उत्कृष्ट आयु अपने स्वर्ग मे ऊपर ऊपर के स्वर्ग मे जघन्य आयु है। (अर्थात् जो सौधर्म ईशान स्वर्ग मे कुछ अधिक दो सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है, वह सानत्कुमार माहेन्द्र मे जघन्य है। इस क्रम से सर्वार्थसिद्धि के पहले २ जघन्य आयु है।) शेष विशेष व्याख्यान त्रिलोकसार आदि से जानना चाहिए।

विशेष —आदि मध्य तथा अन्तरहित, शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाव परमात्मदेव मे पूर्ण विमल केवल ज्ञानमयी नेत्र है, उसके द्वारा जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्बो का भान होता है उसी प्रकार से शुद्ध आत्मा आदि पदार्थ देखे जाते है, परिच्छिन्न किये जाते है। इस कारण वह निज शुद्ध आत्मा ही निश्चय लोक है, अथवा उस निश्चय लोक वाले निज शुद्ध परमात्मा मे जो अवलोकन है वह निश्चय लोक है। 'सज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियो के वश होना आर्त्त—रौद्र-ध्यान तथा दुष्प्रयुक्त ज्ञान और मोह ये सब पाप को देने वाले है।' इस गाथा मे कहे हुए विभाव परिणाम आदि सम्पूर्ण शुभ-अशुभ सकल्प विकल्पो के

अथ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षां कथयति । तथाहि एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसयमविषयसुखव्यावर्त्तनक्रोधादिकपायनिवर्त्तनेषु परं परं दुर्लभेपु कथचित् काकतालीयन्यायेन लब्धेष्वपि तल्लब्धिरूपबोधे फलभूतस्वशुद्धात्मसवित्त्यात्मकनिर्मलधर्मध्यानशुक्लध्यानरूप. परमसमाधिर्दुर्लभ । कस्मादिति चेत्तत्प्रतिबन्धकमिथ्यात्वविषयकषायनिदानबन्धादिविभावपरिणामाना प्रबलत्वादिति । तस्मात्स एव निरन्तरं भावनीय । तद्भावनारहिताना पुनरपि संसारे पतनमिति । तथा चोक्तम्—"इत्यतिदुर्लभरूपा बोधि लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । ससृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नर सुचिरम् ॥ १ ॥" पुनश्चोक्तं मनुष्यभवदुर्लभत्वम्—"अशुभपरिणामबहुलता लोकस्य विपुलता, महामहती । योनिविपुलता च कुरुते सुदुर्लभा मानुषी योनिम् ॥ १ ॥" बोधिसमाधिलक्षण कथ्यते—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधिस्तेषामेव निर्विघ्नेन भवान्तरप्रापणं समाधिरिति । एवं सक्षेपेण दुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ ११ ॥

त्याग से और निज शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद सुख रूपी अमृत के आस्वाद के अनुभव से जो भावना होती है, वही निश्चय से लोकानुप्रेक्षा है, शेष व्यवहार से है । इस प्रकार सक्षेप से लोकानुप्रेक्षा का वर्णन समाप्त हुआ । १० ।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, सुन्दर रूप, इन्द्रियो की पूर्णता, कार्य कुशलता, नीरोग, दीर्घ आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, समीचीन धर्म का सुनना-ग्रहणकरना-धारण करना-श्रद्धान करना, सयम, विषय सुखो से पराङ्मुखता, क्रोध आदि कषायो से निवृत्ति, ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं । कदाचित् काकतालीय न्याय से इन सबके प्राप्त हो जाने पर भी, इनकी प्राप्ति रूप बोधि के फलभूत जो निज शुद्ध आत्मा के ज्ञानस्वरूप निर्मल धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान रूप परम समाधि है, वह दुर्लभ क्यो है ? समाधान—परम समाधि को रोकने वाले मिथ्यात्व, विषय, कषाय, निदानबंध आदि जो विभाव परिणाम हैं, उनकी जीवो मे प्रबलता है, इसलिये परमसमाधि का होना दुर्लभ है। इस कारण उस परमसमाधि की ही निरन्तर भावना करनी चाहिये । क्योकि, उस भावना से रहित जीवो का फिर भी ससार मे पतन होता है । सो ही कहा है—"जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभरूप बोधि को प्राप्त होकर, प्रमादी होता है वह बेचारा ससाररूपी भयकर वन मे चिरकाल तक भ्रमण करता है । १ ।" मनुष्यभव की दुर्लभता के विषय मे भी कहा है-'अशुभ परिणामो की अधिकता, ससार की विशालता और बडी बडी योनियो की अधिकता, ये सब बातें मनुष्य योनि को दुर्लभ बनाती हैं ।' बोधि व समाधि का लक्षण कहते हैं—पहले नही प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का प्राप्त होना तो बोधि कहलाती है, और उन्ही सम्यग्दर्शन आदि को निर्विघ्न अन्य भव मे साथ ले जाना सो समाधि है । इस प्रकार संक्षेप से दुर्लभ-अनुप्रेक्षा का कथन

अथ धर्मानुप्रेक्षा कथयति । तद्यथा—ससारे पतन्त जीवमुद्धृत्य नागेन्द्रनरेन्द्रदेवेन्द्रादिवन्द्ये अव्याबाधानतसुखाद्यनन्तगुणलक्षणे मोक्षपदे धरतीति धर्म । तस्य च भेदा कथ्यन्ते—अहिंसालक्षण सागारानगारलक्षणो वा उत्तमक्षमादिलक्षणो वा निश्चयव्यवहार-रत्नत्रयात्मको वा शुद्धात्मसवित्त्यात्मकमोहक्षोभरहितात्मपरिणामो वा धर्म । अस्य धर्मस्यालाभेऽतीतानन्तकाले "णिच्चिदरधाउसत्त य तरुदस वियलेंदियेसु छच्चेव । सुरणिरयतिरियचउ रो चउदस मणुयेसु सदसहस्सा ॥ १ ॥" इति गाथाकथितचतुरशीतियोनिलक्षेषु मध्ये परमस्वास्थ्यभावनोत्पन्ननिर्व्याकुलपारमार्थिकसुखविलक्षणानि पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषजनितव्याकुलत्वोत्पादकानि दु खानि सहमान सन् भ्रमितोऽय जीव । यदा पुनरेवगुणविशिष्टस्य धर्मस्य लाभो भवति तदा राजाधिराजार्द्धमाण्डलिकमहामण्डलिकबलदेववासुदेवकामदेवसकलचक्रवर्त्तिदेवेन्द्रगणधरदेवतीर्थंकरपरमदेवप्रथमकल्याणत्रयपर्यन्त विविधाभ्युदयसुख प्राप्य पश्चादभेदरत्नत्रयतभावनाबलेनाक्षयानन्तसुखादिगुणास्पदमर्हत्पद सिद्धपद च लभते । तेन कारणेन धर्म एव परमरसरसायन निधिनिधान कल्पवृक्ष कामधेनुश्चिन्तामणिरिति । कि बहुना, ये जिनेश्वरप्रणीत धर्म प्राप्य दृढमतयो जातास्त एव धन्या । तथा चोक्तम् "धन्या

समाप्त हुआ । ११ ।

अब धर्मानुप्रेक्षा को कहते है। ससार मे गिरते हुए जीव को उठाकर, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र आदि द्वारा पूज्य अथवा बाधारहित अनन्त सुख आदि अनन्त—गुणरूप मोक्ष पद मे जो धारता है वह धर्म है। उस धर्म के भेद कहे जाते है–अहिंसा लक्षणवाला, गृहस्थ और मुनि इन लक्षण वाला, उत्तम क्षमा आदि लक्षण वाला, निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय–स्वरूप अथवा शुद्ध आत्मानुभवरूप मोह--क्षोभरहित आत्म--परिणाम वाला धर्म है। परम-स्वास्थ्य-भावना से उत्पन्न व व्याकुलतारहित परमार्थिक सुख से विलक्षण तथा पाचो इन्द्रियो के सुखो की वाछा मे उत्पन्न और व्याकुलता करने वाले दु.खो को सहते हुए, इस जीव ने ऐसे धर्म की प्राप्ति न होने से 'नित्यनिगोद वनस्पति मे सात लाख, इतर निगोद वनस्पति मे सात लाख, पृथ्वीकाय मे सात लाख, जलकाय मे सात लाख, तेजकाय मे सात लाख, वायुकाय मे सात लाख, प्रत्येक वनस्पति मे दस लाख, वे इन्द्रिय व चौइन्द्रिय मे दो-दो लाख, देव नारकी व तिर्यच मे चार-चार लाख तथा मनुष्यो मे चौदह लाख योनि' इस गाथा में कही हुई चौरासी लाख योनियो मे, अतीत अनन्त काल तक परिभ्रमण किया है। जब इस जीव को पूर्वोक्त प्रकार के धर्म की प्राप्ति होती है तब राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, बलदेव, नारायण, कामदेव, चक्रवर्ती, देवेन्द्र, गणधरदेव, तीर्थंकरो के गर्भ–जन्म तप कल्याणक तक अनेक प्रकार के वैभव सुखो को पाकर, तदनन्तर अभेद रत्नत्रय की भावना के बल से अक्षय अनन्त गुणो के स्थानभूत अरहत पद को और सिद्ध पद को प्राप्त होता है। इस कारण धर्म ही परम रस के लिये रसायन, निधियो की प्राप्ति के लिये निधान, कल्प वृक्ष कामधेनु गाय और चिन्तामणि रत्न है।

ये प्रतिवुद्धा धर्मे खलु जिनवरै: समुपदिष्टे । ये प्रतिपन्ना धर्मं स्वभावनोपस्थितमनीषा ।१।' इति सक्षेपेण धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ १२ ॥

इत्युक्तलक्षणा अनित्याशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसवरनिर्जरालोकवोधिदुर्लभधर्मतत्वानुचिन्तनसज्ञा निरास्रवशुद्धात्मतत्त्वपरिणतिरूपस्य सवरस्य कारणभूता द्वादशानुप्रेक्षा. समाप्ता ।

अथ परीषहजय कथ्यते—क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिपद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानीति द्वाविशतिपरीषहा विज्ञेया । तेषा क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि सुखदु खजीवितमरणलाभालाभनिदाप्रशसादिसमतारूपपरमसामायिकेन नवतरशुभाशुभकर्मसवरणचिर तनशुभाशुभकर्मनिर्जरणसमर्थेनाय निजपरमात्मभावनासजात निर्विकारनित्यानदलक्षणसुखामृतसवित्तेरचलन स परीषहजय इति ।

अथ चारित्रं कथयति । शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयपरिणते स्वशुद्धात्मस्वरूपे चरणमवस्थान चारित्रम् । तच्च तारतम्यभेदेन पञ्चविधम् । तथाहि–सर्वे जीवा केवलज्ञानमया इति भावनारूपेण समतालक्षण सामायिकम्, अथवा परमस्वास्थ्यबलेन युगपत्सम-

---

विशेष क्या कहे, जो जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म को पाकर दृढ वुद्धिधारी (सम्यग्दृष्टि) हुए है वे ही धन्य है । सो ही कहा है--"जिनेन्द्र के द्वारा उपदिष्ट धर्म से जो प्रतिवोध को प्राप्त हुए वे धन्य है तथा जिन आत्मानुभव मे सलग्न वुद्धि वालो ने धर्म को ग्रहण किया वे सव धन्य है । १ ।" इस प्रकार सक्षेप से धर्मानुप्रेक्षा समाप्त हुई । १२ ।

इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण वाली, अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव सवर, निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ और धर्मतत्त्व के अनुचिंतन सज्ञा (नाम) वाली और आस्रवरहित शुद्ध-आत्मतत्व मे परिणतिरूप संवर की कारणभूत वारह अनुप्रेक्षा समाप्त हुई ।

अव परीषह--जय का कथन करते है--क्षुधा १ प्यास २, शीत ३, उष्ण ४, दशमशक (डास मच्छर) ५, नग्नता ६, अरति ७, स्त्री ८, चर्या ९, निषद्या (वैठना) १०, शय्या ११, आक्रोश १२, वध १३, याचना १४, अलाभ १५, रोग १६, तृणस्पर्श १७, मल १८, सत्कारपुरस्कार १९, प्रज्ञा [ज्ञान का मद) २०, अज्ञान २१ और अदर्शन २२ । ये वाईस परीषह जानने चाहिए । इन क्षुधा आदि वेदनाओ के तीव्र उदय होने पर भी सुख-दु ख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा आदि में समता रूप परम सामायिक के द्वारा तथा नवीन शुभ-अशुभ कर्मो के रुकने और पुराने शुभ-अशुभ कर्मो की निर्जरा की सामर्थ्य से इस जीव का, निज परमात्मा की भावना से उत्पन्न विकार रहित, नित्यानदरूप सुखामृत अनुभव से; जो नहीं चलना सो परीषहजय है ।

स्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्पत्यागरूपसमाधिलक्षणं वा, निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन रागद्वेषपरिहाररूपं वा, स्वशुद्धात्मानुभूतिबलेनार्त्तरौद्रपरित्यागरूपं वा, समस्तसुखदुःखादिमध्यस्थरूपं चेति । अथ छेदोपस्थापनं कथयति——यदा युगपत्समस्तविकल्पत्यागरूपे परमसामायिके स्थातुमशक्तोऽयं जीवस्तदा समस्तहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमित्यनेन पञ्चप्रकारविकल्पभेदेन व्रतच्छेदेन रागादिविकल्परूपसावद्येभ्यो निवर्त्य निजशुद्धात्मन्यात्मानमुपस्थापयतीति छेदोपस्थापनं । अथवा छेदे व्रतखण्डे सति निर्विकारस्वसंवित्तिरूपनिश्चयप्रायश्चित्तेन तत्साधकबहिरङ्गव्यवहारप्रायश्चित्तेन वा स्वात्मन्युपस्थापनं छेदोपस्थापनमिति । अथ परिहारविशुद्धिं कथयति—"तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं च तित्थयरमूले । पच्चक्खाणं पढिदो संज्झूण दुगाउ य विहारो ॥ १ ॥" इति गाथाकथितक्रमेण मिथ्यात्वरागादिविकल्पमलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यं परिहारविशुद्धिश्चारित्रमिति । अथ सूक्ष्मसाम्परायचारित्रं कथयति । सूक्ष्मातीन्द्रियनिजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन सूक्ष्मलोभाभिधानसाम्परायस्य कषायस्य यत्र निरवशेषोपशमनं क्षपणं वा तत्सूक्ष्मसाम्परा-

---

अब चारित्र का वर्णन करते है। शुद्ध उपयोग लक्षणात्मक निश्चय रत्नत्रयमयी परिणतिरूप आत्मस्वरूप मे जो आचरण या स्थिति, सो चारित्र है। वह तारतम्य भेद से पाच प्रकार का है। तथा—सब जीव केवलज्ञानमय हैं, ऐसी भावना से जो समता परिणाम का होना सो सामायिक है। अथवा परम स्वास्थ्य के बल से युगपत् समस्त शुभ, अशुभ, सकल्प विकल्पो के त्यागरूप जो समाधि (ध्यान), वह सामायिक है। अथवा निर्विकार आत्म-अनभव के बल से राग द्वेष परिहार (त्याग) रूप सामायिक है। अथवा शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से आर्त्तरौद्र ध्यान के त्याग स्वरूप सामायिक है। अथवा समस्त सुख-दुःखो मे मध्यस्त भावरूप सामायिक है। अब छेदोपस्थापन का कथन करते हैं—जब एक ही साथ समस्त विकल्पो के त्यागरूप परम सामायिक मे स्थित होने मे यह जीव असमर्थ होता है, तब 'समस्त हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरति सो व्रत है' इन पाच प्रकार भेद विकल्प रूप व्रतो का छेद होने से राग आदि विकल्परूप सावद्यो मे अपने आपको छुडा कर निज शुद्ध आत्मा मे अपने को उपस्थापन करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेद अर्थात् व्रत का भग होने पर निर्विकार निज आत्मानुभवरूप निश्चय प्रायश्चित के बल से और उसके साधकरूप बहिरङ्ग व्यवहार प्रायश्चित्त से निज आत्मा मे स्थित होना, छेदोपस्थापन है। परिहार विशुद्धि को कहते है—'जो जन्म से ३० वर्ष सुख से व्यतीत करके वर्षपृथक्त्व (८ वर्ष) तक तीर्थंकर के चरणो मे प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व को पढकर तीनो सध्याकालो को छोडकर प्रतिदिन दो कोस गमन करता है। ।' इस गाथा मे कहे क्रम अनुसार मिथ्यात्व, राग आदि विकल्प मलो का प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके विशेष रूप से जो आत्म शुद्धि अथवा निर्मलता, सो परिहार विशुद्धि चारित्र है। अब सूक्ष्म—सापराय चारित्र को कहते है—सूक्ष्म अतिन्द्रिय निज शुद्ध आत्म-अनुभव के बल से सूक्ष्म-लोभ नामक सापराय-कषाय का पूर्णरूप से उपशमन

यचारित्रमिति। अथ यथाख्यातचारित्रं कथयति---यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति।

इदानी सामायिकादिचारित्रपञ्चकस्य गुणस्थानस्वामित्व कथयति। प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वानिवृत्तिसज्ञगुणस्थानचतुष्टये सामायिकचारित्रं भवति छेदोपस्थापनंच, परिहारविशुद्धिस्तुप्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानद्वये, सूक्ष्मसापरायचारित्र पुनरेकस्मिन्नेव सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने, यथाख्यातचारित्रमुपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगिजिनायोगिजिनाभिधानगुणस्थानचतुष्टये भवतीति। अथ सयमप्रतिपक्षं कथयति---सयमासयमसंज्ञ दार्शनिकाद्यैकादशभेदभिन्न देशचारित्रमेकस्मिन्नेव पञ्चमगुणस्थाने ज्ञातव्यम्। असयमस्तु मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिसज्ञगुणस्थानचतुष्टये। भवति। इति चारित्रव्याख्यान समाप्तम्।

एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूताना यद्व्याख्यानं कृत, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि ताने पापास्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानिभवन्तीनि ज्ञातव्यम्। अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी---भगवन्नेतेषु व्रतादिसंवरकारणेषु मध्ये

अथवा क्षपण (क्षय), सो सूक्ष्म-सांपराय चारित्र है। अब यथाख्यात चारित्र को कहते है—जैसा निष्कंप सहज शुद्ध-स्वभाव से कषाय रहित आत्मा का स्वरूप है, वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया, सो यथाख्यात चारित्र है।

अब गुणस्थानो मे सामायिक आदि पाच प्रकार के चारित्र का कथन करते है—प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक चार गुणस्थानो मे सामायिक छेदोपस्थापन ये दो चारित्र होते है। परिहार विशुद्धि चारित्र—प्रमत्त, अप्रमत्त इन दो गुणस्थानो मे होता है। सूक्ष्म-सापराय दसवे गुणस्थान मे ही होता है। यथाख्यात चारित्र—उपशात कषाय, सयोगिजिन और अयोगिजिन इन चार गुणस्थानो मे होता है। अब सयम के प्रतिपक्षी (संयमासयम और असयम को कहते हैं—दार्शनिक आदि ग्यारह प्रतिमारूप सयमासंयम नाम वाला देश चारित्र, एक पंचम गुणस्थान मे ही जानना चाहिए। असयम मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरत-सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानो में होता है। इस प्रकार चारित्र का व्याख्यान समाप्त हुआ।

इस प्रकार भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र, इन सबका जो व्याख्यान किया, उनमे निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग के निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं, वे पापास्राव के सवर मे कारण जानने चाहिए। जो व्यवहार रत्नत्रय से साध्य शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादक वाक्य है, वे पुण्य-पाप इन दोनो आस्रवो के संवर के कारण होते है, ऐसा समझना चाहिये।

संवरानुप्रेक्षैव सारभूता, सा चैव संवरं करिष्यति किं विशेषप्रपञ्चेनेति । भगवानाह—त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्थानां यतीनां तयैव पूर्यते तत्रासमर्थानां पुनर्बहुप्रकारेण संवरप्रतिपक्षभूतो मोहो विजृम्भते, तेन कारणेन व्रतादिविस्तरं कथयन्त्याचार्या "असिदिसद किरियाण अक्किरियाण तु होइ चुलसीदी । सत्तट्ठी अण्णाणीण वेणइयाणं हुंति वत्तीसं ॥ १ ॥ जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कषायदो हुँति । अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधो ठिदिकारण णत्थि ॥ २ ॥' ॥ ३५ ॥ एवं संवरतत्त्वव्याख्याने सूत्रद्वयेन तृतीयं स्थलं गतम् ।

अथ सम्यग्दृष्टि जीवस्य संवरपूर्वकं निर्जरातत्त्वं कथयति—

जह कालेण तवेण य भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥ ३६ ॥

यथाकालेन तपसा च भुक्तरसं कर्मपुद्गलं येन ।
भावेन सडति ज्ञेया तत्सडनं चेति निर्जरा द्विविधा ॥ ३६ ॥

यहा सोम नामक राजसेठ कहता है कि भगवन् ! इन व्रत, समिति आदिक संवर के कारणों मे संवरानुप्रेक्षा ही सारभूत है, वही संवर कर देगी फिर विशेष प्रपंच से क्या प्रयोजन ? भगवान् नेमिचन्द्र आचार्य उत्तर देते हैं—मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति स्वरूप निर्विकल्प ध्यान मे स्थित मुनि के तो उस संवर अनुप्रेक्षा से ही संवर हो जाता है, किन्तु उसमे असमर्थ जीवों के अनेक प्रकार से संवर का प्रतिपक्षभूत मोह उत्पन्न होता है, इस कारण आचार्य व्रत आदि का कथन करते हैं ।

क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७ और वैनयिकों के ३२, ऐसे कुल मिलाकर तीन सौ तिरेसठ भेद पाखंडियों के हैं । १ । योग से प्रकृति और प्रदेश तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है और जिसके कषाय का उदय नहीं है तथा कषायों का क्षय हो गया है, ऐसे उपशांत कषाय व क्षीण कषाय और सयोगकेवली हैं उनमे तत्काल (एक समय वाला) बंध स्थिति का कारण नहीं है । २ ।' ॥ ३५ ॥ इस प्रकार संवर तत्त्व के व्याख्यान मे दो सूत्रों द्वारा तृतीय स्थल समाप्त हुआ ।

अब सम्यग्दृष्टि जीव के संवर-पूर्वक निर्जरा तत्त्व को कहते हैं—

गाथार्थ—आत्मा के जिस भाव से यथा समय (उदय काल मे) अथवा तप द्वारा फल देकर कर्म नष्ट होता है, वह भाव (परिणाम) भावनिर्जरा है और कर्म पुद्गलों का झडना, गलना द्रव्य निर्जरा है । भावनिर्जरा व द्रव्यनिर्जरा की अपेक्षा निर्जरा दो प्रकार है ॥ ३६ ॥

वृत्त्यर्थ:—'णेया' इत्यादि सूत्र का व्याख्यान करते हैं । 'णेया' जानना चाहिये । किसको ? 'णिज्जरा' भाव निर्जरा को । वह क्या है ? निर्विकार परम चैतन्य चित्-चमत्कार के अनुभव से उत्पन्न सहज-आनन्द-स्वभाव सुखामृत के आस्वाद रूप, वह भाव निर्जरा है । यहा 'भाव' शब्द का अध्याहार

व्याख्या —'णेया' इत्यादिव्याख्यान क्रियते—'णेया' ज्ञातव्या। का? 'णिज्जरा' भाव निर्जरा। सा का? निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसञ्जातसहजानन्दस्वभावसुखामृतरसास्वादरूपो भाव इत्यध्याहारः। 'जेण भावेण' येन भावेन जीवपरिणामेन। किं भवति 'सडदि' विशीर्यते पतति गलति विनश्यति। किं कर्तृ? 'कम्मपुग्गलं' कर्मारिविध्वंसकस्वकीयशुद्धात्मनो विलक्षण कर्मपुद्गलद्रव्य। कथंभूतं? 'भुत्तरसं' स्वोदयकाल प्राप्य सासारिकसुखदु खरूपेण भुक्तरस दत्तफलं। केन कारणभूतेन गलति? 'जहकालेण' स्वकालपच्यमानाम्रफलवत्सविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिपरिणामस्य वहिरंगसहकारिकारणभूतेन काललब्धिसज्ञेन यथाकालेन, न केवल यथाकालेन "तवेण य" अकालपच्यमानानामाम्रादिफलवदविपाकनिर्जरापेक्षया, अभ्यन्तरेण समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणेन वहिरंगेणान्तस्तत्त्वसंवित्तिसाधकसभूतेनानशनादिद्वादशविधेन तपसा चेति। "तस्सडण" कर्म्मणो गलनं यच्च सा द्रव्यनिर्जरा। ननु पूर्वं यदुक्त 'सडदि' तेनैव द्रव्यनिर्जरा लब्धा, पुनरपि 'सडणं' किमर्थं भणितम्? तत्रोत्तरम्—तेन सडदिशब्देन निर्मलात्मानुभूतिग्रहणभावनिर्जराभिधानपरिणामस्य सामर्थ्यमुक्त, न च द्रव्यनिर्जरेति। 'इदि दुविहा' इति द्रव्यभावरूपेण निर्जरा द्विविधा भवति।

अत्राह शिष्य —सविपाकनिर्जरा नरकादिगतिष्वज्ञानिनामपि दृश्यते संज्ञानिना-

---

(विवक्षा से ग्रहण) किया गया है। 'जेण भावेण' जीव के जिस परिणाम मे क्या होता है? 'सडदि' जीर्ण होता है, गिरता है, गलता है अथवा नष्ट होता है। कौन? 'कम्मपुग्गल' कर्म शत्रुओ का नाश करने वाले निज शुद्धआत्मा मे विलक्षण कर्म रूपी पुद्गल द्रव्य। कैसा होकर? 'भुत्तरस' अपने उदयकाल मे जीव को सासारिक सुख तथा दु ख रूप रस देकर। किस कारण गलता है? 'जहकालेण' अपने समय पर पकने वाले आम के फल के समान सविपाक निर्जरा की अपेक्षा, अन्तरग मे निज-शुद्ध आत्म-अनुभव रूप परिणाम के वहिरंग सहकारी कारणभूत काललब्धि रूप यथा समय गलते हैं मात्र यथा काल से ही नही गलते किन्तु 'तवेण य' विना समय पके हुए आम आदि फलो के सदृश, अविपाक निर्जरा की अपेक्षा, समस्त परद्रव्यो मे इच्छा के रोकने रूप अभ्यंतर तप से और आत्म—तत्व के अनुभव को साधने वाले उपवास आदि बारह प्रकार के वहिरग तप मे भी गलते है। 'तस्सडण' उस कर्म का गलना द्रव्य निर्जरा है। शका—आपने जो पहले 'सडदि' ऐसा कहा है उसी मे द्रव्यनिर्जरा प्राप्त हो गई, फिर 'सडण' इस शब्द का दुवारा कथन क्यो किया? समाधान—पहले जो 'सडदि' शब्द कहा गया है, उससे निर्मल आत्मा के अनुभव को ग्रहण करने रूप भाव निर्जरा नामक परिणाम की सामर्थ्य कही गई हैं, द्रव्य निर्जरा का कथन नही किया गया। 'इदि दुविहा' इस प्रकार द्रव्य और भाव स्वरूप से निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिये।

यहां शिष्य पूछता है कि जो सविपाक निर्जरा है, वह तो नरक आदि गतियो मे अज्ञानियो के

मेवेति नियमो नास्ति । तत्रोत्तरम्—अत्रैवमोक्षकारण या संवरपूर्विका निर्जरा सैव ग्राह्या । या पुनरज्ञानिना निर्जरा सा गजस्नानवन्निष्फला । यत स्तोकं कर्म निर्जरयति बहुतर वध्नाति, तेन कारणेन सा न ग्राह्या । या तु सरागसद्दृष्टीना निर्जरा सा यद्यप्यशुभकर्म-विनाश करोति तथापि ससारस्थितिं स्तोका कुरुते । तद्भवे तीर्थंकरप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्य-बन्धकारण भवति पारम्पर्येण मुक्तिकारण चेति । वीतरागसद्दृष्टीना पुन पुण्यपापद्वयवि-नाशे तद्भवेऽपि मुक्तिकारणमिति । उक्त च श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवै 'ज अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसदसहस्सकोडीहिं । त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥ १ ॥' कश्चि-दाह——सद्दृष्टीना वीतरागविशेषण किमर्थं, 'रागादयो हेयो' मदीया न भवन्ति' इति भेद-विज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति । तत्र परिहार । अन्धकारे पुरुषद्वयम् एक प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्य पुनरेक प्रदीपरहितस्तिष्ठति । स च कूपे पतन सर्पादिक वा न जानाति, तस्य विनाशे दोषो नास्ति । यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादि-विनाशे प्रदीपफलं नास्ति । यस्तु कूपपतनादिक त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति । तथा कोऽपि

भी होती हुई देखी जाती है । इसलिये सम्यग्ज्ञानियो के सविपाक निर्जरा होती है, यह नियम नही है । इसका उत्तर यह है—यहा (मोक्ष प्रकरण मे जो सवर-पूर्वक निर्जरा है उसी को ग्रहण करना चाहिए, क्योकि वही मोक्ष का कारण है । और जो अज्ञानियो के निर्जरा होती है वह तो गजस्नान (हाथी के स्नान) के समान निष्फल है । क्योकि अज्ञानी जीव थोडे कर्मो की तो निर्जरा करता है और बहुत से कर्मों को बाधता है । इस कारण अज्ञानियो की निर्जरा का यहा ग्रहण नही है । सराग सम्यग्दृष्टियो के जो निर्जरा है, वह यद्यपि अशुभ कर्मों का नाश करती है, (शुभ कर्मो का नाश नही करती) फिर भी ससार की स्थिति को थोडा करती है अर्थात् जीव के ससार भ्रमण को घटाती है । उसी भव मे तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य बध का कारण हो जाती है और परम्परा से मोक्ष का कारण है । वीतराग सम्यग्दृष्टियो के पुण्य तथा पाप दोनो का नाश होने पर उसी भव मे वह निर्जरा मोक्ष का कारण होती है । सो ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव ने कहा है—'अज्ञानी जिन कर्मो का एक लाख करोड वर्षो मे नाश करता है, उन्ही कर्मो को ज्ञानी जीव मन-वचन-काय की गुप्ति द्वारा एक उच्छ्वास मात्र मे नष्ट कर देता है । १ ।'

यहा कोई शका करता है कि सम्यग्दृष्टियो के 'वीतराग' विशेषण किस लिये लगाया है, क्योकि राग आदि भाव हेय हैं, ये मेरे नही हैं' ऐसा भेद-विज्ञान होने पर, उसके राग का अनुभव होते हुए भी ज्ञानमात्र से ही मोक्ष हो जाती है ? समाधान—अन्धकार मे दो मनुष्य हैं, एक के हाथ मे दीपक है और दूसरा बिना दीपक के है । उस दीपक रहित पुरुष को, कुएं तथा सर्प आदि का ज्ञान नहीं होता, इसलिये कुए आदि मे गिरकर नाश होने मे उसका दोष नही । हाथ मे दीपक वाले मनुष्य का कुए मे गिरने आदि से नाश होने पर, दीपक का कोई फल नही हुआ । जो कूपपतन आदि से बचता है उसके दीपक का फल है । इसी प्रकार जो कोई मनुष्य 'राग आदि हेय हैं' मेरे नही हैं' इस भेद-विज्ञान को

रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञान न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत्, अन्यः कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावतांशेन रागादिकमनुभवति तावतांशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति । यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिक त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम् । तथा चोक्तं—'चक्खुस्स दंसणस्स य सारो सप्पादिदोसपरिहरणं । चक्खू होइ णिरत्थं दठ्ठूण बिले पडंतस्स' ॥ ३६ ॥ एवं निर्जराव्याख्याने सूत्रेणैकेन चतुर्थस्थलं गतम् ।

अथ मोक्षतत्त्वमावेदति :—

सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भावमुक्खो दव्वविमुक्खो य कम्मपुहभावो ॥ ३७ ॥

सर्वस्य कर्मणः यः क्षयहेतुः आत्मनः हि परिणामः ।
ज्ञेयः सः भावमोक्षः द्रव्यविमोक्षः च कर्मपृथग्भावः ॥ ३७ ॥

व्याख्या—यद्यपि सामान्येन निरवशेपनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मन आत्यन्तिकस्वाभाविकाचिन्त्याद्भुतानुपमसकलविमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणास्पदमवस्थान्तरं

नही जानता, वह तो कर्मों से बंधता ही है । दूसरा कोई मनुष्य भेद-विज्ञान के होने पर भी जितने अंशों मे रागादिक का अनुभव करता है, उतने अंशो से वह भेद-विज्ञानी भी बंधता ही है, उसके रागादि के भेद-विज्ञान का भी फल नही है । जो भेद-विज्ञान होने पर राग आदि का त्याग करता है उसके भेद-विज्ञान का फल है, ऐसा जानना चाहिए । सो ही कहा है-'मार्ग मे सर्प आदि से वचना, नेत्रो से देखने का यह फल है, देखकर भी सर्प के विल मे पडने वाले नेत्र निरर्थक हैं ।' ॥ ३६ ॥

इस प्रकार निर्जरा तत्त्व के व्याख्यान मे एक सूत्र द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ ।

अव मोक्षतत्त्व को कहते हैं —

गाथार्थ—सव कर्मों के नाश का कारण जो आत्मा का परिणाम है, उसको भाव मोक्ष जानना चाहिए । कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक होना, द्रव्यमोक्ष है । ३७ ।

वृत्त्यर्थ:—यद्यपि सामान्य रूप से सम्पूर्णतया कर्ममल-कलंक-रहित, शरीर रहित, आत्मा के आत्यन्तिक—स्वाभाविक-अचिन्त्य-अद्भुत तथा अनुपम सकल विमल केवलज्ञान आदि अनन्त गुणो का स्थान रूप जो अवस्थान्तर है, वही मोक्ष कहा जाता है, फिर भी भाव और द्रव्य के भेद से, वह मोक्ष दो प्रकार का होता है, यह वार्त्तिक पाठ है । सो इस प्रकार है-'णेयो स भावमुक्खो' वह भाव-मोक्ष जानना चाहिए । वह कौन ? 'अप्पणो हु परिणामो' निश्चय रत्नत्रय रूप कारण समयसार रूप आत्म-परिणाम । वह आत्मा का परिणाम कैसा है ? 'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू' सव द्रव्य-भावरूप मोहनीय आदि चार घातियाकर्मों के नाश का जो कारण है । द्रव्यमोक्ष को कहते हैं-'दव्वविमुक्खो' अयोगी गुणस्थान के अन्त समय मे द्रव्यमोक्ष होता है । वह द्रव्यमोक्ष कैसा है ? 'कम्मपुहभावो' टंका-

मोक्षो भण्यते तथापि विशेषेण भावद्रव्यरूपेण द्विधा भवतीति वार्तिकम्। तद्यथा—'णेयो स भावमुक्खो' णेयो ज्ञातव्य. स भावमोक्ष । स क. ? 'अप्पणो हु परिणामो' निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसाररूपो 'हु' स्फुटमात्मन परिणाम । कथभूत. ? 'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू' सर्वस्य द्रव्यभावरूपमोहनीयादिघातिचतुष्टयकर्मणो य क्षयहेतुरिति । द्रव्यमोक्ष कथयति । 'दव्वविमुक्खो' अयोगिचरमसमये द्रव्यविमोक्षो भवति । कोऽसौ ? 'कम्मपुहभाओ' टङ्कोत्कीर्णशुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मन आयुरादिशेषाघातिकर्मणामपि य आत्यन्तिकपृथग्भावो विश्लेषो विघटनमिति ।

तस्या मुक्तात्मन सुख कथ्यते । 'आत्मोपादानसिद्ध स्वयमतिशयवद्वीतवाध विशाल वृद्धिह्रासव्यपेत विषयविरहितं नि प्रतिद्वन्द्वभावम् । अन्यद्रव्यानपेक्ष निरुपमममितं शाश्वत सर्वकालमुत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातं ॥ १ ॥' कश्चिदाह—इन्द्रियसुखमेव सुखं, मुक्तात्मनामिन्द्रियशरीराभावे पूर्वोक्तमतीन्द्रियसुख कथं घटत इति ? तत्रोत्तरं दीयते—सासारिकसुखं तावत् स्त्रीसेवादिपञ्चेन्द्रियविषयप्रभवमेव, यत्पुन पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुख तदतीन्द्रियमुखमत्रैव दृश्यते । पञ्चेन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहिताना निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिना रागादिरहित-

---

त्कीर्ण शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव स्वरूप परमात्मा से, आयु आदि शेष चार अघातिया कर्मो का भी सर्वथा पृथक होना भिन्न होना या विघटना, सो द्रव्यमोक्ष है ।

उस मुक्त आत्मा के सुख का वर्णन करते है—'आत्मा—उपादान कारण से सिद्ध, स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि-ह्रास से रहित, विषयो से रहित, प्रतिद्वन्द्व (प्रतिपक्षी) से अन्य द्रव्यो से निरपेक्ष उपमा रहित, अपार, नित्य, सर्वदा उत्कृष्ट तथा अनन्त सारभूत परमसुख उन सिद्धो के होता है । १ ।'

शका—जो सुख इन्द्रियो से उत्पन्न होता है, वही सुख है, सिद्ध जीवो के इन्द्रियो तथा शरीर का अभाव है, इसलिये पूर्वोक्त अतीन्द्रिय सुख सिद्धो के कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हैं—सासारिक सुख तो स्त्री सेवन आदि पाचो इन्द्रियो के विषयो से ही उत्पन्न होता है, किन्तु पाचो इन्द्रियों के विषयो के व्यापार से रहित तथा निर्व्याकुल चित्त वाले पुरुषो को जो सुख है, वह अतीन्द्रिय सुख है, वह इस लोक मे भी देखा जाता है । पाचो इन्द्रियो तथा मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पो से रहित तथा निर्विकल्प ध्यान मे स्थित परम योगियो के राग आदि के अभाव से जो स्वसवेद्य (अपने अनुभव मे आने वाला) आत्मिक सुख है वह विशेष रूप से अतीन्द्रिय सुख है । भावकर्म व नोकर्म से रहित आत्मा के समस्त प्रदेशो मे आह्लाद रूप पारमार्थिक परम सुख मे परिणत मुक्त जीवो के जो अतीन्द्रिय सुख है, वह अत्यन्त विशेष रूप से अतीन्द्रिय है ।

यहा शिष्य कहता है—ससारी जीवो के निरन्तर कर्मो का बध होता है, इसी प्रकार कर्मो का

त्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम् । यच्च भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहिताना सर्वप्रदेशाह्लादैकपारमार्थिकपरमानन्दपरिणताना मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुख तदत्यन्तविशेषेण ज्ञातव्यम् । अत्राह शिष्य —संसारिणा निरन्तरं कर्मबन्धोस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथ मोक्षो भवतीति ? तत्र प्रत्युत्तर—यथा शत्रो क्षीणावस्था दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्यय मम हनने प्रस्तावस्तत पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति । तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति, हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्व क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया 'खयउवसमिय विसोही देसण पाउग्ग करणलद्धी य । चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते ॥ १ ॥' इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति । यत्पुनरन्त कोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जाते अपि सत्यय जीव आगमभाषया अधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञामध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणतिरूपा कर्महननबुद्धि क्वापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति । अन्यदपि दृष्टान्तनवकं मोक्षविषये ज्ञातव्यम्—"रयण दीव दिणयर दहिउ दुद्धउ घीव । पहाणु । सुण्णुरुप्पफलिउ अगणि, णव दिट्ठंता जाणि ॥ १ ॥" नन्वनादिकाले मोक्षं गच्छता जीवाना जगच्छून्यं

उदय भी सदा होता रहता है, शुद्ध आतम-ध्यान का प्रसग ही नही । तब मोक्ष कैसे होती है ? इसका उत्तर देते हैं—जैसे कोई बुद्धिमान्, शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर विचार करता है कि 'यह मेरे मारने का अवसर है', इसलिये पुरुषार्थ करके शत्रु को मारता है । इसी प्रकार कर्मो की भी सदा एक रूप अवस्था नही रहती, स्थिति और अनुभाग की न्यूनता होन पर जब कर्म लघु अर्थात् क्षीण होते है, तब बुद्धिमान् भव्य जीव, आगम भाषा से 'क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाच लब्धिया है, इनमे चार तो सामान्य हैं (सभी जीवो को हो सकती हैं), करण लब्धि सम्यक्त्व होने के समय होती है ।१।' इस गाथा मे कही हुई पाच लब्धियो से और अध्यात्म भाषा मे निज शुद्ध आत्मा के सम्मुख परिणाम नामक निर्वल भावना विशेष रूप खड्ग से पौरुष करके कर्म शत्रु का नष्ट करता है । अन्त.—कोटाकोटि—प्रमाण कर्मस्थिति रूप तथा लता व काष्ठ के स्थानापन्न अनुभाग रूप से कर्मभार हलका हो जाने पर भी यदि यह जीव आगम भाषा स अध प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक और अध्यात्म भाषा से स्वशुद्ध-आतमसन्मुख परिणाम रूप ऐसी कर्मनाशक बुद्धि को किसी भी समय नही करेगा, तो यह अभव्यत्व गुण का लक्षण जानना चाहिए । अन्य भी नौ दृष्टान्त मोक्ष के विषय मे जानने योग्य हैं ।

"रत्न, दीपक, सूर्य, दूध, दही, घी, पाषाण, सोना, चादी, स्फटिकमणि और अग्नि इन नौ दृष्टातो से जानना चाहिये । १।" (१ रत्न—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नत्रयमयी होने से आत्मा रत्न के समान है । २. दीपक—स्व पर प्रकाशक होने से आत्मा दीपक के समान है । ३. सूर्य

भविष्यतीति ? तत्र परिहार — यथा भाविकालसमयानां क्रमेण गच्छता यद्यपि भाविकालसमयराशे स्तोकत्वं भवति तथाप्यवसान नास्ति । तथा मुक्ति गच्छता जीवाना यद्यपि जीवराशे स्तोकत्व भवति तथप्यवसानं नास्ति । इति चेत्तर्हि पूर्वकाले वहवोऽपि जीवा मोक्ष गता इदानी जगत. शून्यत्व किं न दृश्यते । किञ्चाभव्यानामभव्यसमानभव्याना च मोक्षो नास्ति कथ शून्यत्वं भविष्यतीति ॥ ३७ ॥ एव संक्षेपेण मोक्षतत्त्वव्याख्यानेनैकसूत्रेण पञ्चम स्थल गतम् ।

अत ऊर्ध्वं षष्ठस्थले गाथापूर्वार्धेन पुण्यपापपदार्थद्वयस्वरूपमुत्तरार्धेन च पुण्यपापकृतिसंख्या कथयामीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदम् प्रतिपादयति ।

सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्ण पराणि पावं च ॥३८॥

केवल-ज्ञानमयी तेज से प्रकाशमान होने से आत्मा सूर्य के समान है । ४. दूध दही घी—सार वस्तु होने से परमात्मा रूपी आत्मा घी के समान है । ससारी आत्मा मे परमात्मा शक्ति रूप से रहता है, जैसे दूध व दही मे घी रहता है । अत ससारी आत्मा को अपेक्षा आत्मा दूध या दही के समान है । ५ पाषाण टंकोत्कीरण ज्ञायक स्वभाव होने से आत्मा पाषाण के समान है । ६ सुवर्ण—कर्म रूपी कालिमा से रहित होने से आत्मा सुवर्ण के समान है । ७ चादी—स्वच्छ होने से आत्मा चादी के समान है । ८. स्फटिक, स्वभाव से निर्मल होने पर भी, हरी पीली काली डाक के निमित्त से हरी पीली काली रूप परिणम जाती है और डाक के अभाव मे शुद्ध निर्मल हो जाती है । इसी प्रकार आत्मा, स्वभाव से निर्मल होने पर भी, कर्मोदय के निमित्त से राग द्वेप मोह रूप परिणमती है और कर्म के अभाव मे शुद्ध निर्मल हो जाती है, अत आत्मा स्फटिक के समान है । ९ अग्नि—जैसे अग्नि इंधन को जलाती है, इसी प्रकार आत्मा कर्म रूपी इंधन को जलाती है, अतः आत्मा अग्नि के समान है ।]

शका—अनादि काल से जीव मोक्ष को जा रहे हैं, अत यह जगत् कभी जीवो से विलकुल शून्य हो जायेगा ? इसका परिहार-जैसे भविष्यत् काल सम्बन्धी समयो के क्रम से जाने पर यद्यपि भविष्यत्काल के समयो की राशि मे कमी होती है फिर भी उसका अत नही होगा । इसी प्रकार जीवों के मुक्ति मे जाने से यद्यपि जगत् मे जीवराशि की न्यूनता होती है, तो भी उस जीवराशि का अन्त नहीं होगा । यदि जीवो के मोक्ष जाने मे शून्यता मानते हो तो पूर्वकाल मे बहुत जीव मोक्ष गये हैं, तब भी इस समय जगत् मे जीवो की शून्यता क्यो नही दिखाई पडती ? अर्थात् शून्यता नही हुई । और भी अभव्य जीवो तथा अभव्यो के समान दूरानदूर भव्य जीवो का मोक्ष नही हैं । फिर जगत् की शून्यता कैसे होगी ।। ३७ ।। इस प्रकार सक्षेप मे मोक्षतत्त्व के व्याख्यान रूप एक सूत्र से पंचम स्थल समाप्त हुआ ।

शुभाशुभभावयुक्ताः पुण्य पाप भवन्ति खलु जीवाः ।
सात शुभायुः नाम गोत्रं पुण्यं पराणि पाप च ॥ ३८ ॥

व्याख्या---"पुण्ण पावं हवति खलु जीवा" चिदानन्दैकसहजशुद्धस्वभावत्वेन पुण्यपापबन्धमोक्षादिपर्यायरूपविकल्परहिता अपि सन्तानागतानादिकर्मबन्धपर्यायेण पुण्यं पाप च भवन्ति खलु स्फुट जीवा । कथंभूता सन्त ? "सुहअसुहभावजुत्ता" उद्वमिथ्यात्वविष भावय दृष्टि च कुरु परां भक्तिम् । भावनमस्काररतो ज्ञाने युक्तो भव सदापि ॥ १ ॥ पञ्चमहाव्रतरक्षां कोपचतुष्कस्य निग्रह परमम् । दुर्दान्तेन्द्रियविजयं तप सिद्धिविधौ कुरूद्योगम् ॥ २ ॥' इत्यार्याद्वियकथितलक्षणेन शुभोपयोगभावेन परिणामेन तद्विलक्षणेनाशुभोपयोगपरिणामेन च युक्ता परिणता । इदानी पुण्यपापभेदान् कथयति "सादं सुहाउ णामं गोदं पुण्ण" सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं भवति "पराणि पावं च" तस्मादपराणि कर्माणि पाप चेति । तद्यथा---सद्वेद्यमेक, तिर्यग्मनुष्यदेवायुस्त्रयं, सुभगयश--कीर्तितीर्थकरत्वादिनामप्रकृतीना सप्तत्रिंशत्, तथोच्चैर्गोत्रमिति समुदायेन द्विचत्वारिंशत्संख्या. पुण्यप्रकृतयो विज्ञेया । शेषा द्व्यशीतिपापमिति । तत्र 'दर्शनविशुद्धिर्विनयसपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचा-

---

अब इसके आगे छठे स्थल मे "गाथा के पूर्वार्ध से पुण्य पाप रूप दो पदार्थों को और उत्तरार्ध से पुण्य प्रकृति तथा पाप प्रकृतियो की संख्या को कहता हू" इस अभिप्राय को मन मे रखकर, भगवान् इस सूत्र का प्रतिपादन करते हैं -

गाथार्थ --शुभ तथा अशुभ परिणामो से युक्त जीव, पुण्य--पाप रूप होते हैं। सातावेदनीय, शुभ--आयु, शुभ--नाम तथा उच्च --गोत्र, ये पुण्य प्रकृतिया हैं। शेष सब पाप प्रकृतिया है ॥ ३८ ॥

वृत्त्यर्थ ---"पुण्णं पाव हवति खलु जीवा" चिदानन्द एक---सहज--शुद्ध--स्वभाव से यह जीव, पुण्य--पाप, बध--मोक्ष आदि पर्याय रूप विकल्पो से रहित है, तो भी परम्परा---अनादि कर्मबन्ध पर्याय से पुण्य--पाप रूप होते हैं। कैसे होते हुए जीव पुण्य--पाप को धारण करते है ? "सुहअसुहभावजुत्ता", "मिथ्यात्व रूपी विष का वमन करो, सम्यग्दर्शन की भावना करो, उत्कृष्ट भक्ति करो और भाव नमस्कार मे तत्पर होकर सदा ज्ञान मे लगे रहो। १। पाच महाव्रतो का पालन करो, क्रोध आदि चार कषायो का पूर्णरूप से निग्रह करो, प्रबल इन्द्रियो को विजय करो तथा बाह्य--अभ्यन्तर तप को सिद्ध करने मे उद्योग करो। २ ।" इस प्रकार दोनो आर्याछन्दो मे कहे हुए लक्षण सहित शुभ उपयोग रूप परिणाम से तथा उसके विपरीत अशुभ उपयोग रूप परिणाम से युक्त जीव, पुण्य--पाप को धारण करते हैं अथवा स्वय पुण्य--पाप रूप हो जाते हैं। अब पुण्य तथा पाप के भेदो को कहते हैं। "साद सुहाउ णाम गोदं पुण्ण" साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र ये कर्म तो पुण्य रूप हैं। "पराणि पावं च" इनसे भिन्न शेष पाप कर्म है। इस प्रकार--साता वेदनीय एक, तिर्यच-मनुष्य-देव ये तीन आयु, सुभग-यशकीर्ति---तीर्थंकर आदि नाम कर्म की सेतीस और उच्च गोत्र ऐसे समुदाय से ४२ पुण्य प्रकृतिया जाननी चाहियें। शेष ८२ पाप प्रकृतिया है।

रोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य' इत्युक्तलक्षणषोडशभावनोत्पन्नतीर्थंकरनामकर्मैव विशिष्ट पुण्यम् । षोडशभावनासु मध्ये परमागमभाषया "मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषा पञ्चविंशति ॥ १ ॥" इति श्लोककथितपञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्वभावनैव मुख्येति विज्ञेयम् । 'सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्' कथ पुण्य करोतीति ? तत्र युक्तिमाह । यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणा तदर्थे दानसन्मानादिक करोति तथा सम्यग्दृष्टि अप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थ सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धाना तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूना च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्ति करोति तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिना (कृषकाना) पलालमिव अनीहितवृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्रवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरिवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा

'दर्शनविशुद्धि १, विनयसपन्नता २, शील और व्रतो का अतिचार रहित आचरण ३ निरन्तर ज्ञान उपयोग ४ संवेग ५ शक्ति अनुसार त्याग ६, शक्ति अनुसार तप ७, साधु समाधि ८, वैयावृत्त्य करना ९, अर्हंतभक्ति १०, आचार्य-भक्ति ११, बहुश्रुत-भक्ति १२, प्रवचन -भक्ति १३, आवश्यको मे हानि न करना १४, मार्ग-प्रभावना १५ और प्रवचनवात्सल्य १६ ये तीर्थकर प्रकृति के बंध के कारण हैं' इन सोलह भावनाओ से उत्पन्न तीर्थंकर नामकर्म विशिष्ट पुण्य है। इन सोलह भावनाओं मे, परमागम भाषा से 'तीन मूढता, आठ मद, ६ अनायतन और आठ शका आदि दोष ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के दोष है। १। इस श्लोक से कहे हुए पच्चीस दोषो से रहित तथा अध्यात्म भाषा से निज शुद्ध-आत्मा मे उपादेयरूप रुचि, ऐसी सम्यक्त्व की भावना ही मुख्य है, ऐसा जानना चाहिये।

शका---सम्यग्दृष्टि जीव के तो पुण्य तथा पाप ये दोनो हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है ? युक्ति सहित समाधान-जैसे कोई मनुष्य अन्य देश मे विद्यमान किसी मनोहर स्त्री के पास से आये हुए मनुष्यो का, उस स्त्री की प्राप्ति के लिये दान-सम्मान आदि करता है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी निज शुद्ध-आत्मा को ही भाता है, परन्तु जब चारित्र मोह के उदय से उस निज-शुद्धात्म-भावना भाने मे असमर्थ होता है, तब दोषरहित परमात्म स्वरूप अर्हंत-सिद्धो की तथा उनके आराधक आचार्य-उपाध्याय साधु की, परमात्मपद की प्राप्ति के लिए और विषय कषायो से बचने के लिए, पूजा दान आदि मे अथवा गुणो की स्तुति आदि से परम भक्ति करता है। उनसे और भोगो की वाछा आदि रूप निदान रहित परिणामो से तथा नि स्पृह वृत्ति से विशिष्ट पुण्य का आस्रव करता है, जैसे किसान चावलो के लिये खेती करता है, तो भी बिना इच्छा बहुत सा पलाल मिल ही जाता है। उस पुण्य से स्वर्ग मे इन्द्र,

पश्यति । किं पश्यतीति चेत्--तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेद-रत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनो भावनामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थंकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति । मिथ्यादृष्टिस्तु तीव्रनिदानबन्धपुण्येन भोगं प्राप्य पश्चादर्द्धचक्रवर्त्तिरावणादिवन्नरकं गच्छतीति । एवमुक्तलक्षणपुण्यपापपदार्थद्वयेन सह पूर्वोक्तानि सप्ततत्त्वान्येव नव पदार्था भवन्तीति ज्ञातव्यम् ।

इति श्रीनेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे "आसवबंधण" इत्यादि
एका सूत्रगाथा तदनन्तरं गाथादशकेन स्थलषट्कं चेति समुदायेनैकादशसूत्रैः
सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा द्वितीयोमहाधिकारः समाप्तः ॥२॥

लोकान्तिक देव आदि की विभूति प्राप्त करके, विमान तथा परिवार आदि संपदा को जीर्ण तृण के समान गिनता हुआ पञ्च महाविदेहों में जाकर देखता है। प्रश्न--क्या देखता है? उत्तर----वह यह समवसरण है, वे ये वीतराग सर्वज्ञ भगवान् हैं, वे ये भेद-अभेद रत्नत्रय के आराधक गणधर देव आदि हैं, जो पहले सुने थे, वे आज प्रत्यक्ष देखे, ऐसा मानकर धर्म-बुद्धि को विशेष दृढ करके चौथे गुणस्थान के गुणस्थान के योग्य आत्मभावना को न छोडता हुआ, भोग भोगता हुआ भी धर्मध्यान से काल को पूर्ण कर, स्वर्ग से आकर, तीर्थंकर आदि पद को प्राप्त होता है, तो भी पूर्व जन्म में भावित विशिष्ट भेदज्ञान की वासना के बल से मोह नहीं करता, अतः जिन-दीक्षा धारण कर पुण्य-पाप से रहित निज परमात्मध्यान के द्वारा मोक्ष जाता है। मिथ्यादृष्टि तो, तीव्र निदानबंध वाले पुण्य से भोग प्राप्त करने के पश्चात् अर्ध-चक्रवर्ती रावण आदि के समान नरक को जाता है। एवं उक्त लक्षण वाले पुण्य-पाप रूप दो पदार्थ सहित पूर्वोक्त सात तत्त्व ही ९ पदार्थ हो जाते हैं। ऐसा जानना चाहिए ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव-विरचित द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ में 'आसव-बंधण'
आदि एक सूत्रगाथा, तदनंतर १० गाथाओं द्वारा ६ स्थल, इस तरह समुदाय
रूप से ११ गाथाओं द्वारा सात तत्त्व, नौ पदार्थ प्रतिपादन
करने वाला दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥ २ ॥



तृतीयः अधिकारः

अत ऊर्ध्वं विंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षमार्गं कथयति । तत्रादौ 'सम्मद्दसण' इत्याद्यष्टगाथाभिर्निश्चमोक्षमार्गव्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादकमुख्यत्वेन प्रथमः अन्तराधिकारस्तत परम 'दुविहं पि मुक्खहेउ' इति प्रभृतिद्वादशसूत्रैर्ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन द्वितीयोऽन्तराधिकार । इति तृतीयाधिकारे समुदायेन पातनिका ।

अथ प्रथमत सूत्रपूर्वार्धेन व्यवहारमोक्षमार्गमुत्तरार्धेन च निश्चयमोक्षमार्गं निरूपयति —

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।

ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ।। ३९ ।।

सम्यग्दर्शनं ज्ञानं चरणं मोक्षस्य कारणं जानीहि।

व्यवहारात् निश्चयत. तत्त्रिकमयः निजः आत्मा ।। ३९ ।।

व्याख्या—'सम्मद्दसगणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारण, हे शिष्य ! जानीहि व्यवहारनयात् । 'णिच्छयदो

तीसरा अधिकार

अब आगे बीस गाथाओ तक मोक्ष-मार्ग का कथन करते हैं। उसके प्रारम्भ मे 'सम्मद्दंसणणाणं' इत्यादि आठ गाथाओ द्वारा प्रधानता से निश्चय मोक्ष-मार्ग और व्यवहार मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादक प्रथम अन्तराधिकार है । उसके अनंतर 'दुविहं पि मुक्खहेउ' आदि बारह गाथाओ मे ध्यान, ध्याता, ध्येय तथा ध्यान के फल को मुख्यता मे कहने वाला द्वितीय अन्तराधिकार है। इस प्रकार इस तृतीय अधिकार की समुदाय से भूमिका है।

अब प्रथम ही सूत्र के पूर्वार्ध से व्यवहार मोक्ष-मार्ग को और उत्तरार्ध से निश्चय मोक्ष-मार्ग कहते हैं —

गाथार्थ —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनो के समुदाय) को व्यवहारनय से मोक्ष का कारण जानो । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमयी निज आत्मा को निश्चय से मोक्ष का कारण जानो ।। ३९ ।।

वृत्त्यर्थ :—'सम्मद्द सणणाणं चरण मोक्खस्स कारण जाणे ववहारा' हे शिष्य ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इन तीनो के समुदाय) को व्यवहार नय से मोक्ष का कारण जानो।

तिनियमइओ गिओ अप्पा' निश्चयस्तत्त्रितयमयो निजात्मेति । तथाहि—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्ग । निजनिरञ्जनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चयमोक्षमार्ग । अथवा स्वशुद्धात्मभावनासाधकवहिर्द्रव्याश्रितो व्यवहारमोक्षमार्ग । केवलस्वसवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितसुखानुभूतिरूपोनिश्चय–मोक्षमार्ग. । अथवा धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्ग, सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्ग । एव सक्षेपेण व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गलक्षणं ज्ञातव्यमिति ॥३९॥

अथाभेदेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्वशुद्धात्मैव तेन कारणेन निश्चयेनात्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इत्याख्याति । अथवा पूर्वोक्तमेव निश्चयमोक्षमार्गं प्रकारान्तरेण दृढयति –

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि ।
तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा ॥ ४० ॥

रत्नत्रय न वर्त्तते आत्मान मुक्त्वा अन्यद्रव्ये ।
तस्मात् तत्त्रिकमय भवति खलु मोक्षस्य कारणं आत्मा ॥४०॥

'णिच्चयदो तत्तिरमइओ णिओ अप्पा' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनमयी निज आत्मा ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है। तथा—श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थो का सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान और व्रत आदि रूप आचरण, इन विकल्पमयी व्यवहार मोक्ष-मार्ग हैं। निज निरजन शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण मे एकाग्रपरिणति रूप निश्चय मोक्ष-मार्ग है। अथवा स्वशुद्धात्म-भावना का साधक व वाह्य पदार्थ के आश्रित व्यवहार मोक्ष-मार्ग है। मात्रस्वानुभव मे उत्पन्न व रागादि विकल्पो से रहित सुख अनुभवन रूप निश्चय मोक्ष-मार्ग है। अथवा धातु-पाषाण से सुवर्ण मे प्राप्ति मे अग्नि के समान जो साधक है, वह तो व्यवहार मोक्ष-मार्ग है तथा सुवर्ण समान निर्विकार निज-आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति रूप साध्य, वह निश्चय मोक्ष-मार्ग है । इस प्रकार सक्षेप से व्यवहार तथा निश्चय मोक्ष-मार्ग का लक्षण जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

अव अभेद से सम्यग्दर्शन--ज्ञान--चारित्ररूप, निज शुद्ध-आत्मा ही है, इस कारण निश्चय मे आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है, इस प्रकार कथन करते है। अथवा पूर्वोक्त निश्चय मोक्ष-मार्ग को ही अन्य प्रकार से दृढ करते हैं ---

गाथार्थ —आत्मा को छोडकर अन्य द्रव्य मे रत्नत्रय नही रहता, इस कारण उन रत्नत्रयमयी आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का कारण हैं ॥ ४० ॥

वृत्त्यर्थ —'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्णदवियह्मि' निज शुद्ध-आत्मा को छोडकर अन्य अचेतन द्रव्य मे रत्नत्रय नही रहता है। 'तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारण आदा' इस

व्याख्या —'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाण मुइत्तु अण्णदवियह्मि' रत्नत्रय न वर्त्तते स्वकीयशुद्धात्मान मुक्त्वा अन्याचेतने द्रव्ये। 'तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारण आदा' तस्मात्तत्त्रितयमय आत्मैव निश्चयेन मोक्षस्य कारण भवतीति जानीहि। अथ विस्तर —रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरुचिरूप सम्यग्दर्शन, तस्यैव सुखस्य समस्तविभावेभ्य स्वसवेदनज्ञानेन पृथक् परिच्छेदन सम्यग्ज्ञान, तथैव दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृतिसमस्तापध्यानरूपमनोरथजनितसकल्प–विकल्पजालत्यागेन तत्रैव सुखे रतस्य सन्तुष्टस्य तृप्तस्यैकाकारपरमसमरसीभावेन द्रवीभूतचित्तस्य पुन पुन स्थिरीकरण सम्यक्चारित्रम्। इत्युक्तलक्षण निश्चयरत्नत्रय शुद्धात्मान विहायान्यत्र घटपटादिवहिर्द्रव्ये न वर्त्तते यतस्तत कारणादभेदनयेनानेकद्रव्यात्मकैकपानकवत्तदेव सम्यग्दर्शन, तदेव सम्यग्ज्ञान, तदेव सम्यक्चारित्र, तदेव स्वात्मतत्त्वमित्युक्तलक्षणं निजशुद्धात्मानमेव मुक्तिकारण जानीहि ॥ ४० ॥

एव प्रथमस्थले सूत्रद्वयेन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूप सक्षेपेण व्याख्याय तदनन्तर द्वितीयस्थले गाथाषट्कपर्यन्त सम्यक्त्वादित्रयं क्रमेण विवृणोति। तत्रादौ सम्यक्त्वमाह :—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्त रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्क णाण सम्म खु होदि सदि जह्मि ॥४१॥

कारण इस रत्नत्रयमय आत्मा को ही निश्चय से मोक्ष का कारण जानो। इसका विस्तृत वर्णन—राग आदि विकल्प रहित, चित्चमत्कार भावना से उत्पन्न, मधुर रस के आस्वाद रूप सुख का धारक मैं हू' इस प्रकार निश्चय रुचि सम्यग्दर्शन है और स्वसवेदन ज्ञान द्वारा उसी सुख का राग आदि समस्त विभावो से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है। इसी प्रकार देखे, सुने तथा अनुभव किये हुए जो भोग आकाक्षा आदि समस्त दुर्ध्यानरूप मनोरथ से उत्पन्न हुए संकल्प–विकल्प जाल के त्याग द्वारा, उसी सुख मे रत सन्तुष्ट—तृप्त तथा एकाकार रूप परम समता भाव से द्रवीभूत (भीगे) चित्त का पुन पुन स्थिर करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले जो रत्नत्रय है,वे शुद्ध आत्मा के सिवाय अन्य घट, पट आदि बाह्य द्रव्यो मे नही रहते, इस कारण अभेद से अनेक द्रव्यमयी एक पेय (बादाम, सौंफ, मिश्री, मिरच आदि रूप ठंडाई) के समान, वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वह आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, वह आत्मा ही सम्यक्चारित्र है तथा वही निज आत्मतत्त्व है। इस प्रकार कहे हुए लक्षण वाले निज शुद्ध-आत्मा का ही मुक्ति को कारण जानो ॥ ४० ॥

इस प्रकार प्रथम स्थल मे दो गाथाओ द्वारा सक्षेप से निश्चय मोक्ष-मार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग का स्वरूप व्याख्यान करके अब आचार्य दूसरे स्थल मे छ: गाथाओ तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यकचारित्र को क्रम से वर्णन करते हैं। उनमे प्रथम ही सम्यग्दर्शन को कहते :—

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपं आत्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् ॥४१॥

व्याख्या —'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं' वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धजीवादितत्त्वविषये चलमलिनागाढरहितत्वेन श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धि सम्यग्दर्शनम् । 'रूवमप्पणो तं तु' तच्चाभेदनयेन रूप स्वरूप तु, पुन. कस्य ? आत्मन आत्मपरिणाम इत्यर्थ । तस्य सामर्थ्यं माहात्म्यं दर्शयति । "दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि" यस्मिन् सम्यक्त्वे सति ज्ञान सम्यग् भवति स्फुटं । कथम्भूत सम्यग्भवति ? "दुरभिणिवेसविमुक्कं" चलितप्रतिपत्ति गच्छततृणस्पर्शशुक्तिकाशकलरजतविज्ञानशहशै सशय-विभ्रमविमो है—

इतो विस्तर.—सम्यक्त्वे सति ज्ञान सम्यग्भवतीति यदुक्त तस्य विवरण क्रियते । तथाहि—गौतमाग्निभूतिवायुभूतिनामानो विप्रा पञ्चपञ्चशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टय, ज्योतिष्कव्याकरणादिषडङ्गानि, मनुस्मृत्याद्यष्टादशस्मृतिशास्त्राणि तथा भारताद्यष्टादशपुराणानि मीमांसान्यायविस्तर इत्यादिलौकिकसर्वशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेपा

गाथार्थ .—जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना, सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर (संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय इन तीनो) दुरभिनिवेशो से रहित सम्यग्ज्ञान होता है ॥ ४१ ॥

वृत्त्यर्थ —'जीवादीसद्दहण सम्मत्त' वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शुद्ध जीव आदि तत्त्वो मे, चल-मलिन-अगाढ रहित श्रद्धान, रुचि, निश्चय अथवा 'जो जिनेन्द्र ने कहा वही है, जिस प्रकार से जिनेन्द्र ने कहा है उसी प्रकार है' ऐसी निश्चय रूप बुद्धि सम्यग्दर्शन है, 'रूवमप्पणो तं तु' वह सम्यग्दर्शन अभेद नय से स्वरूप है, किसका स्वरूप है ? आत्मा का, आत्मा का परिणाम है। उस सम्यग्दर्शन के सामर्थ्य अथवा महात्म्य को दिखाते है-'दुरभिणिवेसविमुक्कं णाण सम्म खु होदि सदि जह्मि' जिस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान सम्यक् हो जाता है। 'सम्यक' किस प्रकार होता है ? 'दुरभिणिवेसविमुक्क' (यह पुरुष है या काठ का ठूंठ है, ऐसे दो कोटि रूप) चलायमान संशयज्ञान, गमन करते हुए तृण आदिक के स्पर्श होने पर, यह निश्चिय न होना कि किसका स्पर्श हुआ—ऐसा विभ्रम (अनध्यवसाय) ज्ञान तथा सीप के टुकडे मे चांदी का ज्ञान—ऐसा विमोह (विपर्यय) ज्ञान, इन तीनो दोषो स (दूषित ज्ञानो से) रहित हो जाने से वह ज्ञान सम्यक् हो जाता है।

विस्तार से वर्णन—'सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है' यह जो कहा गया है, उसका विवरण कहते हैं—पाचसौ—पाचसौ ब्राह्मणो के पढाने वाले गौतम, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन ब्राह्मण विद्वान् चारो वेद—ज्योतिष्क—व्याकरण आदि छहो अंग, मनुस्मृति आदि अठारह स्मृति ग्रन्थ, महाभारत आदि अठारह पुराण तथा मीमासा न्यायविस्तर आदि समस्त लौकिक शास्त्रो के ज्ञाता थे तो भी उनका ज्ञान, सम्यक्त्व के बिना मिथ्याज्ञान ही था। परन्तु जब वे प्रसिद्ध कथा के

हि ज्ञान सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव । यदा पुन॰ प्रसिद्धकथान्यायेन श्रीवीरवर्द्धमान-स्वामितीर्थकरपरमदेवसमवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रादेवागमभाषया दर्शनचारित्रमो-हनीयोपशमक्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिवि-शेषेण मिथ्यात्वं विलय गत तदा तदेव मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानं जातम् । ततश्च 'जयति भगवान्' इत्यादि नमस्कारं कृत्वा जिनदीक्षा गृहीत्वा कचलोचानन्तरमेव चतुर्ज्ञानसप्तर्द्धिस-म्पन्नास्त्रयोऽपि गणधरदेवा सजाता । गौतमस्वामी भव्योपकारार्थं द्वादशाङ्गश्रुतरचना कृतवान्, पश्चान्निश्चयरत्नत्रयभावनाबलेन त्रयोऽपि मोक्ष गता । शेषा पञ्चदशशतप्र-मितब्राह्मणा जिनदीक्षा गृहीत्वा यथासम्भव स्वर्ग मोक्ष च गता॰ । अभव्यसेन पुनरेकाद-शाङ्गधारकोऽपि सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानो सञ्जात इति । एव सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञान-तपश्चरणव्रतोपशमध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति । तदभावे विषयुक्तदुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम् ।

तच्च सम्यक्त्व पञ्चविंशतिमलरहित भवति तद्यथा—देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रय भवति । तत्र क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहित वीतरागसर्वज्ञदेवता-स्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्त रागद्वे-

---

अनुसार श्री महावीर स्वामी तीर्थंकर परम देव के समवसरण मे मानस्तभ के देखने मात्र से ही आगम भाषा मे दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम से और अध्यात्म भाषा मे निज शुद्धआत्मा के सन्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धियो के विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया, तब उनका वही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया । सम्यग्ज्ञान होते ही 'जयति भगवान्' इत्यादि रूप से भगवान् को नमस्कार करके, श्री जिनेन्द्री दीक्षा धारण करके केशलोच के अनन्तर ही मति-श्रुत अवधि और मन पर्यय इन चार ज्ञान तथा सात ऋद्धि से धारक होकर तीनो ही गणधर हो गये । गौतम-स्वामी ने भव्यजीवो के उपकार के लिये द्वादशाङ्गश्रुत की रचना की, फिर वे तीनो ही निश्चयरत्नत्रय की भावना के बल से मोक्ष को प्राप्त हुए वे पद्रह सौ ब्राह्मण शिष्य मुनि-दीक्षा लेकर यथासम्भव स्वर्ग या मोक्ष मे गये । ग्यारह अङ्गो का पाठी भी अभव्यसेन मुनि सम्यक्त्व के विना मिथ्याज्ञानी ही रहा । इस प्रकार सम्यक्त्व के माहात्म्य से मिथ्याज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम, (समता, कषायो की मदता) ध्यान आदि वे सब सम्यक् हो जाते है । विष मिले हुए दुग्ध के समान, सम्यक्त्व के विना ज्ञान तपश्चरणादि सब वृथा हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

वह सम्यक्त्व पच्चीस दोषो से रहित होता है । उन पच्चीस दोषो से देवमूढता, लोकमूढता तथा समय-मूढता है । ये तीन मूढता हैं । क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषरहित' अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुण सहित वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को न जानता हुआ जो व्यक्ति ख्याति-पूजा-लाभ-रूप-लावण्य-सौभाग्य-पुत्र

पोपहतार्त्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवता-मूढत्वं भण्यते। न च ते देवा किमपि फलं प्रयच्छन्ति। कथमिति चेत्? रावणेन राम-स्वामिलक्ष्मीधरविनाशार्थं बहुरूपिणी विद्या साधिता, कौरवैस्तु पाण्डवनिर्मूलनार्थं कात्या-यनी विद्या साधिता, कंसेन च नारायणविनाशार्थं बह्व्योऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम्। तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता [1]नानुकूलिता-स्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति। अथ लोकमूढ त्वं कथयति। गङ्गादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणाग्निप्रवेशमरणगो-ग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयम्। अन्यदपि लौकिकपारमार्थिकहेयोपादेयस्वपरज्ञानरहितानामज्ञानिजनानां प्रवाहेन यद्धर्मानुष्ठानं तदपि लोकमूढत्वं विज्ञेयमिति। अथ समयमूढत्वमाह। अज्ञानिजनचित्तचम-त्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागमलि-ङ्गिनां भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वमिति। एव-मुक्तलक्षणं मूढत्रयं सरागसम्यग्दृष्ट्यवस्थायां परिहरणीयमिति। त्रिगुप्तावस्थालक्षण-वीत-

---

स्त्री-राज्य आदि सम्पदा की प्राप्ति के लिये, रागद्वेष युक्त तथा आर्त्त रौद्र ध्यानरूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल चंडिका आदि मिथ्यादृष्टि देवों की, आराधना करता है, उस आराधना को 'देवमूढता' कहते हैं। वे देव कुछ भी फल नहीं देते। प्रश्न—फल कैसे नहीं देते? उत्तर—रामचन्द्र और लक्ष्मण के विनाश के लिये रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, कौरवों ने पांडवों का सत्तानाश करने के लिये कात्यायनी विद्या सिद्ध की, तथा कंस ने कृष्ण नारायण के नाश के लिये बहुत सी विद्याओं की आरा-धना की, परन्तु उन विद्याओं द्वारा रामचन्द्र, पांडव और कृष्णनारायण का कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ रामचन्द्र आदि ने मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना नहीं की, तो भी निर्मल सम्यग्दर्शन से उपार्जित पूर्व भव के पुण्य द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये। अब लोकमूढता को कहते हैं—'गंगा आदि नदीरूप तीर्थों में स्नान, समुद्र में स्नान, प्रातःकाल में स्नान, जल में प्रवेश करके मरना, अग्नि में जलकर मरना गाय की पूंछ आदि को ग्रहण करके मरना, पृथिवी—अग्नि और वट वृक्ष आदि की पूजा करना, ये सब पुण्य के कारण हैं' इस प्रकार जो कहते हैं उसको लोकमूढता जानना चाहिए। लौकिक-पारमार्थिक, हेय उपादेय व स्वपरज्ञान रहित अज्ञानी जनों के कुल परिपाटी से आया हुआ और अन्य भी जो धर्म आचरण है उसको भी लोकमूढता जाननी चाहिए। अब समयमूढता (शास्त्रमूढता या धर्ममूढता) को कहते हैं—अज्ञानी लोगों को चित्त-चमत्कार (आश्चर्य) उत्पन्न करने वाले ज्योतिष, मंत्रवाद आदि को देखकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए धर्म को छोड़कर, मिथ्यादेवों को, मिथ्या-आगम को और खोटा तप करने वाले कुलिंगियों को भय-वांछा—स्नेह और लोभ से धर्म के लिये प्रणाम, विनय,

---

१ 'आराधना न कृता' इतिपाठान्तरं।

रागसम्यक्त्वप्रस्तावे पुनर्निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैव देव इति निश्चयबुद्धिर्देवमूढरहितत्व विज्ञेयम् । तथैव च मिथ्यात्वरागादिमूढभावत्यागेन स्वशुद्धात्मन्येवावस्थान लोकमूढरहितत्व विज्ञेयम् । तथैव च समस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परूपपरभावत्यागेन निर्विकारतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणपरमसमरसीभावेन तस्मिन्नेव सम्यग्रूपेणायन गमन परिणमनं समयमूढरहितत्व बोद्धव्यम् । इति मूढत्रय व्याख्यातम् ।

अथ मदाष्टस्वरूप कथ्यते । विज्ञानैश्वर्यज्ञानतप कुलबलजातिरूपसञ्ज मदाष्टक सरागसम्यग्दृष्टिभिस्त्याज्यमिति । वीतरागसम्यग्दृष्टीना पुनर्मानकषायादुत्पन्नमदमात्सर्यादिसमस्तविकल्पजालपरिहारेण ममकाराहङ्काररहिते स्वशुद्धात्मनि भावनैव मदाष्टकत्याग इति । ममकाराहङ्कारलक्षण कथयति । कर्मजनितदेहपुत्रकलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तत्रैवाभेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽह राजाहमित्यहङ्कारलक्षणमिति ।

अथानायतनषट्क कथयति । मिथ्यादेवो, मिथ्यादेवाराधका, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी, मिथ्यागमो, मिथ्यागमधरा पुरुषाश्चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्क सरागसम्यग्दृष्टीना त्याज्य भवतीति । वीतरागसम्यग्दृष्टीना पुन समस्तदोषायतनभूताना मिथ्यात्वविषयकषायरूपायतनाना परिहारेण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणायतनभूते स्वशुद्धात्मनि निवास एवानायतनसेवापरिहार इति । अनायतनशब्दस्यार्थ कथ्यते । सम्यक्त्वादिगुणानामायतन गृहमावास

पूजा, सत्कार आदि करना, सो 'समयमूढता' है । इन उक्त तीन मूढताओ को सरागसम्यग्दृष्टि अवस्था मे त्यागना चाहिए । मन—वचन—काय—गुप्ति रूप अवस्था वाले वीतराग सम्यक्त्व के प्रकरण मे, अपना निरजन तथा निर्दोष परमात्मा ही देव है' ऐसी निश्चय बुद्धि ही देवमूढता का अभाव जानना चाहिए । तथा मिथ्यात्व राग आदि रूप मूढभावो का त्याग करने से जो निज शुद्ध-आत्मा मे स्थिति है, वही लोकमूढता से रहितता है । इसी प्रकार सम्पूर्ण शुभ-अशुभ सकल्प-विकल्प रूप परभावो के त्याग से तथा निर्विकार—वास्तविक—परमानन्दमय परम—समता-भाव से निज शुद्ध-आत्मा मे ही जो सम्यक् प्रकार से अयन, गमन अथवा परिणमन है उसको समयमूढता का त्याग समझना चाहिए । इस प्रकार तीन मूढता का व्याख्यान हुआ ।

अब आठ मदो का स्वरूप कहते है—विज्ञान (कला) १, ऐश्वर्य (धनसम्पत्ति) २, ज्ञान ३, तप ४, कुल ५, बल ६, जाति ७ और रूप ८, इन आठो सबंधी मदो का त्याग सरागसम्यग्दृष्टियो को करना चाहिए । मान कषाय से उत्पन्न होने वाले मद मात्सर्य (ईर्ष्या) आदि समस्त विकल्प-समूह उनके त्याग द्वारा, ममकार-अहकार से रहित निज शुद्ध-आत्मा मे भावना, वीतराग सम्यग्दृष्टियो के आठ मदो का त्याग है । ममकार तथा अहकार का लक्षण हैं—कर्मजनित देह, पुत्र-स्त्री आदि मे 'यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुत्र' इस प्रकार की जो बुद्धि है वह ममकार है और उन शरीर आदि मे अपनी

आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विपक्षभूतमनायतनमिति ।

अत्र· पर शङ्काद्यष्टमलत्याग कथयति । नि शङ्काद्यष्टगुणप्रतिपालनमेव शङ्काद्यष्टमलत्यागो भण्यते । तद्यथा—रागादिदोपा अज्ञान वाऽसत्यवचनकारण तदुभयमपि वीतरागसर्वज्ञाना नास्ति, तत कारणात्तत्प्रणीते हेयोपादेयतत्त्वे मोक्षे मोक्षमार्गे च भव्यै शङ्का सशय सन्देहो न कर्त्तव्य । तत्र शङ्कादिदोषपरिहारविषये पुनरञ्जनचौरकथा प्रसिद्धा । तत्रैव विभीपणकथा । तथाहि—सीताहरणप्रघट्टके रावणस्य रामलक्ष्मणाभ्या सह सग्रामप्रस्तावे विभीपणेन विचारित रामस्तावदष्टमबलदेवो लक्ष्मणश्चाष्टमो वासुदेवो रावणश्चाष्टम प्रतिवासुदेव इति । तस्य च प्रतिवासुदेवस्य वासुदेवहस्तेन मरणमिति जैनागमे कथितमास्ते, तन्मिथ्या न भवतीति नि शङ्को भूत्वा, त्रैलोक्यकण्टक रावणं स्वकीयज्येष्ठभ्रातर त्यक्त्वा, त्रिंशदक्षौहिणीप्रमितचतुरङ्गबलेन सह स रामस्वामिपार्श्वे गत इति । तथैव देवकीवसुदेवद्वयं नि शङ्क ज्ञातव्यम् । तथाहि—यदा देवकीबालकस्य मारणनिमित्त कसेन प्रार्थना कृता तदा ताभ्या पर्यालोचितं मदीय पुत्रो नवमो वासुदेवो भविष्यति तस्य हस्तेन जरासिन्धुनाम्नो नवमप्रतिवासुदेवस्य कसस्यापि मरणं भविष्यतीति जैनागमे भणित तिष्ठ-

---

आत्मा से भेद न मानकर जो 'मैं गोरा हू, मोटा हूँ, राजा हू' इस प्रकार मानना सो अहकार का लक्षण है ।

अब छ अनायतनो का कथन करते है–मिथ्यादेव १. मिथ्यादेवो के सेवक २, मिथ्यातप ३, मिथ्यातपस्वी ४, मिथ्याशास्त्र ५ और मिथ्याशास्त्रो के धारक ६, इस प्रकार के छ अनायतन सराग-सम्यग्दृष्टियो को त्याग करने चाहिये । वीतराग सम्यग्दृष्टी जीवो के तो, सम्पूर्ण दोपो के स्थानभूत मिथ्यात्व-विपय-कपायरूप आयतनो के त्यागपूर्वक, केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणो के स्थानभूत निज शुद्ध-आत्मा मे निवास ही, अनायतनो की सेवा का त्याग है । अनायतन शब्द के अर्थ को कहते हैं-सम्यक्त्व आदि गुणो का आयतन घर-आवास-आश्रय (आधार) करने का निमित्त, उसको 'आयतन' कहते हैं और उससे विपरीत 'अनायतन' है ।

अब इसके अनन्तर शका आदि आठ दोषो के त्याग का कथन करते है—नि शक आदि आठ गुणो का जो पालन करना है, वही शकादि आठ दोषो का त्याग कहलाता है । वह इस प्रकार है—राग आदि दोप तथा अज्ञान ये दोनो असत्य बोलने मे कारण है और ये दोनो ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव मे नही है, इस कारण श्री जिनेन्द्र देव से निरूपित हेयोपादेयतत्त्व मे (यह त्याज्य है, यह ग्राह्य है, इस प्रकार के तत्त्व मे), मोक्ष मे और मोक्षमार्ग मे भव्य जीवो को शका, सशय या सदेह नही करना चाहिए यहां शंका दोप के त्याग के विपय मे अजन चोर की कथा शास्त्रो मे प्रसिद्ध है विभीषण की कथा भी इस प्रकरण मे प्रसिद्ध है । तथा—सीता के हरण के प्रसंग मे जब रावण का राम लक्ष्मण के साथ युद्ध करने का अवसर आया, तब विभीषण ने विचार किया कि रामचन्द्र तो आठवें बलदेव हैं और

तीति, तथैवातिमुक्तभट्टारकैरपि कथितमिति निश्चित्य कसाय स्वकीय बालक दत्तम् । तथा शेषभव्यैरपि जिनागमे शका न कर्तव्येति । इद व्यवहारेण नि शंक्तित्व व्याख्यानम् । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनि शकागुणस्य सहकारित्वेनेहलोकपरलोकात्राणागुप्तिमरण-व्याधिवेदनाकस्मिक अभिधानभयसप्तक मुक्त्वा घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि शुद्धोपयोगलक्ष-णनिश्चयरत्नत्रयभावनैव निशकगुणो ज्ञातव्य इति ॥ १ ॥

अथ निष्काक्षितागुणं कथयति । इहलोकपरलोकाशारूपभोगाकाक्षानिदानत्यागेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिरूपमोक्षार्थं दानपूजातपश्चरणाद्यनुष्ठानकरणं निष्काक्षागुणो भण्यते । तथानन्तमतीकन्याकथा प्रसिद्धा । द्वितीया च सीतामहादेवीकथा । सा कथ्यते । सीता यदा लोकापवादपरिहारार्थ दिव्ये शुद्धा जाता तदा रामस्वामिना दत्त पट्टमहादेवी-विभूतिपद त्यक्त्वा सकलभूषणानगारकेवलिपादमूले कृतान्तवक्रादिराजभिस्तथा बहुराज्ञी-भिश्च सह जिनदीक्षा गृहीत्वा शशिप्रभाधार्मिकासमुदायेन सह ग्रामपुरखेटकादिविहारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनया द्विषष्टिवर्षाणि जिनसमयप्रभावना कृत्वा पश्चादवसाने त्रयस्त्रिंश-द्दिवसपर्यन्तं निर्विकारपरमात्मभावनासहितं सन्यास कृत्वाऽच्युताभिधानषोडशस्वर्गे प्रती-

---

लक्ष्मण आठवे नारायण है तथा रावण आठवा प्रतिनारायण है। प्रतिनारायण का मरण नारायण के हाथ से होता है, ऐसा जैन शास्त्रो मे कहा गया है, वह मिथ्या नही हो सकता, इस प्रकार नि शङ्क होकर अपने बडे भाई तीनलोक के कटक 'रावण' को छोडकर, अपनी तीस अक्षौहिणी चतुरग (हाथी घोडा, रथ, पयादे) सेना सहित रामचन्द्र के समीप चला गया। इसी प्रकार देवकी तथा वसुदेव भी नि शक जानने चाहियें।

जब कस ने देवकी के बालक को मारने के लिये प्रार्थना की, तब देवकी और वसुदेव ने विचार किया कि हमारा पुत्र नवमा नारायण होगा और उसके हाथ से जरासिंधु नामक नवमे प्रतिनारायण का और कस का भी मरण होगा, यह जैनागम मे कहा है और श्री भट्टारक अतिमुक्त स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है, इस प्रकार निश्चय करके कस को अपना बालक देना स्वीकार किया। इसी प्रकार अन्य भव्य जीवो को भी जैन—आगम मे शंका नही करनी चाहिये। यह व्यवहार नय से नि शङ्कित अङ्ग का व्याख्यान किया। निश्चय नय से व्यवहार नि शंक गुण की सहायता से, इस लोक का भय १, परलोक का भय २, अरक्षा का भय ३, अगुप्ति (रक्षा स्थान के अभाव का) भय, ४, मरण भय ५, व्याधि–वेदना भय ६, आकस्मिक भय ७। इन सात भयो को छोडकर घोर उपसर्ग तथा परीषहो के आजाने पर भी, शुद्ध उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना को ही निशकित गुण जानना चाहिये।

अब निष्काक्षित गुण को कहते हैं—इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी आशारूप भोगाकाक्षा-निदान के त्याग द्वारा केवल ज्ञान आदि अनन्त गुणो की प्रकटतारूप मोक्ष के लिये दान–पूजा–तपश्चरण आदि करना, वही निष्काक्षित गुण कहलाता है। इस गुण मे अनन्तमती की कथा प्रसिद्ध है। दूसरी

न्त्ना याता । ततश्च निर्मलसम्यक्त्वफलं दृष्ट्वा धर्मानुरागेण नरके रावणलक्ष्मणयो सबोधनं कृत्वेदानी स्वर्गे तिष्ठति । अग्रे स्वर्गादागत्य सकलचक्रवर्ती भविष्यति । तौ च रावणलक्ष्मीधरौ तस्य पुत्रौ भविष्यत । ततश्च तीर्थंकरपादमूले पूर्वभवान्तरं दृष्ट्वा पुत्रद्वयेन सह परिवारेण च सह जिनदीक्षा गृहीत्वा भेदाभेदरत्नत्रयभावनया पञ्चानुत्तरविमाने त्रयोप्यहमिन्द्रा भविष्यन्ति । तस्मादागत्य रावणस्तीर्थंकरो भविष्यति, सीता च गणधर इति, लक्ष्मीधरो धातकीखण्टद्वीपे तीर्थंकरो भविष्यति । इति व्यवहारनिष्कांक्षितागुणो विज्ञातव्य । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिष्काङ्क्षागुणस्य सहकारित्वेन दृष्ट-श्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगत्यागेन निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपारमार्थिकस्वात्मोत्थसुखामृतरसे चित्तसन्तोष स एव निष्कांक्षा गुण इति ॥ २ ॥

अथ निर्विचिकित्सागुण कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयाराधकभव्यजीवाना दुर्गन्धबीभत्सादिकं दृष्ट्वा धर्मबुद्ध्या कारुण्यभावेन वा यथायोग्य विचिकित्सापरिहरण द्रव्यनिर्विचिकित्सागुणो भण्यते । यत्पुनर्जैनसमये सर्व समीचीन पर किन्तु वस्त्रा[1]प्रावरण जलस्ना-

---

सीतादेवी की कथा है। उसको कहते है—लोक की निन्दा को दूर करने के लिये सीता अग्नि-कुण्ड मे प्रविष्ट होकर जब निर्दोष सिद्ध हुई, तब भी रामचन्द्र द्वारा दिए गए पट्ट-महारानी पद को छोडकर केवलज्ञानी श्री सकलभूपण मुनि के पादमूल मे, कृतान्तवक्ष आदि राजाओ तथा बहुत सी रानियो के साथ, जिनदीक्षा ग्रहण करके शशिप्रभा आदि आर्यिकाओ के समूह सहित ग्राम, पुर, खेटक आदि मे विहार द्वारा भेदाभेदरूप रत्नत्रय की भावना मे बासठ वर्ष तक जिनमत की प्रभावना करके, अन्त्य समय मे तैंतीस दिन तक निर्विकार परमात्मा के ध्यानपूर्वक समाधि-मरण करके अच्युत नामक सोहलवे स्वर्ग मे प्रतीन्द्र हुई। वहा निर्मल सम्यग्दर्शन के फल को देखकर धर्म के अनुराग से नरक मे जाकर सीता ने रावण लक्ष्मण को सम्बोधिता। सीता अब स्वर्ग मे है। आगे सीता का जीव स्वर्ग से आकर सकल चक्रवर्ती होगा और वे दोनो रावण तथा लक्ष्मण के जीव उसके पुत्र होगे। पश्चात् तीर्थंकर के पादमूल मे अपने पूर्वभवो को देखकर, परिवार सहित दोनों पुत्र तथा सीता के जीव जिनदीक्षा ग्रहण करके, भेदाभेदरत्नत्रय की भावना मे वे तीनो पच-अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र होगे। वहा से आकर रावण तीर्थंकर होगा और सीता का जीव गणधर होगा। लक्ष्मण धातकीखण्ड द्वीप मे तीर्थंकर होगे। इस प्रकार व्यवहार निष्कांक्षितगुण का स्वरूप जानना चाहिये। उसी व्यवहार निष्कांक्षा गुण की सहायता से देखे-सुने-अनुभव किये हुए पाचो इंद्रिय-सम्बन्धी भोगो के त्याग से तथा निश्चय-रत्नत्रय की भावना मे उत्पन्न हुए पारमार्थिक व निज-आत्मिक सुखरूपी अमृतरस मे चित्त का संतोष होना, वही निश्चय से निष्कांक्षागुण है ॥ २ ॥

अब निर्विचिकित्सा गुण को कहते है। भेद-अभेदरूप रत्नत्रय के आराधक भव्य जीवो की दुर्गन्धि तथा बुरी आकृति आदि देखकर धर्मबुद्धि से अथवा करुणाभाव से यथा योग्य विचिकित्सा

---

[1] 'वस्त्राआवरण' इत्यादि पाठ.

नादिक च न कुर्वन्ति तदेव दूषणमित्यादिकुत्सितभावस्य विशिष्टविवेकबलेन परिहरणं सा भावनिर्विचिकित्सा भण्यते । अस्य व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य विषय उद्दायनमहाराजकथा रुक्मिणीमहादेवीकथा चागमप्रसिद्धा ज्ञातव्येति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारनिर्विचिकित्सागुणस्य बलेन समस्तद्वेषादिविकल्परूपकल्लोलमालात्यागेन निर्मलात्मानुभूतिलक्षणे निजशुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सागुण इति ॥३॥

इत परं अमूढदृष्टिगुणं कथयति । वीतरागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद्बहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं धातुवादखन्यवादहरमेखलक्षुद्रविद्याव्यन्तरविकुर्वणादिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्ध्या तत्र रुचिं भक्तिं न कुरुते स एव व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते । तत्र चोत्तरमथुरायां उदुरुलिभट्टारकरेवतीश्राविकाचन्द्रप्रभनामविद्याधरब्रह्मचारिसम्बन्धिनीकथा प्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारामूढदृष्टिगुणस्य प्रसादेनान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वनिश्चये जाते सति समस्तमिथ्यात्वरागादिशुभाशुभसंकल्पविकल्पेष्टात्मबुद्धिमुपादेयबुद्धिं हितबुद्धिं ममत्वभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिरूपेण विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजात्मनि यन्निश्चलावस्थानं तदेवामूढदृष्टित्वमिति । सङ्कल्पविकल्पलक्षणं कथ्यते । पुत्रकलत्रादौ बहिर्द्रव्ये ममेदमिति कल्पना सङ्कल्पः, अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषाद-

---

(ग्लानि) को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है। जैन मत मे सब अच्छी २ बाते हैं, परन्तु वस्त्र के आवरण से रहितता अर्थात् नग्नपना और जलस्नान आदि का न करना यही दूषण हैं' इत्यादि बुरे भावो को विशेष ज्ञान के बल से दूर करना वह भाव—निर्विचिकित्सा कहलाती है। इस व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण को पालने के विषय मे उद्दायन राजा तथा रुक्मिणी (कृष्ण की पट्टराणी) की कथा शास्त्र मे प्रसिद्ध जाननी चाहिये। इसी व्यवहार निर्विचिकित्सा गुण के बल से समस्त राग—द्वेष आदि विकल्परूप तरङ्गो का त्याग करके, निर्मल आत्मानुभव रूप निजशुद्ध—आत्मा में जो स्थिति वही निश्चय निर्विचिकित्सागुण है।। ३ ।।

अब अमूढदृष्टि गुण को कहते है। वीतराग सर्वज्ञ देव—कथित शास्त्र से बहिरभूत कुदृष्टियो के द्वारा बनाये हुए तथा अज्ञानियो के चित्त मे विस्मय को उत्पन्न करने वाले रसायन शास्त्र, खन्यवाद (खानिविद्या), हरमेखल, क्षुद्रविद्या, व्यन्तर विकुर्वणादि शास्त्रो को देखकर तथा सुनकर, जो कोई मूढभाव द्वारा धर्म—बुद्धि से उनमे प्रतीति तथा भक्ति नही करता, उसी को व्यवहार से 'अमूढदृष्टि' कहते है। इस विषय मे, उत्तर मुथरा मे उदुरुलि भट्टारक तथा रेवती श्राविका और चन्द्रप्रभ नामक विद्याधर ब्रह्मचारी सम्बन्धी कथाये शास्त्रो मे प्रसिद्ध है। इसी व्यवहार अमूढ दृष्टि गुण के प्रसाद से आत्म-तत्त्व और शारीरादिक बहिर्तत्त्व का निश्चय हो जाने पर सम्पूर्ण मिथ्यात्व-राग आदि तथा शुभ-अशुभ सकल्प-विकल्पो से इष्टबुद्धि-आत्मबुद्धि-उपादेयबुद्धि-हितबुद्धि और ममत्वभाव को छोड़कर, मन-वचन-काय-गुप्ति के द्वारा विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभावमयी निज आत्मा मे निश्चल ठहरना, निश्चय

कारण विकल्प इति । अथवा वस्तुवृत्त्या सङ्कल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्याय ।४।

अथोपगूहनगुणं कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्ग स्वभावेन शुद्ध एव तावत्, तत्राज्ञानिजननिमित्तेन तथैवाशक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैशुन्य दूषणमपवादो दुष्प्रभावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्यार्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्धर्मार्थं दोषस्य झम्पन निवारण क्रियते तद्व्यवहारनयेनोपगूहन भण्यते । तत्र मायाब्रह्मचारिणा पार्श्वभट्टारकप्रतिमालग्नरत्नहरणे कृते सत्युपगूहनविषये जिनदत्तश्रेष्ठिकथा प्रसिद्धेति । अथवा रुद्रजनन्या ज्येष्ठासंज्ञाया लोकापवादे जाते सति यद्दोषझम्पन कृत तत्र चेलिनीमहादेवीकथेति । तथैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मन प्रच्छादका ये मिथ्यात्वरागादिदोषास्तेषा तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप यद्ध्यान तेन प्रच्छादनं विनाशन गोपन झम्पनं तदेवोपगूहनमिति ॥ ५ ॥

अथ स्थितीकरण कथयति । भेदाभेदरत्नत्रयधारकस्य चातुर्वर्णसङ्घस्य मध्ये यदा कोऽपि दर्शनचारित्रमोहोदयेन दर्शन ज्ञान चारित्र वा परित्यक्तु वाञ्छति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्या धर्मश्रवणेन वा अर्थेन वा सामर्थ्येन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते

अमूढदृष्टि गुण है। सकल्प-विकल्प के लक्षण कहते हैं–पुत्र, स्त्री आदि वाह्य पदार्थों मे 'ये मेरे हैं' ऐसी कल्पना, सकल्प है। अंतरङ्ग मे 'मैं सुखी हू, मैं दु खी हू', इस प्रकार हर्ष-विषाद करना, विकल्प है। अथवा सकल्प का वास्तव मे क्या अर्थ है? वह विकल्प ही है अर्थात् सकल्प विकल्पकी ही पर्याय है ४

अब उपगूहन गुण को कहते हैं। भेद–अभेद रत्नत्रय की भावनारूप मोक्षमार्ग स्वभाव से ही शुद्ध है तथापि उसमें जब कभी अज्ञानी मनुष्य के निमित्त से अथवा धर्मपालन मे असमर्थ पुरुषो के निमित्त से जो धर्म की चुगली, निन्दा, दूषण तथा अप्रभावना हो तब शास्त्र के अनुकूल, शक्ति के अनुसार, धन से अथवा धर्मोपदेश से, धर्म के लिये जो उसके दोषो का ढकना तथा दूर करना है, उसको व्यवहारनय से उपगूहन गुण कहते हैं। इस विषय मे कथा–एक कपटी ब्रह्मचारी ने पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा मे लगे हुए रत्न को चुराया। तब जिनदत्त सेठ ने जो उपगूहन किया, वह कथा शास्त्रो मे प्रसिद्ध है। अथवा रुद्र की ज्येष्ठा नामक माता की लोकनिन्दा होने पर, उसके दोष ढकने मे मे चेलिनी महारानी की कथा शास्त्र प्रसिद्ध है। इस प्रकार व्यवहार उपगूहन गुण की सहायता से अपने निरजन निर्दोष परमात्मा को आच्छादन करने वाले मिथ्यात्व–राग आदि दोषो को, उसी परमात्मा मे सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप ध्यान के द्वारा ढकना, नाशकरना, छिपाना तथा झम्पना वही निश्चय से उपगूहन है ॥ ५ ॥

अब स्थितिकरण गुण को कहते हैं। भेद अभेद रत्नत्रय के धारक (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) चार प्रकार के सघ मे से यदि कोई दर्शन मोहनीय के उदय से दर्शन-ज्ञान को या चारित्र को छोड़ने की इच्छा करे तो यथाशक्ति शास्त्रानुकूल धर्मोपदेश से, धन से या सामर्थ्य से या अन्य किसी

तद्व्यवहारेण स्थितीकरणमिति । तत्र च पुष्पडालतपोधनस्य स्थिरीकरणप्रस्तावे वारिषेणकुमारकथागमप्रसिद्धेति । निश्चयेन पुनस्तेनैव व्यवहारेण स्थितीकरणगुणेन धर्मदृढत्वे जाते सति दर्शनचारित्रमोहोदयजनितसमस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पजालत्यागेन निजपरमात्मस्वभावभावनोत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादेन तल्लयतन्मयपरमसमरसीभावेन चित्तस्थितीकरणमेव स्थितीकरणमिति ॥ ६ ॥

अथ वात्सल्याभिधानं सप्तमाङ्गं प्रनिपादयति । वाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसंघे वत्से धेनुवत्पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिमस्नेहकरणं तद्व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते । तत्र च हस्तिनागपुराधिपतिपद्मराजसवन्धिना वलिनामदुष्टमन्त्रिणा निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकाकम्पनाचार्यप्रभृतिसप्तशतयतीनामुपसर्गे क्रियमाणे सति विष्णुकुमारनाम्ना निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गाराधकपरमयतिना विकुर्वणर्द्धिप्रभावेण वामनरूपं कृत्वा वलिमन्त्रिपार्श्वे पादत्रयप्रमाणभूमिप्रार्थनं कृत्वा पश्चादेकः पादो मेरुमस्तके दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरपर्वते तृतीयपादस्यावकाशो नास्तीति वचनछलेन मुनिवात्सल्यनिमित्तं वलिमन्त्री वद्ध इत्येका तावदागमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया च दशपुरनगराधिपतेर्वज्र-

---

उपाय से उस को धर्म मे स्थिर कर देना, वह व्यवहार से स्थितीकरण है । पुष्पडाल मुनि को धर्म मे स्थिर करने के प्रसंग मे वारिषेण की कथा आगम-प्रसिद्ध है । उसी व्यवहार स्थितीकरण गुण मे धर्म मे दृढता होने पर दर्शन-चारित्र-मोहनीय-उदय जनित समस्त मिथ्यात्व-राग आदि विकल्पो के त्याग द्वारा निज-परमात्म-स्वभाव भाव की भावना से उत्पन्न परम-आनन्द सुखामृत के आस्वादरूप परमात्मा मे लीन अथवा परमात्मस्वरूप मे समरसी भाव से चित का स्थिर करना, निश्चय से स्थितीकरण है ॥ ६ ॥

अव वात्सल्य नामक सप्तम अंग का प्रतिपादन करते है । गाय वछडे की प्रीति के सदृश अथवा पाचो इन्द्रियो के विषयो के निमित्तभूत पुत्र स्त्री, सुवर्ण आदि मे स्नेह की भाति, वाह्य-आभ्यन्तर रत्नत्रय के धारक चारो प्रकार के सघ मे स्वभाविक स्नेह करना, वह व्यवहारनय से वात्सल्य कहा जाता है ।

हस्तिनागपुर के राजा पद्मराज के वलि नामक दुष्ट मत्री ने जव निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के आराधक श्री अकपनाचार्य आदि सातसौ मुनियो को उपसर्ग किया तव निश्चय तथा व्यवहार मोक्ष-मार्ग के आराधक विष्णुकुमार महामुनीश्वर ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन रूप को धारण करके वलि नामक दुष्ट मत्री के पास से तीन पग प्रमाण पृथ्वी की याचना की, और जव वलि ने देना स्वीकार किया, तव एक पग तो मेरु के शिखर पर दिया, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर दिया और तीसरे पग को रखने के लिये स्थान नही रहा तव वचनछल मे मुनियो के वात्सल्य निमित्त वलि मन्त्री को वाध लिया । इस विषय मे यह एक आगम-प्रसिद्ध कथा है । दशपुर नगर वज्रकर्ण नामक राजा की दूसरी कथा

कर्णनाम्न उज्जयिनोनगराधिपतिना सिंहोदरमहाराजेन जैनोऽय, मम नमस्कारं न करोतीति मत्वा दशपुरनगरं परिवेष्ट्य घोरोपसर्गे क्रियमाणे भेदाभेदरत्नत्रयभावनाप्रियेण रामस्वामिना वज्रकर्णवात्सल्यनिमित्तं सिंहोदरो बद्ध इति रामायणमध्ये प्रसिद्धेयं वात्सल्यकथेति । निश्चयवात्सल्य पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्तशुभाशुभबहिर्भविषु प्रीति त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसञ्जातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्ग व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमाङ्ग नाम प्रभावनागुण कथयति । श्रावकेन दानपूजादिना तपोधनेन च तपश्श्रुतादिना जैनशासनप्रभावना कर्त्तव्येति व्यवहारेण प्रभावनागुणो ज्ञातव्यः । तत्र पुनरुत्तरमथुराया जिनसमयप्रभावनशीलाया उर्विल्लामहादेव्या. प्रभावननिमित्तमुपसर्गे जाते सति वज्रकुमारनाम्ना विद्याधरश्रमणेनाकाशे जैनरथभ्रमणेन प्रभावना कृतेत्येका आगमप्रसिद्धा कथा । द्वितीया तु जिनसमयप्रभावनाशीलवप्रामहादेवीनामस्वकीयजनन्या निमित्त स्वस्य धर्मानुरागेण च हरिषेणनामदशमचक्रवर्तिना तद्भवमोक्षगामिना जिनसमयप्रभावनार्थमुत्तुङ्गतोरणजिनचैत्यालयमण्डित सर्वभूमितलं कृतमिति रामायणे प्रसिद्धेय कथा ।

इस प्रकार है—उज्जयिनी के राजा सिंहोदर ने 'वज्रकर्ण जैन है और मुझको नमस्कार नही करता है' ऐसा विचार करके, वज्रकर्ण से नमस्कार कराने के लिये दशपुर नगर को घेर कर घोर उपसर्ग किया । तब भेदाभेद रत्नत्रय भावना के प्रेमी श्री रामचन्द्र ने वज्रकर्ण से वात्सल्य के लिये सिंहोदर को बाध लिया । यह वात्सल्य संबंधी कथा रामायण (पद्मपुराण) मे प्रसिद्ध है । इसी व्यवहार-वात्सल्यगुण के सहकारीपने से धर्म मे दृढता हो जाने पर मिथ्यात्व राग आदि समस्त शुभ-अशुभ बाह्य पदार्थों मे प्रीति छोडकर रागादि विकल्पो की उपाधिरहित परमस्वास्थ्य के अनुभव से उत्पन्न सदा आनन्द रूप सुखमय अमृत के आस्वाद के प्रति प्रीति का करना ही निश्चय वात्सल्य है । इस प्रकार सप्तम 'वात्सल्य' अङ्ग का व्याख्यान हुआ । ७ ।

अब अष्टम प्रभावनागुण को कहते हैं । श्रावक को तो दान पूजा आदि द्वारा और मुनि को तप, श्रुत आदि से जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिये । यह व्यवहार से प्रभावना गुण जानना चाहिये इस गुण के पालने मे, उत्तर मथुरा मे जिनमत की प्रभावना करने की अनुरागिणी उरविला महादेवी को प्रभावना सबधी उपसर्ग होने पर, वज्रकुमार नामक विद्याधर श्रमण ने आकाश मे जैन रथ को फिराकर, प्रभावना की, यह एक आगम प्रसिद्ध कथा है । दूसरी कथा यह है—उसी भव से मोक्ष जाने वाले हरिषेण नामक दशवें चक्रवर्ती ने जिनमत की प्रभावनाशील अपनी माता वप्रा महादेवी ने निमित्त और अपने धर्मानुराग मे जिनमत की प्रभावना के लिये ऊंचे तोरण वाले जिनमंदिरो से समस्त पृथ्वीतल

निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावनागुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामरूपपरसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशनमनुभवनमेव प्रभावनेति ॥ ८ ॥

एवमुक्तप्रकारेण मूढत्रयमदाष्टकषडनायतनशङ्काद्यष्टमलरहितं शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। तथैव तेनैव व्यवहारसम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्यं शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति। अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेत् ? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधकभावज्ञापनार्थमिति।

इदानीं येषां जीवानां सम्यग्दर्शनग्रहणात्पूर्वमायुर्बन्धो नास्ति तेषां व्रताभावेऽपि नरनारकादिकुत्सितस्थानेषु जन्म न भवतीति कथयति। 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि। दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ १ ॥' इत ऊर्ध्वं मनुष्यगतिसमुत्पन्नसम्यग्दृष्टेः प्रभावं कथयति। 'ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभव-

---

को भूषित कर दिया। यह कथा रामायण (पद्मपुराण) मे प्रसिद्ध है। इसी व्यवहार प्रभावना गुण के बल से मिथ्यात्व–विषय–कषाय आदि सम्पूर्ण विभाव परिणाम रूप पर समय के प्रभाव को नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षण वाले स्वसंवेदन ज्ञान से, निर्मल ज्ञान–दर्शनरूप स्वभाव–वाली निज शुद्ध–आत्मा का जो प्रकाशन अथवा अनुभवन, वह निश्चय से प्रभावना है ॥ ८ ॥

इस प्रकार तीन मूढता, आठ मद, छः अनायतन और शंका आदि रूप आठ दोषो से रहित तथा शुद्ध जीव आदि तत्त्वार्थों के श्रद्धानरूप सराग–सम्यक्त्व नामक व्यवहारसम्यक्त्व जानना चाहिए। इसी प्रकार उसी व्यवहार-सम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य, शुद्ध–उपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं, ऐसी रुचि रूप तथा वीतराग चारित्र का अविनाभावि वीतराग-सम्यक्त्व नामक निश्चय-सम्यक्त्व जानना चाहिए। प्रश्न-यहा इस व्यवहार-सम्यक्त्व के व्याख्यान मे निश्चय-सम्यक्त्व का वर्णन क्यो किया गया ? उत्तर-व्यवहार सम्यक्त्व से निश्चय-सम्यक्त्व साधा (सिद्ध किया) जाता है, (व्यवहार-सम्यक्त्व साधक और निश्चय-सम्यक्त्व साध्य) इस साध्यसाधक भाव को बतलाने के लिये किया गया है।

अब जिन जीवो के सम्यग्दर्शन ग्रहण होने से पहले आयु का बंध नही हुआ है, व्रत के अभाव मे भी निन्दनीय नर नारक आदि खोटे स्थानो मे उनका जन्म नही होता, ऐसा कथन करते हैं। 'जिनके शुद्ध सम्यग्दर्शन है किन्तु अव्रति है वे भी नरकगति, तिर्यंचगति, नपुंसक, स्त्री, नीचकुल, अंगहीन-शरीर, अल्प-आयु और दरिद्रीपने को प्राप्त नही होते।' इसके आगे मनुष्य गति मे उत्पन्न होने वाले सम्यग्दृष्टि

मनाथा । महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूता. ॥ १ ॥' अथ देवगतौ पुन. प्रकीर्णकदेववाहनदेवकिल्विषदेवनीचदेवत्रय विहायान्येपु महर्द्धिकदेवेषूत्पद्यते सम्यग्दृष्टि । इदानी सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्व देवायुष्क विहाय ये बद्धायुष्कास्तान् प्रति सम्यक्त्वमाहात्म्य कथयति । "हेट्ठिमछप्पुढवीण जोइसवणभवणसव्वइत्थीणं । पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ।" तमेवार्थ प्रकारान्तरेण कथयति । 'ज्योतिर्भावनभौमेपु पट्स्वध श्वभ्रभूमिपु । तिर्यक्षु नृसुरस्त्रीषु सद्दृष्टिर्नैव जायते' ॥ १ ॥' अथौपशमिकवेदकक्षायिकाभिधानसम्यक्त्वत्रयमध्ये कस्या गतौ कस्य सम्यक्त्वस्य सम्भवोऽस्तीति कथयति—"२सौधर्मादिष्वसख्याब्दायुष्कतिर्यक्षु नृष्वपि । रत्नप्रभावनौ च स्यात्सम्यक्त्वत्रयमङ्गिनाम् ॥२॥" कर्मभूमिजपुरुषे च त्रयं सम्भवति बद्धायुष्के लब्धायुष्केऽपि । किन्त्वौपशमिकमपर्याप्तावस्थाया महर्द्धिकदेवेष्वेव । "शेषेषु देवतिर्यक्षु षट्स्वध श्वभ्रभूमिषु । द्वौ वेदकोपशमकौ स्याता पर्याप्तदेहिनाम् ॥३॥" इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविन प्रथमावयवभूतस्य सम्यक्त्वस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥४१॥

जीवो का वर्णन करते है—'जो दर्शन से पवित्र है वे उत्साह, प्रताप, विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि, विजय और विभव से सहित उत्तम कुल वाले विपुल धनशाली तथा मनुष्य शिरोमणि होते है ।' प्रकीर्णक देव, वाहन देव, किल्विष देव तथा व्यन्तर–भवनवासी–ज्योतिषी तीन नीच देवो के अतिरिक्त महाऋद्धि धारक देवो मे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं । जिन्होने सम्यक्त्व ग्रहणसे पूर्व देव आयु को छोडकर अन्य आयु बाध ली है, अब उनके प्रति सम्यक्त्व का महात्म्य कहते हैं—'नीचे के ६ नरको मे ज्योतिषी व्यन्तर–भवनवासी देवो मे, सब स्त्रियो मे और लब्ध्यपर्याप्तको मे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नही होता । नरक अपर्याप्तको मे सासादन नही होते ।' इसी आशय को अन्य प्रकार से कहते है—'ज्योतिषी, भवनवासी और व्यतर देवो मे, नीचे की ६ नरक पृथिवियो मे, तिर्यंचो (कर्मभूमि तिर्यंच, भोगभूमि तिर्यंचनियो मे, मनुष्यनियो मे तथा देवागनाओ मे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नही होते । १ ।' औपशमिक, वेदक और क्षायिक नामक तीन सम्यक्त्वो मे से किस गति मे कौन सा सम्यक्त्व हो सकता है, सो कहते है—'सौधर्म आदि स्वर्गों मे, असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचो मे, मनुष्यो मे और रत्नप्रभा प्रथम नरक मे (उपशम, वेदक, क्षायिक) तीनो सम्यक्त्व होते है । २ ।' जिसने आयु बाध ली है या नही बाधी ऐसे कर्मभूमि—मनुष्यो के तीनो सम्यक्त्व होते है परन्तु अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यक्त्व महर्द्धिक देवो मे ही होता है । 'शेष देवो व तिर्यंचो मे और ६ नीचे की नरकभूमियो मे पर्याप्त जीवो के वेदक और उपशम ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं । ३ ।' इस प्रकार निश्चय—व्यवहार रूप रत्नत्रय-आत्मक मोक्षमार्ग अवयवी का प्रथम अवयवभूत सम्यग्दर्शन का व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई ॥ ४१॥

१. निकायत्रितये पुर्वे श्वभ्रभूमिषु षट्स्वध. । वनितासु समस्तासु सम्यग्दृष्टिर्न जायते ॥ २९८ ॥
२. नृभोगभूमितिर्यक्षु सौधर्मादिषु नाकिषु । आद्यायां श्वभ्रभूमौ च सम्यक्त्वत्रयमिष्यते ॥ ३०० ॥
३. शेष त्रिदशतिर्यक्षु षट्स्वधः श्वभ्रभूमिषु । पर्याप्तेषु द्वय ज्ञेय क्षायिकेण विनांगिषु ॥ ३०१ ॥
(अमितगति, पचसग्रह प्रथम परिच्छेद

अथ रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गद्वितीयावयवरूपस्य सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपं प्रतिपादयति–

ससयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स ।

गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥४२॥

संशयविमोहविभ्रमविवर्जित आत्मपरस्वरूपस्य ।

ग्रहणं सम्यक्ज्ञानं साकारं अनेकभेदं च ॥४२॥

व्याख्या —"ससयविमोहविब्भमविवज्जियं" 'संशय' शुद्धात्मतत्त्वादिप्रतिपादकमागमज्ञानं किं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतं भविष्यति परसमयप्रणीतं वेति, संशय । तत्र दृष्टान्त – स्थाणुर्वा पुरुषो वेति । 'विमोह' परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरिज्ञानाभावो विमोह । तत्र दृष्टान्त -गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिग्मोहवद्वा । 'विभ्रम' अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रम । तत्र दृष्टान्त –शुक्तिकायां रजतविज्ञानवत् । 'विवज्जियं' इत्युक्तलक्षणसंशयविमोहविभ्रमैर्वर्जितं, "अप्पपरसरूवस्स गहणं" सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्वात्मरूपस्य ग्रहणं परिच्छेदनं परिच्छित्तिस्तथा परद्रव्यस्य च भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरूपस्य जीवसम्बन्धिनस्तथैव पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपस्य परकीयजीवरूपस्य च परिच्छेदनं यत्तत् 'सम्मण्णाणं' सम्यग्ज्ञानं भवति । तच्च कथंभूतं ? 'सायारं' घटोऽयं पटोऽयमि-

---

अब रत्नत्रय-आत्मक मोक्षमार्ग के द्वितीय अवयव रूप सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं –

गाथार्थ —आत्मा का और परपदार्थों के स्वरूप का संशय, विमोह और विभ्रम रहित जानना सम्यग्ज्ञान है । वह साकार और अनेक भेदों वाला है ॥ ४२ ॥

वृत्त्यर्थ –'संसयविमोहविब्भमविवज्जियं' संशय–शुद्ध आत्मतत्त्व आदि का प्रतिपादक शास्त्र ज्ञान, क्या वीतराग–सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ सत्य है या अन्य–मतियों द्वारा कहा हुआ सत्य है, यह संशय है । इसका दृष्टान्त–स्थाणु (ठूंठ) है या मनुष्य । विमोह–परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक इन दो नयों के अनुसार द्रव्य-गुण-पर्याय आदि का नहीं जानना, विमोह है इसका दृष्टान्त–गमन करते हुए पुरुष के पैर में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट ज्ञात नहीं होता क्या लगा, अथवा जंगल में दिशा का भूल जाना । विभ्रम–अनेकान्तात्मक वस्तु को 'यह नित्य ही है, यह अनित्य ही है, ऐसे एकान्त रूप जानना, विभ्रम है । इसका दृष्टान्त—सीप में चांदी और चांदी में सीप का ज्ञान । 'विवज्जियं' इन पूर्वोक्त लक्षणों वाले संशय, विमोह और विभ्रम से रहित, 'अप्पपरसरूवस्स गहणं' सहज-शुद्ध-केवल-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव निज-आत्म-स्वरूप का जानना और परद्रव्य का अर्थात् जीव सम्बन्धी भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म का एवं पुद्गल आदि पांच द्रव्यों का और परजीव के स्वरूप का जानना, सो 'सम्मण्णाणं' सम्यक् ज्ञान है । वह कैसा है ? 'सायारं' यह घट है, यह वस्त्र है इत्यादि जानने रूप व्यापार से साकार, विकल्प सहित,

त्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकार सविकल्प व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थ । पुनश्च किं विशिष्ट ? 'अणेयभेय तु' अनेकभेद तु पुनरिति ।

तस्य भेदा कथ्यन्ते । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदेन पञ्चधा । अथवा श्रुतज्ञानापेक्षया द्वादशाङ्गमङ्गबाह्यं चेति द्विभेदम् । द्वादशाङ्गाना नामानि कथ्यन्ते । आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवायनामधेय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययन, अन्तकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवादश्चेति । दृष्टिवादस्य च परिकर्मसूत्रप्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकाभेदेन पञ्चभेदा कथ्यन्ते । तत्र चन्द्रसूर्यजम्बूद्वीप द्वीपसागरव्याख्याप्रज्ञप्तिभेदेन परिकर्म पञ्चविध भवति । सूत्रमेकभेदमेव । प्रथमानुयोगोऽप्येकभेद । पूर्वगतं पुनरुत्पादपूर्व, अगायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवादं, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणनामधेय, प्राणानुवाद, क्रियाविशाल, लोकसज्ञ, पूर्व चेति चतुर्दशभेदम् । जलगतस्थलगताकाशगतहरमेखलादिमायास्वरूपशाकिन्यादिरूपपरावर्त्तनभेदेन चूलिका पञ्चविधा चेति सक्षेपेण द्वादशाङ्गव्याख्यानम् । अङ्गबाह्य पुन सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिकं, कृतिकर्म, दश-

---

व्यवसायात्मक तथा निश्चय रूप ऐसा 'साकार' का अर्थ है । और फिर कैसा है ? 'अणेयभेयं तु' अनेक भेदो वाला है ।

सम्यग्ज्ञान के भेद कहे जाते हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन भेदो से वह सम्यग्ज्ञान पाच प्रकार का है । अथवा श्रुतज्ञान की अपेक्षा द्वादशाङ्ग और अङ्गबाह्य से दो प्रकार का है । उनमे द्वादश (१२) अङ्गो के नाम कहते हैं-आचाराङ्ग १, सूत्रकृताङ्ग २, स्थानाङ्ग ३, समवायोग ४, व्याख्याप्रज्ञप्त्यग ५, ज्ञातृकथाग ६, उपासकाध्ययनाग ७, अन्तकृद्दशाग ८, अनुत्तरोपपादिकदशाग ९, प्रश्नव्याकरणाग १०, विपाकसूत्राग ११ और दृष्टिवाद १२; ये द्वादश अङ्गो के नाम हैं । अब दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग के परिकर्म १, सूत्र २, प्रथमानुयोग ३, पूर्वगत ४ तथा चूलिका ५, ये पाच भेद हैं । उनका वर्णन करते हैं-उनमे चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जबू-द्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, व्याख्याप्रज्ञप्ति, इस तरह परिकर्म पाच प्रकार का है । सूत्र एक ही प्रकार का है । प्रथमानुयोग भी एक ही प्रकार का है । पूर्वगत—उत्पादपूर्व १, अग्रायणीयपूर्व २, वीर्यानुप्रवादपूर्व , अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ४, ज्ञानप्रवादपूर्व ५, सत्यप्रवादपूर्व ६, आत्मप्रवादपूर्व ७, कर्मप्रवादपूर्व ८, प्रत्याख्यानपूर्व ९, विद्यानुवादपूर्व १०, कल्याणपूर्व ११, प्राणानुवादपूर्व १२, क्रियाविशालपूर्व १३, लोकविन्दुसारपूर्व १४, इन भेदो से चौदह प्रकार का है । जलगत चूलिका १, स्थलगत चूलिका २, आकाशगत चूलिका ३, हरमेखला आदि मायास्वरूप चूलिका ४, और शाकिन्यादिरूप परावर्त्तन चूलिका ५, इन भेदो से चूलिका पंच प्रकारकी है । इस प्रकार सक्षेप से द्वादशाग का व्याख्यान है । और जो अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान है वह सामायिक १, चतुर्विंशतिस्तव २, वंदना ३, प्रतिक्रमण ४, वैनयिक ५, कृतिकर्म ६, दशवैकालिक ७,

वैकालिकम्, उत्तराध्ययनं, कल्पव्यवहार , कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, अशीतिक चेति चतुर्दशप्रकीर्णकसंज्ञ बोद्धव्यमिति ।

अथवा वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थङ्करभरतादिद्वादशचक्रवर्त्तिविजयादिनवबलदेव त्रिपृष्ठादिनववासुदेवसुग्रीवादिनवप्रतिवासुदेवसम्बन्धित्रिपष्टिपुरुषपुराणभेदभिन्न प्रथमानुयोगो भण्यते । उपासकाध्ययनादौ श्रावकधर्मम्, आचाराराधनादौ यतिधर्म च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स चरणानुयोगो भण्यते । त्रिलोकसारे जिनान्तरलोकविभागादिग्रन्थव्याख्यान करणानुयोगो विज्ञेय. । प्राभृततत्त्वार्थसिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादिषड्द्रव्यादीना मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो भण्यते । इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपेण चतुर्विध श्रुतज्ञान ज्ञातव्यम् । अनुयोगोऽधिकारः परिच्छेद प्रकरणमित्याद्येकोऽर्थ । अथवा षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु (मध्ये) निश्चयनयेन स्वकीय शुद्धात्मद्रव्य, स्वशुद्धजीवास्तिकायो निजशुद्धात्मतत्व निजशुद्धात्मपदार्थ उपादेय । शेषं च हेयमिति सक्षेपेण हेयोपादेय भेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति ।

इदानी तेनैव विकल्परूपव्यवहारज्ञानेन साध्य निश्चयज्ञान कथ्यते । तथाहि—रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूप, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूप, च मदीयापध्यानं

उत्तराध्ययन ८, कल्प-व्यवहार ९, कल्पाकल्प १०, महाकल्प ११, पुण्डरीक १२, महापुंडरीक १३, और अशीतिक १४, इन प्रकीर्णकरूप भेदो से चौदह प्रकार का जानना चाहिये ।

अथवा श्री ऋषभनाथ आदि चौवीस तीर्थंकरो, भरत आदि बारह चक्रवर्ती विजय आदि नौ बलदेव, त्रिपृष्ठ आदि नौ नारायण, और सुग्रीव आदि नौ प्रतिनारायण सम्बन्धी तिरेसठ शलाका पुरुषो का पुराण भिन्न-भिन्न प्रथमानुयोग कहलाता है । उपासकाध्ययन आदि मे श्रावक का धर्म और आचार आराधना आदि मे मुनि का धर्म मुख्यता से कहा गया है, वह दूसरा चरणानुयोग कहा जाता है । त्रिलोकसार मे जिनान्तर (तीर्थंकरो का अन्तरकाल) व लोकविभाग आदि का व्याख्यान है, ऐसे ग्रन्थ करणानुयोग जानना चाहिये । प्राभृत (पाहुड) और तत्त्वार्थ सिद्धान्त आदि मे मुख्यता से शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि छ. द्रव्यो आदि का वर्णन किया गया है, वह द्रव्यानुयोग कहलाता है । इस प्रकार उक्त लक्षण वाले चार अनुयोग रूप चार प्रकार का श्रुतज्ञान जानना चाहिये । अनुयोग, अधिकार, परिच्छेद और प्रकरण इत्यादि शब्दो का एक ही अर्थ है । अथवा छह द्रव्य, पच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों मे निश्चयनय से मात्र अपना शुद्ध आत्मद्रव्य, अपना शुद्ध जीव अस्तिकाय, निज—शुद्ध-आत्मतत्त्व तथा निज—शुद्ध-आत्म पदार्थ उपादेय है । शेष हेय है । इस प्रकार सक्षेप से हेय—उपादेय भेद वाला व्यवहार-ज्ञान दो प्रकार का है ।

अब विकल्परूप व्यवहारज्ञान से साध्य निश्चयज्ञान का कथन करते हैं । तथा—राग के उदय से परस्त्री आदि की वाछारूप, और द्वेप से अन्य -जीवो के मारने, बाधने अथवा छेदने आदि की वाछा

कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाण सन्नय जीवो वहिरङ्गवकवेषेण यल्लोकरञ्जना करोति तन्मायाशल्यं भण्यते । निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षण मिथ्याशल्य भण्यते । निर्विकारपरमचैतन्यभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादमलभमानोऽय जीवो दृष्टश्रुतानुभूतभोगेषु यन्नियतम् निरन्तरम् चित्तम् ददाति तन्निदानशल्यमभिधीयते । इत्युक्तलक्षणशल्यत्रयविभावपरिणामप्रभृतिसमस्तशुभाशुभसङ्कल्पविकल्परहितेन परमस्वास्थ्यसवित्तिसमुत्पन्नतात्त्विकपरमानन्दैकलक्षणसुखामृततृप्तेन स्वेनात्मना स्वस्य सम्यग्निर्विकल्परूपेण वेदन परिज्ञानमनुभवनमिति निर्विकल्पस्वसवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञान भण्यते ।

अत्राह शिष्य । इत्युक्तप्रकारेण प्राभृतग्रन्थे यन्निर्विकल्पस्वसवेदनज्ञान भण्यते, तन्न घटते । कस्मादितिचेत् तदुच्यते । सत्तावलोकरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते, तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पक भण्यते, पर किन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनक भवति । जैनमते तु विकल्पस्योत्पादक भवत्येव न, किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति । तथैव

रूप मेरा दुर्ध्यान है, उसको कोई भी नही जानता है, ऐसा मानकर, निज-शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षण वाला सुख-अमृतरसरूप निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि को न करता हुआ, यह जीव बाहर मे बगुले जैसे वेष को धारण कर, लोक को प्रसन्न करता है, वह माया शल्य कहलाती है । 'अपना निरजन दोष रहित परमात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्व से विलक्षण, मिथ्या-शल्य कहलाती है । निर्विकार-परम-चैतन्य-भावना से उत्पन्न एक परम-आनन्द-स्वरूप सुखामृत-रस के स्वाद को प्राप्त न करता हुआ, यह जीव, देखे-सुने और अनुभव मे आये हुए भोगो मे जो निरन्तर चित्त को देता है, वह निदान-शल्य है । इस प्रकार उक्त लक्षण वाले माया, मिथ्या और निदान-शल्य रूप विभाव परिणाम आदि समस्त शुभ-अशुभ सकल्प-विकल्प से रहित, परम निज-स्वभाव के अनुभव से उत्पन्न यथार्थ परमानन्द एक लक्षण स्वरूप सुखामृत के रस-आस्वादन से तृप्त ऐसी अपनी आत्मा द्वारा जो निजस्वरूप का संवेदन, जानना व अनुभव करना है, वही निर्विकल्प-स्वसवेदन-ज्ञान-निश्चयज्ञान कहा जाता है ।

यहा शिष्य की शका—उक्त प्रकार से प्राभृत (पाहुड) शास्त्र मे जो विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है, वह घटित नही होता । (यदि कहो) क्यो नही घटित होता, तो कहता हूँ—जैनमत मे सत्तावलोकनरूप चक्षु-आदि-दर्शन, जैसे निर्विकल्प कहा जाता है, वैसे ही बौद्धमत मे 'ज्ञान निर्विकल्प कहलाता है, किन्तु निर्विकल्प होते हुए भी विकल्प को उत्पन्न करने वाला कहा गया है' । जैनमत मे तो ज्ञान विकल्प को उत्पन्न करने वाला ही नही है ।

किन्तु स्वरूप (स्वभाव) से ही विकल्प-सहित है और इसी प्रकार स्व-पर-प्रकाशक है । शका का परि-

स्वपरप्रकाशक चेति । तत्र परिहार । कथंचित् सविकल्पक निर्विकल्पकं च । तथाहि-यथा विषयानन्दरूप स्वसवेदनं रागसम्वित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्व नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । तथा स्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूप वीतरागस्वसम्वेदनज्ञानमपि स्वसवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि वहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पाना सद्भावेऽपि सति तेषा मुख्यत्व नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते । यत एवेहापूर्वस्वसम्वित्त्याकारान्तमुखप्रतिभासेऽपि वहिर्विषयानीहितसूक्ष्मा विकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धम् । इद तु सविकल्पकनिर्विकल्पकस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य ज्ञानस्य च व्याख्यानं यद्यागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति । स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृत इति ।

एव रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गावयविनो द्वितीयावयवभूतस्य ज्ञानस्य व्याख्यानेन गाथा गता ॥ ४२ ॥

अथ निर्विकल्पसत्ताग्राहक दर्शनं कथयति —

हार जैन सिद्धान्तमे ज्ञानको कथचित् सविकल्प और कथचित् निर्विकल्प माना गया है । सो ही दिखाते है जैसे विषयो मे आनन्दरूप जो स्वसवेदन है, वह राग के जानने रूप विकल्प-स्वरूप होने से सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित जो सूक्ष्म विकल्प है, उनका सद्भाव होने पर भी उन विकल्पो की मुख्यता नही इस कारण से उस ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते है । इसी प्रकार निज-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप वीतराग स्वसवेदन ज्ञान, आत्मसवेदन के आकाररूप एक विकल्पमयी होने से यद्यपि सविकल्प है, तथापि उस ज्ञान मे वाह्य विषयो के अनिच्छित (नही चाहे हुए) विकल्पो का, सद्भाव होने पर भी उनकी मुख्यता नही है, इस कारण उस वसवेदन ज्ञान को निर्विकल्प भी कहते है । यहा अपूर्व स्वसवित्ति के आकाररूप अन्तरग मे मुख्य प्रतिभास के होने पर भी, क्योकि वाह्य विषय सम्वन्धी अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी हैं, अत ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक भी सिद्ध हो जाता है । यदि इस सविकल्प-निर्विकल्प तथा स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान का व्याख्यान आगमशास्त्र-अध्यात्मशास्त्र-तर्कशास्त्र के अनुसार विशेषरूप से किया जाता तो महान् विस्तार होजाता । किन्तु यह द्रव्यसग्रह अध्यात्मशास्त्र है, इस कारण ज्ञान का विशेष व्याख्यान यहा नही किया गया ।

इस प्रकार रत्नत्रय-आत्मक मोक्षमार्ग रूप अवयवी के दूसरे अवयवरूप ज्ञान के व्याख्यान द्वारा गाथा समाप्त हुई ॥ ४२ ॥

अब विकल्प रहित सत्ता को ग्रहण करने वाले दर्शन को कहते है :—

गाथार्थ :—पदार्थों मे विशेषता (भेद) न करके और विकल्प न करके पदार्थों का सामान्य

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ।।४३।।

यत् सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वा आकारम् ।
अविशेषयित्वा अर्थान् दर्शनं इति भण्यते समये ॥ ४३ ॥

व्याख्या—'जं सामण्णं गहणं भावाणं' यत् सामान्येन सत्तावलोकनेन ग्रहणं परिच्छेदनं, केषां ? भावानां पदार्थानां, किं कृत्वा ? "णेव कट्टुमायारं" नैव कृत्वा, कं ? आकारं विकल्पं, तदपि किं कृत्वा ? "अविसेसिदूण अट्ठे" अविशेष्याविभेद्यार्थान्, केन रूपेण ? शुक्लोऽयं, कृष्णोऽयं, दीर्घोऽयं, ह्रस्वोऽयं, घटोऽयं, पटोऽयमित्यादि । "दंसणमिदि भण्णए समए" तत्सत्तावलोकं दर्शनमिति भण्यते समये परमागमे । नेदमेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं वक्तव्यम् । कस्मादितिचेत् ? तत्र श्रद्धानं विकल्परूपमिदं तु निर्विकल्पं यतः । अयमत्र भावः—यदा कोऽपि किमप्यवलोकयति पश्यति, तदा यावत् विकल्पं न करोति तावत् सत्तामात्रग्रहणं दर्शनं भण्यते, पश्चाच्छुक्लादिविकल्पे जाते ज्ञानमिति ।।४३।।

अथ छद्मस्थानां ज्ञानं सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं भवति, मुक्तात्मनां युगपदिति प्रतिपादयन्ति —

दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा ।
जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ।।४४।।

ने जो (सत्तावलोकनरूप) ग्रहण करना है, वह परमागम मे दर्शन कहा गया है ।। ४३ ।।

वृत्त्यर्थ —"जं सामण्णं गहणं भावाणं" जो सामान्य से अर्थात् सत्तावलोकन से ग्रहण करना किसका ग्रहण करना ? पदार्थो का ग्रहण करना । क्या करके ? "णेव कटटुमायारं" नही करके, किस को नही करके ? आकार अथवा विकल्प को नही करके । वह भी क्या करके ? "अविसेसिदूण अट्ठे" पदार्थों को विशेषित या भेद न करके । किस रूप से ? यह शुक्ल है, यह कृष्ण है, यह बडा है, यह छोटा, यह घट है और यह पट है, इत्यादि रूप मे भेद न करके । "दंसणमिदि भण्णए समए" वह परमागम मे सत्तावलोकनरूप दर्शन कहा जाता है इसी दर्शन को तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण वाला सम्यग्दर्शन नही कहना चाहिये । क्यों नहीं कहना चाहिये ? क्योकि वह श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तो विकल्परूप है और यह दर्शन–उपयोग विकल्प रहित है । तात्पर्य यह है—जब कोई भी किसी पदार्थ को देखता है, वह देखने वाला जब तक विकल्प न करे तब तक तो सत्तामात्र ग्रहणको दर्शन कहते है । पश्चात् शुक्ल आदि का विकल्प होजाने पर 'ज्ञान' कहा जाता है ।। ४३ ।।

छद्मस्थो के सत्तावलोकनरूप दर्शन ज्ञान होता है, और मुक्त जीवो के दर्शन और ज्ञान एक ही साथ होते है, अब ऐसा बतलाते हैं :—

दर्शनपूर्वं ज्ञानं छद्मस्थानां न द्वौ उपयोगौ ।
युगपत् यस्मात् केवलिनाथे युगपत् तु तौ द्वौ अपि ॥४४॥

व्याख्या—"दसणपुव्व णाणं छदमत्थाण" सत्तावलोकनदर्शनपूर्वक ज्ञानं भवति छद्मस्थाना ससारिणां । कस्मात् ? 'ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जह्मा' ज्ञानदर्शनोपयोगद्वय युगपन्न भवति यस्मात् । 'केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि' केवलिनाथे तु युगपत्तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ द्वौ भवत इति ।

अथ विस्तर—चक्षुरादीन्द्रियाणा स्वकीयस्वकीयक्षयोपशमानुसारेण तद्योग्यदेशस्थितरूपादिविषयाणा ग्रहणमेव सन्निपात सम्बन्ध सन्निकर्षो भण्यते । न च नैयायिकमतवच्चक्षुरादीन्द्रियाणां रूपादिस्वकीयस्वकीयविषयपार्श्वे गमन इति सन्निकर्षो वक्तव्य । स एव सम्बन्धो लक्षणं यस्य तल्लक्षण यन्निर्विकल्प सत्तावलोकनदर्शन तत्पूर्व शुक्लमिदमित्याद्यवग्रहादिविकल्परूपमिन्द्रियानिन्द्रियजनित मतिज्ञान भवति । इत्युक्तलक्षणमतिज्ञानपूर्वकं तु धूमादग्निविज्ञानवदर्थादर्थान्तरग्रहणरूपं लिङ्गज, तथैव घटादिशब्दश्रवणरूप शब्दजं चेति द्विविध श्रुतज्ञान भवति । अथावधिज्ञान पुनरवधिदर्शनपूर्वकमिति । ईहामतिज्ञानपूर्वक तु मन पर्ययज्ञान भवति ।

गाथार्थ— छद्मस्थ जीवो के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है । क्योकि, छद्मस्थो के ज्ञान और दर्शन ये दोनो उपयोग एक साथ नही होते । केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनो ही उपयोग एक साथ होते हैं ।। ४४ ।।

वृत्त्यर्थ :—"दंसणपुव्वं णाण छदमत्थाण" छद्मस्थ—ससारी जीवो के सत्तावलोकनरूप दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है । क्यो ? 'ण दोण्णि उवउग्गा जुगव जह्मा" क्योकि छद्मस्थो के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ये दोनो एक साथ नही होते । "केवलिणाहे जुगव तु ते दो वि" और केवली भगवान् के ज्ञान दर्शन दोनो उपयोग एक ही साथ होते है ।

इसका विस्तार—चक्षु आदि इन्द्रियो के अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार अपने योग्य देश मे विद्यमान रूप आदि अपने विषयो का ग्रहण करना ही सन्निपात, सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष कहा गया है । यहा नैयायिक मत के समान चक्षु आदि इन्द्रियो का जो अपने अपने रूप आदि विषयो के पास जाना है, उसको 'सन्निकर्ष' न कहना चाहिये । इन्द्रिय पदार्थ का वह सम्बन्ध अथवा सन्निकर्ष जिसका लक्षण है, ऐसे लक्षणवाला निर्विकल्प-सत्तावलोकन दर्शन है, उस दर्शनपूर्वक 'यह सफेद है' इत्यादि अवग्रह आदि विकल्परूप तथा पाचो इन्द्रियो व अनिन्द्रिय मन के उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है । उक्त लक्षण वाले मतिज्ञान पूर्वक, धुयें से अग्नि के ज्ञान के समान, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को ग्रहण करनेरूप लिंगज (चिन्ह से उत्पन्न होनेवाला) तथा इसी प्रकार घट आदि शब्दो के सुननेरूप शब्दज (शब्द से उत्पन्न होनेवाला), ऐसे दो प्रकार का श्रुतज्ञान होता है (श्रुतज्ञान दो तरह का है—लिंगज और

अत्र श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानजनकं यदवग्रहेहादिरूपं मतिज्ञानं भणितम्, तदपि दर्शनपूर्वकत्वादुपचारेण दर्शनं भण्यते, यतस्तेन कारणेन श्रुतज्ञानमनःपर्ययज्ञानद्वयमपि दर्शनपूर्वकं ज्ञातव्यमिति । एवं छद्मस्थानां सावरणक्षयोपशमिकज्ञानसहितत्वात् दर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति । केवलिना तु भगवता निर्विकारस्वसम्वेदनसमुत्पन्ननिरावरणक्षायिकज्ञानसहितत्वान्निर्मेघादित्ये युगपदातपप्रकाशवद्दर्शनं ज्ञानं च युगपदेवेति विज्ञेयम् । छद्मस्था इति कोऽर्थः ? छद्मशब्देन ज्ञानदर्शनावरणद्वयं भण्यते, तत्र तिष्ठन्तीति छद्मस्थाः । एवं तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम् ।

अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते । तथाहि—उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं दर्शनं भण्यते । तदनन्तरं यद्बहिर्विषये विकल्परूपेण पदार्थग्रहणं तद्ज्ञानमिति वार्त्तिकम् । यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्पं कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घ विकल्पाद्व्यावर्त्य यत् स्वरूपे प्रयत्नमवलोकनं परिच्छेदनं करोति तद्दर्शनमिति । तदनन्तरं पटोऽयमिति निश्चयं यद्बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्पं करोति तद् ज्ञानं भण्यते ।

शब्दज । उनमे से एक पदार्थ को जानकर उसके द्वारा दूसरे पदार्थ को जानना, वह लिंगज श्रुतज्ञान हैं । शब्दों को सुनने से जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान है । अवधि-दर्शन पूर्वक अवधिज्ञान होता है । ईहा मतिज्ञान पूर्वक मन पर्यय ज्ञान होता है ।

यहा श्रुतज्ञान को और मन पर्ययज्ञान को उत्पन्न करनेवाला अग्रवह, ईहा आदिरूप मतिज्ञान कहा है मतिज्ञान भी दर्शनपूर्वक होता है, इसलिये वह मतिज्ञान भी उपचार से दर्शन कहलाता है । इस कारण श्रुतज्ञान और मन पर्ययज्ञान, इन दोनो को भी दर्शनपूर्वक जानना चाहिये । इस प्रकार छद्मस्थ जीवो के सावरण क्षायोपशमिक-ज्ञान होने से, दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है । केवली भगवान् के निर्विकार स्वसंवेदन से उत्पन्न निरावरण क्षायिक ज्ञान होने से, बदल हट जाने पर सूर्य के युगपत् आतप और प्रकाश के समान, दर्शन और ज्ञान ये दोनो युगपत् होते है ऐसा जानना चाहिये । प्रश्न—'छद्मस्थ' शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर—'छद्म' शब्द से ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण ये दोनो कर्म कहे जाते है, उस छद्म मे जो रहते हैं वे छद्मस्थ है । इस प्रकार तर्क के अभिप्राय से सत्तावलोकनरूप दर्शन का व्याख्यान किया ।

इसके आगे सिद्धान्त के अभिप्राय से कहते हैं । तथा—आगे होने वाले ज्ञान की उत्पत्ति के लिये जो प्रयत्न, उस रूप अथवा निज-आत्मा का जो परिच्छेदन अर्थात् अवलोकन, वह दर्शन कहलाता है । उसके अनन्तर बाह्य विषय में विकल्परूप से जो पदार्थ का ग्रहण है, वह ज्ञान है, यह वार्त्तिक है । जैसे कोई पुरुष पहले घट विषयक विकल्प करता हुआ स्थित है, पश्चात् उसका चित्त पट को जानने के लिये होता है तब वह पुरुष घट के विकल्प से हट कर स्वरूप मे जो प्रयत्न—अवलोकन—परिच्छेदन करता है, उसको दर्शन कहते हैं । इसके अनन्तर 'यह पट है' ऐसा निश्चय अथवा बाह्य विषयरूप से

अत्राह शिष्य —यद्यात्मग्राहक दर्शनं, परग्राहक ज्ञान भण्यते, तर्हि यथा नैयायिकमते ज्ञानमात्मान न जानाति, तथा जैनमतेऽपि ज्ञानमात्मान न जानातीति दूषण प्राप्नोति। अत्र परिहार। नैयायिकमते ज्ञान पृथग्दर्शन पृथगिति गुणद्वय नास्ति, तेन कारणेन तेषामात्मपरिज्ञानाभावदूषण प्राप्नोति। जैनमते पुनर्ज्ञानगुणेन परद्रव्य जानाति दर्शनगुणेनात्मानं च जानातीत्यात्मपरिज्ञानाभावदूषण न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत् ? यथैकोऽप्यग्निर्दहतीति दाहक, पचतीति पाचक, विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। तथैवाभेदनयेनैकमपि चैतन्य भेदनयविवक्षाया यदात्मग्राहकत्वेन प्रवृत्त तदा तस्य दर्शनमिति सज्ञा, पश्चात् यच्च परद्रव्यग्राहकत्वेन प्रवृत्त तस्य ज्ञानसंज्ञेति विषयभेदेन द्विधा भिद्यते। किं च, यदि सामान्यग्राहक दर्शन विशेषग्राहक ज्ञान भण्यते, तदा ज्ञानस्य प्रमाणत्व न प्राप्नोति। कस्मादिति चेत्—वस्तुग्राहकं प्रमाण, वस्तु च सामान्यविशेषात्मकं, ज्ञानेन पुनर्वस्त्वेकदेशो विशेष एव गृहीतो, न च वस्तु। सिद्धान्तेन पुनर्निश्चयेन गुणगुणिनोरभिन्नत्वात् सशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम्। स च प्रदीपवत् स्वपरगत सामान्य विशेष च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति।

पदार्थ के ग्रहणरूप जो विकल्प होता है उस विकल्प को ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न —यहा शिष्य पूछता है, यदि अपने को ग्रहण करनेवाला दर्शन और पर-पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, तो नैयायिको के मत मे जैसे ज्ञान अपने को नही जानता है वैसे ही जैनमत मे भी ज्ञान आत्मा का नही जानता है, ऐसा दूषण आता है ? शङ्का का परिहार—नैयायिक मत मे ज्ञान और दर्शन अलग-अलग दा गुण नही हैं- इस कारण उन नैयायिको के मत मे 'आत्मा को जानने के अभावरूप' दूषण आता है। किन्तु जैन सिद्धान्त मे, आत्मा ज्ञान गुण से पर पदार्थ को जानता है तथा दर्शन गुण से आत्मा स्व को जानता है, इस कारण जैनमत मे 'आत्मा को न जानने का' दूषण नही आता। यह दूषण क्यो नही आता ? उत्तर—जैसे एक ही अग्नि जलाती है, अत वह दाहक है और पकाती है इस कारण पाचक है, विषय के भेद से दाहक पाचक रूप अग्नि दो प्रकार की है। उसी प्रकार अभेदनय से चैतन्य एक ही है, भेदनय की अपेक्षा मे जब आत्मा को ग्रहण करने मे प्रवृत्त होता है, तब उसका नाम दर्शन' है, और फिर जब पर पदार्थ को ग्रहण करने मे प्रवृत्त होता है, तब उस चैतन्य का नाम 'ज्ञान' है, इस प्रकार विषयभेद मे चैतन्य दो प्रकार का होता है। विशेष बात यह है यदि सामान्य के ग्रहण करने वाले को दर्शन और विशेष के ग्रहण करने वाले को ज्ञान कहा जावे तो ज्ञान को प्रमाणता नही आती। शङ्का—ज्ञान को प्रमाणता क्यो नही आती ? समाधान—वस्तु को ग्रहण करने वाला प्रमाण है। वस्तु सामान्य—विशेष स्वरूप है। ज्ञान ने वस्तु का एक देश जो विशेष उस विशेष को ही ग्रहण किया, न कि सम्पूर्ण वस्तु को ग्रहण किया। सिद्धान्त मे निश्चयनय की अपेक्षा गुण-गुणी अभिन्न हैं, अत सशय-विमोह-विभ्रम से रहित जो वस्तु का ज्ञान है उस ज्ञान स्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। जैसे प्रदीप स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मा भी स्व और पर के

अथ मतं—यदि दर्शनं बहिर्विषये न प्रवर्त्तते तदान्धवत् सर्वजनीनामन्धत्वं प्राप्नोतीति ? नैवं वक्तव्यम् । बहिर्विषये दर्शनाभावेऽपि ज्ञानेन विशेषेण सर्वं परिच्छिनत्तीति । अयं तु विशेष —दर्शनेनात्मनि गृहीते सत्यात्माविनाभूतं ज्ञानमपि गृहीतं भवति, ज्ञाने च गृहीते सति ज्ञानविषयभूतं बहिर्वस्त्वपि गृहीतं भवति इति । अथोक्तं भवता यद्यात्मग्राहकं दर्शनं भण्यते, तर्हि 'जं सामण्णं गहणं भावाणं तद्दर्शनम्' इति गाथार्थः कथं घटते ? तत्रोत्तरं सामान्यग्रहणमात्मग्रहणं तद्दर्शनम् । कस्मादिति चेत् ? आत्मा वस्तुपरिच्छित्तिं कुर्वन्निदं जानामीदं न जानामीति विशेषपक्षपातं न करोति, किन्तु सामान्येन वस्तु परिच्छिनत्ति तेन कारणेन सामान्यशब्देनात्मा भण्यत इति गाथार्थः ।

किं बहुना, यदि कोऽपि तर्कार्थं सिद्धान्तार्थं च ज्ञात्वैकान्तदुराग्रहत्यागेन नयविभागेन मध्यस्थवृत्त्या व्याख्यानं करोति, तदा द्वयमपि घटत इति । कथमिति चेत् ? तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं, तत्र यदा कोऽपि परसमयी पृच्छति जैनागमे दर्शनं ज्ञानं चेति गुणद्वयं जीवस्य कथ्यते तत्कथं घटत इति । तदा तेषामात्मग्राहकं दर्शनमिति कथिते सति ते न जानन्ति । पश्चादाचार्यैस्तेषां प्रतीत्यर्थं स्थूलव्याख्यानेन बहिर्विषये यत् सामान्यपरि-

---

सामान्य-विशेष को जानता है, इस कारण अभेद मे आत्मा के ही प्रमाणता है ।

आशङ्का—यदि दर्शन बाह्य विषय को ग्रहण नही करता तो अंधे की तरह सब मनुष्यों के अन्धेपने का प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा ? समाधान—ऐसा न कहना चाहिये, क्योकि बाह्य विषय मे दर्शनाभाव होने पर भी आत्मा ज्ञान द्वारा विशेष रूप से सब पदार्थों को जानता है । विशेष यह है—जब दर्शन से आत्मा का ग्रहण होता है, तब आत्मा मे व्याप्त ज्ञान का भी दर्शन द्वारा ग्रहण हो जाता है, ज्ञान के ग्रहण होजाने पर ज्ञान के विषयभूत बाह्य वस्तु का भी ग्रहण हो जाता है । शङ्का—जो आत्मा को ग्रहण करता है, यदि आप उसको दर्शन कहते हो, तो 'जो पदार्थो का सामान्य ग्रहण है वह दर्शन है" यह गाथा—अर्थ आपके कथन मे कैसे घटित होता है ? उत्तर—वहा पर 'सामान्य–ग्रहण' शब्द का अर्थ 'आत्मा का ग्रहण करना' है । 'सामान्य ही आत्मा है', ऐसा अर्थ क्यो है ? उत्तर–वस्तु का ज्ञान करता हुआ आत्मा, 'मैं इसको· जानता हू, इसको नही जानता हू, इस प्रकार का विशेष पक्षपात नही करता है, किन्तु सामान्यरूप से पदार्थ को जानता है । इस कारण 'सामान्य' शब्द से 'आत्मा' कहा जाता है । यह गाथा का अर्थ है ।

बहुत कहने से क्या—यदि कोई भी तर्क और सिद्धान्त के अर्थ को जानकर, एकान्त दुराग्रह को त्याग करके, नयो के विभाग से मध्यस्थता धारण करके, व्याख्यान करता है तब तो तर्क-अर्थ व सिद्धान्त-अर्थ ये दोनो ही सिद्ध होते हैं । कैसे सिद्ध होते हैं ? उत्तर—तर्क मे मुख्यता से अन्य–मतो का व्याख्यान है । इसलिये उसमे यदि कोई अन्य–मतावलम्बी पूछे कि, जैन-सिद्धान्त मे जीव के दर्शन और ज्ञान, जो दो गुण कहे हैं, वे कैसे घटित होते हैं ? तब इसके उत्तर मे उन अन्य मतियो को कहा जाय कि, 'जो आत्मा को ग्रहण करने वाला है, वह दर्शन है' तो वे अन्य मती इसको नही समझते ।

च्छेदनं तस्य सत्तावलोकनदर्शसंज्ञा स्थापिता, यत्र शुक्लमिदमित्यादिविशेपपरिच्छेदन तस्य ज्ञानसंज्ञा स्थापितेति दोषो नास्ति। सिद्धान्ते पुन स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या। तत्र सूक्ष्मव्याख्याने क्रियमाणे सत्याचार्यैरात्मग्राहकं दर्शनं व्याख्यातमित्यत्रापि दोषो नास्ति।

अत्राह शिष्य:—सत्तावलोकनदर्शनस्य ज्ञानेन सह भेदो ज्ञातस्तावदिदानी यत्तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शन वस्तुविचाररूपं सम्यग्ज्ञानं तयोर्विशेषो न ज्ञायते। कस्मादितिचेत्। सम्यग्दर्शने पदार्थनिश्चयोऽस्ति, तथैव सम्यग्ज्ञाने च, को विशेप इति? अत्र परिहार—अर्थग्रहणपरिच्छित्तिरूप क्षयोपशमविशेपो ज्ञान भण्यते, तत्रैव भेदनयेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मादितत्त्वेष्विदमेवेत्थमेवेति निश्चयसम्यक्त्वमिति। अविकल्परूपेणाभेदनयेन पुनर्यदेव सम्यग्ज्ञान तदेव सम्यक्त्वमिति। कस्मादिति चेत्—अतत्त्वे तत्त्वबुद्धिरदेवे देवबुद्धिरधर्मे धर्मबुद्धिरित्यादिविपरीताभिनिवेशरहितस्य ज्ञानस्यैव सम्यग्विशेपणवाच्योऽवस्थाविशेप. सम्यक्त्वं भण्यते यत कारणात्।

यदि भेदो नास्ति तर्हि कथमावरणद्वयमिति चेत्? तत्रोत्तरम्—येन कर्मणार्थपरिच्छित्तिरूप क्षयोपशम प्रच्छाद्यते तस्य ज्ञानावरणसंज्ञा, तस्यैव क्षयोपगमविशेषस्य यत् कर्म पूर्वोक्तलक्षणं विपरीताभिनिवेशमुत्पादयति तस्य मिथ्यात्वसज्ञेति भेदनयेनावरणभेद।

तब आचार्यों ने उनको प्रतीति कराने के लिये स्थूल व्याख्यान से बाह्य विषय मे जो सामान्य का ग्रहण है उसका नाम 'दर्शन' स्थापित किया, 'यह सफेद है' इत्यादि रूप से बाह्य विषय मे जो विशेप का जानना है, उसका नाम 'ज्ञान' स्थापित किया, अत दोप नही है। सिद्धान्त मे मुख्यता से निजसमय का व्याख्यान है, इसलिये सिद्धान्त मे सूक्ष्म व्याख्यान करने पर आचार्यो ने 'जो आत्मा का ग्राहक है' उसको 'दर्शन' कहा है। अतः इसमे भी दोप नही।

यहा शिष्य शङ्का करता है—सत्ता-अवलोकनरूप-दर्शन का ज्ञान के साथ भेद जाना, किन्तु तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप-सम्यग्दर्शन और वस्तु-विचाररूप-सम्यग्ज्ञान इन दोनो मे भेद नही जाना। यदि कहो कि कैसे नही जाना, तो पदार्थ का जो निश्चय सम्यग्दर्शन मे है वही सम्यग्ज्ञान मे है। इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मे क्या भेद है? समाधान—पदार्थके ग्रहणमे जाननेरूप क्षयोपशम विशेप 'ज्ञान' कहलाता है। उस ज्ञान मे ही, वीतराग सर्वज्ञ श्री जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए शुद्ध आत्मा आदि तत्वो मे 'यह ही तत्त्व है, ऐसा ही तत्त्व है', इस प्रकार का जो निश्चय है, भेदनय से वह सम्यक्त्व है। निर्विकल्परूप अभेदनय से तो जो सम्यग्ज्ञान है, वही सम्यग्दर्शन है। ऐसा क्यो है? उत्तर-'अतत्त्वमे तत्त्व-बुद्धि, अदेव (देव नही) मे देव-बुद्धि और अधर्म मे धर्म-बुद्धि' इत्यादि विपरीताभिनिवेग से रहित ज्ञान की, ही, 'सम्यक्' विशेषण से कहे जाने वाली अवस्था-विशेष 'सम्यक्त्व' कहलाती है।

शंका—यदि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मे भेद नही है तो उन दोनो गुणो के घातक ज्ञानावरण और मिथ्यात्व दो कर्म कैसे कहे गये है? समाधान—जिस कर्म से पदार्थ के जानने रूप क्षयोपशम ढक जाता है; उसकी ज्ञानावरण' संज्ञा है और उस क्षयोपशम विशेष मे जो कर्म, पूर्वोक्त लक्षण वाले

निश्चयनयेन पुनरभेदविवक्षाया कर्मत्व प्रत्यावरणद्वयमप्येकमेव विज्ञातव्यम् । एवं दर्शनपूर्वक ज्ञानं भवतीति व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ४४ ॥

अथ सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकं रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गतृतीयावयवभूतं स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपशुद्धोपयोगलक्षणवीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधक सरागचारित्रं प्रतिपादयति :—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।

वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणयादु जिणभणियम् ॥४५॥

अशुभात् विनिवृत्तिः शुभे प्रवृत्तिः च जानीहि चारित्रम् ।

व्रतसमितिगुप्तिरूप व्यवहारनयात् तु जिनभणितम् ॥४५॥

व्याख्या—अस्यैव सरागचारित्रस्यैकदेशावयवभूत देशचारित्र तावत्कथ्यते । तद्यथा—मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षये सति, अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामे वा सति शुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारवास्तवसुखामृतमुपादेयं कृत्वा संसारशरीरभोगेषु योऽसौ हेयबुद्धिः सम्यग्दर्शनशुद्ध स चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती व्रतरहितो दार्शनिको भण्यते । यश्चाप्रत्याख्यानावरणसंज्ञद्वितीयकषायक्षयोपशमे जाते सति पृथिव्यादिपञ्चस्थावरवधे प्रवृत्तोऽपि यथाशक्त्या त्रसवधे निवृत्तः स पञ्चमगुणस्थानवर्त्ती श्रावको भण्यते ।

विपरीत—अभिनिवेश को उत्पन्न करता है, उस कर्म की 'मिथ्यात्व' सज्ञा है । इस प्रकार भेद नय से आवरण मे भेद है । निश्चय नय से अभेद की विवक्षा मे कर्मपने की अपेक्षा उन दो आवरणो को एक ही जानना चाहिए । इस प्रकार दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, ऐसा व्याख्यान करने वाली गाथा समाप्त हुई ॥ ४४ ॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान—पूर्वक होने वाला रत्नत्रय-स्वरूप मोक्षमार्ग का तीसरा अवयव-रूप और स्व-शुद्ध-आत्मा के अनुभवरूप-शुद्धोपयोग लक्षणवाले वीतराग चारित्र को परम्परा से साधने वाला, ऐसे सराग-चारित्र को कहते है —

गाथार्थ —अशुभ कार्य मे निवृत्ति (दूर होना) और शुभ कार्य मे प्रवृत्ति, उसको (व्यवहार) चारित्र जानो । श्री जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार नय से उस चारित्र को ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिस्वरूप कहा है ॥ ४५ ॥

वृत्त्यर्थ —इसी सराग-चारित्र के एक देश अवयवरूप देशचारित्र को कहते हैं । वह इस प्रकार है-मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर अथवा अध्यात्म भाषा के अनुसार निज-शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणाम होने पर, शुद्ध-आत्म-भावना से उत्पन्न निर्विकार यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके, ससार शरीर और भोगो मे जो हेयबुद्धि है, वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध चतुर्थ गुणस्थानवाला व्रतरहित दार्शनिक है । जो अप्रत्याख्यानावरण द्वितीयकषाय के क्षयोपशम होने पर, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाच स्थावरो के वध मे प्रवृत्त होते हुए भी अपनी

तस्यैकादशभेदा: कथ्यन्ते । तथाहि—सम्यक्त्वपूर्वकत्वेन मद्यमांसमधुत्यागोदुम्बरपञ्चकपरिहाररूपाष्टमूलगुणसहित. सन् सग्रामादिप्रवृत्तोऽपि पापर्द्धचादिभिर्निष्प्रयोजनजीवघातादो निवृत्त प्रथमो दार्शनिकश्रावको भण्यते । स एव सर्वथा त्रसवधे निवृत्त. सन् पञ्चाणुव्रतत्रयगुणव्रतशिक्षाव्रतचतुष्टयसहितो द्वितीयव्रतिकसञ्ज्ञो भवति । स एव त्रिकालसामायिके प्रवृत्त तृतीय, प्रोषधोपवासे प्रवृत्तश्चतुर्थ, सचित्तपरिहारेण पञ्चम, दिवा ब्रह्मचर्येण षष्ठ, सर्वथा ब्रह्मचर्येण सप्तम, आरम्भादिसमस्तव्यापारनिवृत्तोऽष्टम, वस्त्रप्रावरण विहायान्यसर्वपरिग्रहनिवृत्तोनवम', गृहव्यापारादिसर्वसावद्यानुमतनिवृत्तो दशम', उद्दिष्टाहारनिवृत्त एकादशम इति । एतेष्वेकादशश्रावकेषु मध्ये प्रथमपट्क तारतम्येन जघन्यम्, ततश्च त्रय मध्यमम्, ततो द्वयमुत्तममिति सक्षेपेण दार्शनिकश्रावकाद्येकादशभेदा ज्ञातव्या ।

अथैकदेशचारित्रव्याख्यानानन्तर सकलचारित्रमुपदिशति । "असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त" अशुभान्निवृत्ति शुभे प्रवृत्तिश्चापि जानीहि चारित्रम् । तत्र

शक्ति अनुसार त्रसजीवो के वध से निवृत्त होता है (अर्थात् यथाशक्ति त्रसजीवो की हिंसा नहीं करता है), उसको पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक कहते है ।

उस पंचम गुणस्थानवर्त्ती श्रावक के ११ भेद कहते हैं । सम्यग्दर्शन-पूर्वक मद्य, मास, मधु और पाच उदम्बर फलो के त्यागरूप आठ मूलगुणो को पालता हुआ जो जीव युद्धादि मे प्रवृत्त होने पर भी, पाप को वढाने वाले शिकार आदि के समान विना प्रयोजन जीवघात नही करता, उसको प्रथम दार्शनिक श्रावक कहते हैं । वही दार्शनिक श्रावक जव त्रसजोव की हिंसा से सर्वथा रहित होकर पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो का आचरण करता है तव 'व्रती' नामक दूसरा श्रावक होता है । वही जव त्रिकाल सामायिक मे प्रवृत्त होता है तव तीसरी प्रतिमाधारी, प्रोषध-उपवास मे प्रवृत्त होने पर चौथी प्रतिमाधारी, सचित्त व त्याग से पाचवी प्रतिमा, दिन मे ब्रह्मचर्य धारण करने से छठी प्रतिमा, सर्वथा ब्रह्मचर्य को धारण करने से सप्तम प्रतिमा, आरम्भ आदि सम्पूर्ण व्यापार के त्याग से अष्टम प्रतिमा, पहनने-ओढने के वस्त्रो के अतिरिक्त अन्य सव परिग्रहो को त्यागने से नवमी प्रतिमा, घर-व्यापार आदि सम्वन्धी समस्त सावद्य (पापजनक) कार्यों मे सम्मति (सलाह) देने के त्याग से दशमी प्रतिमा, और उद्दिष्ट आहार से त्याग से ग्यारहवी प्रतिमा का धारक श्रावक होता है । इन ग्यारह प्रकार के श्रावको मे, पहली छः प्रतिमा वाले तारतम्यता से जघन्य श्रावक हैं, सातवी, आठवी और नवमी इन तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं, दसवी और ग्यारहवी प्रतिमाओ के धारक उत्तम श्रावक है । इस प्रकार सक्षेप से देशचारित्र के दार्शनिक आदि ग्यारह भेद जानने चाहियें ।

अव इस एक देश चारित्र के व्याख्यान के अनन्तर सकलचारित्र को कहते हैं—"असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त" हे शिष्य ! अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ मे जो प्रवृत्ति है,

कथम्भूत ? 'वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणयादु जिणभणिय' व्रतसमितिगुप्तिरूप व्यवहारनयाज्जिनैरुक्तमिति । तथाहि प्रत्याख्यानावरणसञ्ज्ञतृतीयकषायक्षयोपशमे सति "विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो । उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ १ ॥" इति गाथाकथितलक्षणादशुभोपयोगान्निवृत्तिस्तद्विलक्षणे शुभोपयोगे प्रवृत्तिश्च हे शिष्य चारित्र जानीहि । तच्चाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पञ्चमहाव्रतपञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसयमाख्य शुभोपयोगलक्षण सरागचारित्राभिधान भवति । तत्र योऽसौ वहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्याग स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण यश्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहार स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति नयविभागो ज्ञातव्य । एव निश्चयचारित्रसाधक व्यवहारचारित्र व्याख्यातमिति ॥ ४५ ॥

अथ तेनैव व्यवहारचारित्रेण साध्य निश्चयचारित्र निरूपयति :—

बहिरब्भतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठ ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं त परम सम्मचारित्त ॥४६॥

बहिरभ्यन्तरक्रियारोधः भवकारणप्रणाशार्थम् ।
ज्ञानिनः यत् जिनोक्तम् तत् परमं सम्यक्चारित्रम् ॥४६॥

उसको चारित्र जानो । वह कैसा है ? "वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणादु जिणभणिय" व्रत-समिति-गुप्तिरूप है, व्यवहार नय मे श्री जिनेन्द्र ने ऐसा कहा है । वह इस प्रकार है—प्रत्याख्यानावरण नामक तीसरी कषाय के क्षयोपशम होने पर "जिसका उपयोग विषय-कषायो मे मग्न है,दु श्रुति (विकथा), दुष्टचित्त और दुष्ट गोष्ठी (बुरी सगति), उग्र तथा उन्मार्ग (बुरे मार्ग) मे तत्पर है, वह जीव अशुभ मे स्थित है । १ ।" "इस गाथा मे कहे हुए अशुभोपयोग से छूटना और उक्त अशुभोपयोग से विलक्षण (उल्टा) शुभोपयोग मे प्रवृत्त होना" हे शिष्य ! उसको तुम चारित्र जानो । आचार-आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रो मे कहे अनुसार वह चारित्र पाच महाव्रत, पाच समिति व तीन गुप्तिरूप है, तो भी अपहृतसयम नामक शुभोपयोग लक्षणवाला सरागचारित्र होता है । उसमे भी बाह्य मे जो पाचो इन्द्रियो के विषय आदि का त्याग है, वह उपचरित—असद्भूत-व्यवहार नय से चारित्र है और अतरंग मे जो राग आदि का त्याग है, वह अशुद्ध निश्चय नय मे चारित्र है । इस तरह नय-विभाग जानना चाहिये । ऐसे निश्चयचारित्र को साधने वाले व्यवहारचारित्र का व्याख्यान किया ॥ ४५ ॥

अब उसी व्यवहारचारित्र मे साध्य निश्चयचारित्र का निरूपण करते है :—

गाथार्थ —ससार के कारणो को नष्ट करने के लिये ज्ञानी जीव के जो बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं का निरोध है, श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ वह उत्कृष्ट सम्यक्चारित्र है ॥ ४६ ॥

वृत्त्यर्थ —'त' वह 'परम' परम उपेक्षा लक्षण वाला (ससार, शरीर, असयम आदि मे

व्याख्या--'न' तत् 'परम' परमोपेक्षालक्षण निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकशुद्धोपयोगाविनाभूत परम 'सम्मचारित्त' सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम् । तत्कि-'वहिरब्भंतरकिरियारोहो' निष्क्रियनित्यनिरञ्जनविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य निजात्मन प्रतिपक्षभूतस्य वहिर्विषये शुभाशुभवचनकायव्यापाररूपस्य तथैवाभ्यन्तरे शुभाशुभमनोविकल्परूपस्य च क्रियाव्यापारस्य योऽसौ निरोधस्त्याग, स च किमर्थं ? 'भवकारणप्पणासट्ठं' पञ्चप्रकारभवातीतनिर्दोषपरमात्मनो विलक्षणस्य भवस्य ससारस्य व्यापारकारणभूतो योऽसौ शुभाशुभकर्मास्रवस्तस्य प्रणाशार्थं विनाशार्थमिति । इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्र कस्य भवति ? "णाणिस्स" निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिन । पुनरपि किं विशिष्ट ? "ज जिणुत्तं" यज्जिनेन वीतरागसर्वज्ञेनोक्तमिति । एव वीतरागसम्यक्त्वज्ञानाविनाभूत निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्ग तृतीयावयवरूप वीतरागचारित्र व्याख्यातम् ॥ ४६ ॥

इति द्वितीयस्थले गाथाष्टक गतम् ।

एव मोक्षमार्गप्रतिपादकतृतीयाधिकारमध्ये निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसक्षेपकथनेन सूत्रद्वयम्, तदनन्तरं तस्यैव मोक्षमार्गस्यावयवभूताना सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणा विशेषविवरणरूपेण सूत्रषट्कं चेति स्थलद्वयसमुदायेनाष्टगाथाभि प्रथमोऽन्तराधिकार समाप्त ।

अनादर) तथा निर्विकार स्वसवेदनरूप शुद्धोपयोग का अविनाभूत उत्कृष्ट 'सम्मचारित्त' सम्यक्चारित्र जानना चाहिए । वह क्या ? 'वहिरब्भंतरकिरियारोहो' नि क्रिय-नित्य-निरजन-निर्मल ज्ञानदर्शन स्वभाव वाली निज-आत्मा से प्रतिपक्षभूत (प्रतिकूल), वाह्य मे वचन काय के शुभाशुभ व्यापाररूप, अतरङ्ग मे मन के शुभाशुभ विकल्परूप, ऐसी क्रियाओ के व्यापार का निरोध (त्याग), चारित्र है । वह चारित्र किस लिए है ? 'भवकारणप्पणासट्ठं' पाच प्रकार के ससार से रहित निर्दोष परमात्मा से विलक्षण जो ससार, उस संसार के व्यापार का कारणभूत शुभ-अशुभ कर्म-आस्रव, उस आस्रव के विनाश के लिये चारित्र है । ऐसा वाह्य, अन्तरङ्ग क्रियाओ के त्यागरूप चारित्र किसके होता है ? 'णाणिस्स' निश्चय रत्नत्रय स्वरूप अभेदज्ञानी जीव के ऐसा चारित्र होता है । वह चारित्र फिर कैसा है ? 'जं जिणुत्त' वह चारित्र जिनेन्द्रदेव वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ है । इस प्रकार वीतराग सम्यक्त्व व ज्ञान का अविनाभूत तथा निश्चयरत्नत्रय स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग का तीसरा अवयवरूप वीतराग चारित्र का व्याख्यान हुआ । ४६ । ऐसे दूसरे स्थल मे छ गाथाये समाप्त हुई ।

इस प्रकार मोक्षमार्ग को प्रतिपादन करने वाले तीसरे अधिकार मे निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्ग के सक्षेप कथन से दो सूत्र और तदनन्तर उसी मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विशेष व्याख्यान रूप से छः सूत्र है । इस प्रकार दो स्थलो के समुदायरूप आठ गाथाओ द्वारा प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अत, पर ध्यानध्यातृध्येयध्यानफलकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं, तत परं पञ्चपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चक, ततश्च तस्यैव ध्यानस्योपसंहाररूपविशेषव्याख्यानेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयमिति स्थलत्रयसमुदायेन द्वादशसूत्रेषु द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

तथाहि--निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसाधकध्यानाभ्यास कुरुत यूयमित्युपदिशति --

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।

तह्मा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

द्विविध अपि मोक्षहेतु ध्यानेन प्राप्नोति यत् मुनिः नियमात् ।

तस्मात् प्रयत्नचित्ता' यूय ध्यान समभ्यसत ॥४७॥

व्याख्या--"दुविहं पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा" द्विविधमपि मोक्षहेतु ध्यानेन प्राप्नोति यस्मात् मुनिर्नियमात् । तद्यथा—निश्चयरत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षहेतुं निश्चयमोक्षमार्गं तथैव व्यवहाररत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षहेतुं व्यवहारमोक्षमार्गं च य साध्यसाधकभावेन कथितवान् पूर्व, तद् द्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनि' प्राप्नोति यस्मात्कारणात् "तह्मा पयत्तचित्ता जूय झाण समब्भसह" तस्मात्

अब इसके आगे ध्यान, ध्याता (ध्यान करने वाला), ध्येय (ध्यान करनेयोग्य पदार्थ) और ध्यान का फल इनके वर्णन की मुख्यता से प्रथम स्थल मे तीन गाथाये, तदनन्तर पचपरमेष्ठियो के व्याख्यान रूप से दूसरे स्थल मे पाच गाथाये, और इसके पश्चात् उसी ध्यान के उपसहाररूप विशेष व्याख्यान द्वारा तीसरे स्थल मे चार गाथाये, इस प्रकार तीन स्थलो के समुदाय से बारह गाथासूत्रमयी दूसरे अंतराधिकार की समुदाय रूप भूमिका है ।

तथाहि—निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग को साधने वाले ध्यान का अभ्यास करो ऐसा उपदेश देते हैं —

गाथार्थ —ध्यान करने मे मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग को पाते है। इस कारण तुम चित्त को एकाग्र करके उस ध्यान का भले प्रकार अभ्यास करो । ४७ ।

वृत्त्यर्थ .—'दुविहं पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा' क्योकि मुनि नियम से ध्यान द्वारा दोनो के मोक्ष-कारणो को प्राप्त होते है। विशेष—निश्चय-रत्नत्रय-स्वरूप निश्चय-मोक्ष कारण अर्थात् निश्चय मोक्ष-मार्ग और इसी प्रकार व्यवहार-रत्नत्रय-स्वरूप व्यवहार-मोक्षहेतु अर्थात् व्यवहार-मोक्षमार्ग, जिनको साध्यसाधक भाव मे (निश्चय-साध्य और व्यवहार-साधक है) पहले कहा है, उन दोनो प्रकार के मोक्षमार्गों को, क्योकि मुनि निर्विकार स्वसवेदन स्वरूप परमध्यान द्वारा प्राप्त होते हैं, 'तह्मा पयत्तचित्ता जूय झाण समब्भसह' इसी कारण एकाग्रचित्त होकर हे भव्यजनो ! तुम भले प्रकार से ध्यान का अभ्यास करो, अथवा इसी कारण देखे-सुने और अनुभव किये हुए अनेक मनो-

प्रयत्नचित्ता सन्तो हे भव्या यूय ध्यान सम्यगभ्यासत । तथा हि—तस्मात्कारणात् दृष्टश्रु-तानुभूतनानामनोरथरूपसमस्तशुभाशुभरागादिविकल्पजाल त्यक्त्वा, परमस्वास्थ्यसमुत्पन्नस-हजानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवे स्थित्वा च ध्यानाभ्यास कुरुत यूयमिति ॥ ४७ ॥

अथ ध्यातृ-पुरुषलक्षण कथयति —

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु ।

थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥४८॥

मा मुह्यत मा रज्यत मा द्विष्यत इष्टानिष्टार्थेषु ।

स्थिर इच्छत यदि चित्त विचित्रध्यानप्रसिद्ध्यै ॥४८॥

व्याख्या—"मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह" समस्तमोहरागद्वेषजनितविकल्पजा-लरहितनिजपरमात्मतत्त्वभावनासमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृत रसात्मकाशादुद्गता स-जाता तत्रैव परमात्मसुखास्वादे लीना तन्मया या तु परमकला परमसविन्तिस्तत्र स्थित्वा हे भव्या मोहरागद्वेषान्मा कुरुत । केषु विषयेषु ? "इट्ठणिट्ठअट्ठेसु" स्रग्वनिताचन्दनताम्बूला-दय इष्टेन्द्रियार्था, अहिविषकण्टकशत्रुव्याधिप्रभृतय पुनरनिष्टेन्द्रियार्थास्तेषु । यदि किम ? "थिरमिच्छहि जइ चित्त" तत्रैव परमात्मानुभवे स्थिर निश्चल चित्त यदीच्छत यूयं । किमर्थम् ? "विचित्तझाणप्पसिद्धीए" विचित्र नानाप्रकार यद्ध्यान तत्प्रसिद्ध्यै निमित्त ।

रथ रूप शुभाशुभ राग आदि विकल्प समूह का त्याग करके तथा परम-निज-स्वरूप मे स्थित होने से उत्पन्न हुए सहज-आनन्दरूप एक-लक्षण वाले सुखरूपी अमृतरस के आस्वाद के अनुभव मे स्थित हो कर, तुम ध्यान का अभ्यास करो ॥ ४७ ॥

अब ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण कहते है –

गाथार्थ —यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान की सिद्धि के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट इन्द्रियो के विषयो राग-द्वेष और मोह मत करो ॥ ४८ ॥

वृत्यर्थ —"मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह" समस्त मोह, राग-द्वेष से उत्पन्न विकल्प समूह से रहित निज परमात्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न हुआ एक परमानन्दरूप सुखामृतरस मे उत्पन्न हुई और उसी परमात्मा के सुख के आस्वाद मे लीनरूप जो परम कला अर्थात् परमसवित्ति (आत्मस्वरूप का अनभव), उसमे स्थित होकर, हे भव्य जीवो ! मोह, राग द्वेप को मत करो । किनमे मोह-राग द्वेष मत करो ? "इट्ठणिट्ठअट्ठेसु" माला, स्त्री, चन्दन, ताम्बूल आदिरूप इन्द्रियो के इष्ट विषयो मे व सर्प, विष, काटा, शत्रु तथा रोग आदि इन्द्रियो के अनिष्ट विषयो मे राग-द्वेष मत करो, "थिर-मिच्छहि जइ चित्तं" यदि उसी परमात्मा के अनुभव मे तुम निश्चल चित्त को चाहते हो । किसलिये स्थिर चित्त को चाहते हो ? "विचित्तझाणप्पसिद्धीए" विचित्र अर्थात् अनेक तरह के ध्यान की सिद्धि

अथवा विगत चित्तं चित्तोद्भवशुभाशुभविकल्पजालं यत्र तद्विचित्तं ध्यानम् तदर्थमिति ।

इदानीं तस्यैव ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदा कथ्यन्ते । तथाहि—इष्टवियोगानिष्टसंयोगव्याधिप्रतीकारभोगनिदानेषु वाञ्छारूपं चतुर्विधमार्त्तध्यानम् । तच्च तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिषट्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम् । यद्यपि मिथ्यादृष्टीनां तिर्यग्गतिकारणं भवति तथापि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां न भवति । कस्मादिति चेत् ? स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति विशिष्टभावनाबलेन तत्कारणभूतसंक्लेशाभावादिति ।

अथ रौद्रध्यानं कथ्यते—हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयानन्दविषयसंरक्षणानन्दप्रभवं रौद्रं चतुर्विधम् । तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चमगुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भवम् । तच्च मिथ्यादृष्टीनां नरकगतिकारणमपि बद्धायुष्कं विहाय सम्यग्दृष्टीनां तत्कारणं न भवति । तदपि कस्मादिति चेत् ? निजशुद्धात्मतत्त्वमेवोपादेयमिति विशिष्टभेदज्ञानबलेन तत्कारणभूततीव्रसंक्लेशाभावादिति ।

के लिये । अथवा जहां पर चित्त से उत्पन्न होने वाला शुभ–अशुभ विकल्प समूह दूर हो गया है, सो 'विचित्त ध्यान' है, उस विचित्त ध्यान की सिद्धि के लिये ।

अब प्रथम ही आगमभाषा के अनुसार उसी ध्यान के नानाप्रकार के भेदों का कथन करते हैं वह इस प्रकार है इष्ट–वियोग, अनिष्ट–संयोग और रोग इन तीनों को दूर करने में तथा भोगों व भोगों के कारणों में वांछारूप चार प्रकार का आर्त्तध्यान है (इष्ट का वियोग १, अनिष्ट का संयोग २, रोग ३, इनके होने पर इनके दूर करने की इच्छा करना और भोगनिदानों की वांछा करना ४) । वह आर्त्तध्यान तारतमता से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से प्रमत्तगुणस्थान तक के जीवों के होता है । वह आर्त्तध्यान यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीवों के तिर्यंच गति के बंध का कारण होता है तथापि जिस जीव के सम्यक्त्व से पहले तिर्यंच–आयु बंध चुकी, उसको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टि के वह आर्त्तध्यान तिर्यंचगति का कारण नहीं है । शङ्का—क्यों नहीं है ? उत्तर—'निज शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है' ऐसी भावना के कारण सम्यग्दृष्टि जीवोंके तिर्यंचगति का कारणरूप संक्लेश नहीं होता ।

अब रौद्रध्यान को कहते हैं । रौद्रध्यान—हिंसानन्द (हिंसा करने में आनंद मानना) १, मृषानन्द (झूठ बोलने में आनन्द मानना) २, स्तेयानन्द (चोरी करने में प्रसन्न होना) ३, विषयसंरक्षणानन्द (परिग्रह की रक्षा में आनन्द मानना) ४ के भेद से चार प्रकार का है । वह मिथ्यादृष्टि से पंचम गुणस्थान तक के जीवों के तारतमता से होता है । रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकगति का कारण है, तो भी जिस जीव ने सम्यक्त्व से पूर्व नरकायु बांध ली है उसके अतिरिक्त अन्य सम्यग्दृष्टियों के वह रौद्रध्यान नरकगति का कारण नहीं होता । प्रश्न—ऐसा क्यों है ? उत्तर—सम्यग्दृष्टियों के 'निजशुद्ध-आत्म-तत्त्व ही उपा–देय है' इस प्रकार के विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नरकगति का कारणभूत तीव्र संक्लेश नहीं होता ।

अत परम् आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसस्थानविचयसज्ञचतुर्भेदभिन्न, तारतम्यवृद्धिक्रमेणासयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसयताप्रमत्ताभिधानचतुर्गुणस्थानवर्त्तिजीवसम्भव, मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धकारणमपि परम्परया मुक्तिकारण चेति धर्मध्यान कथ्यते। तथाहि—स्वय मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्यायाभावे अपि शुद्धजीवादिपदार्थाना सूक्ष्मत्वेऽपि सति "सूक्ष्मं जिनोदित वाक्यं हेतुभिर्यन्न हन्यते। आज्ञासिद्ध तु तद्ग्राह्य नान्यथावादिनो जिना ॥ १॥" इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थनिश्चयकरणमाज्ञाविचयध्यान भण्यते। तथैव भेदाभेदरत्नत्रयभावनाबलेनास्माक परेषा वा कदा कर्मणामपायो विनाशो भविष्यतीति चिन्तनमपायविचय ज्ञातव्यम्। शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मविपाकरहितोऽप्यय जीव पश्चादनादिकर्मबन्धवशेन पापस्योदयेन नारकादिदुःखविपाकफलमनुभवति, पुण्योदयेन देवादिसुखविपाकमनुभवतीति विचारणं विपाकविचयं विज्ञेयम्। पूर्वोक्तलोकानुप्रेक्षाचिन्तनं संस्थानविचयम्। इति चतुर्विध धर्मध्यान भवति।

अथ पृथक्त्ववितर्कवीचारं एकत्ववितर्कावीचार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसज्ञ व्युपरतक्रियानिवृत्तिसज्ञ चेति भेदेन चतुर्विधं शुक्लध्यान कथयति। तद्यथा—पृथक्त्ववितर्कवीचारं

इसके आगे आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान के त्यागरूप, १, आज्ञाविचय, २, अपायविचय, ३, विपाकविचय और ४, सस्थानविचय इन चार भेदवाला तारतम वृद्धि के क्रम से असयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्त इन चार गुणस्थान वाले जीवो के होनेवाला, और प्रधानता से पुण्यबध का कारण होने पर भी परम्परा से मोक्ष का कारणभूत, ऐसा धर्मध्यान कहा जाता है। वह इस प्रकार है—स्वय अल्पबुद्धि हो तथा विशेप ज्ञानी गुरु की प्राप्ति न हो तब शुद्ध जीव आदि पदार्थों की सूक्ष्मता होने पर, 'श्री जिनेन्द्र का कहा हुआ जो सूक्ष्म तत्त्व है वह हेतुओ से खण्डित नहीं हो सकता अत. जो सूक्ष्म तत्व है उसको जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार ग्रहण करना चाहिये। क्योकि श्रीजिनेन्द्र अन्यथावादी (झूठा उपदेश देनेवाले) नही हैं। १ ।' इस श्लोक के अनुसार पदार्थ का निश्चय करना 'आज्ञाविचय' प्रथम धर्मध्यान कहलाता है। उसी प्रकार भेद—अभेद—रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे अथवा अन्य जीवो के कर्मों का नाश कब होगा, इस प्रकार का चिन्तवन 'अपायविचय' दूसरा धर्मध्यान जानना चाहिये। शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुभ—अशुभ कर्मों के उदय से रहित है, फिर भी अनादि कर्म-बन्ध के कारण पाप के उदय से नारक आदि के दुःखरूप फल का अनुभव करता है और पुण्य के उदय से देव आदि के सुखरूप विपाक को भोगता है, इस प्रकार विचार करना सो 'विपाकविचय' तीसरा धर्मध्यान जानना चाहिये। पहले कही हुई लोकानुप्रेक्षा का चिंतवन करना, 'सस्थानविचय' चौथा धर्मध्यान है। इस तरह चार प्रकार का धर्मध्यान होता है।

अब १. पृथक्त्ववितर्कवीचार, २ एकत्ववितर्क अवीचार, ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति, ऐसे चार प्रकार के शुक्लध्यान को कहते हैं। 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' प्रथम शुक्लध्यान

तावत्कथ्यते । द्रव्यगुणपर्यायाणा भिन्नत्वं पृथक्त्व भण्यते, स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुत तद्वाचकमन्तर्जल्पवचन वा वितर्को भण्यते, अनीहितवृत्त्यार्थान्तरपरिणमनम् वचनाद्वचनान्तरपरिणमनम् मनोवचनकाययोगेषु योगाद्योगान्तरपरिणमन वीचारो भण्यते । अयमत्रार्थ — यद्यपि ध्याता पुरुष स्वशुद्धात्मसवेदन विहाय बहिश्चिन्ता न करोति तथापि यावतांशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावतांशेनानीहितवृत्त्या विकल्पा स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यान भण्यते । तच्चोपशमश्रेणिविवक्षायामपूर्वोपशमकानिवृत्त्युपशमकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकोपशान्तकषायपर्यन्तगुणस्थानचतुष्टये भवति । क्षपकश्रेण्या पुनरपूर्वकरणक्षपकानिवृत्तिकरणक्षपकसूक्ष्मसाम्परायक्षपकाभिधानगुणस्थानत्रये चेति प्रथम शुक्लध्यान व्याख्यातम् ।

निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्त तत्रैव वितर्कसज्ञेन स्वसवित्तिलक्षणभावश्रुतवशेन स्थिरीभूयावीचार गुणद्रव्यपर्यायपरावर्त्तनं न करोति यत्तदेवकत्ववितर्कावीचारसंज्ञ क्षीणकषायगुणस्थानसम्भवं द्वितीयं शुक्लध्यानं भण्यते । तेनैव केवलज्ञानोत्पत्ति इति । अथ सूक्ष्मकायक्रियाव्यापाररूप च तदप्रतिपाति च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिसंज्ञ तृतीय शुक्लध्यानम् । तच्चोपचारेण सयोगिकेव-

---

का कथन करते है । द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपने को 'पृथक्त्व' कहते है । निज-शुद्ध-आत्मा का अनुभवरूप भावश्रुत को और निज-शुद्ध-आत्मा को कहनेवाले अन्तरजल्परूप वचन को 'वितर्क' कहते है । इच्छा विना ही एक अर्थ से दूसरे अर्थ मे, एक वचन से दूसरे वचन मे, मन वचन काय इन तीनो योगो मे से किसी एक योग से दूसरे योग मे, जो परिणमन (पलटन) है, उसको 'वीचार' कहते है । इसका यह अर्थ है—यद्यपि ध्यान करने वाला पुरुष निज-शुद्ध-आत्मसंवेदन को छोडकर बाह्य पदार्थो की चिन्ता नही करता, तथापि जितने अंशो से अनिच्छितवृत्ति से विकल्प उत्पन्न होते है, इस कारण इस ध्यान को 'पृथक्त्ववितर्कवीचार' कहते है । यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणी की विवक्षा मे अपूर्वकरण–उपशमक, अनिवृत्तिकरणउपशमक, सूक्ष्मसाम्पराय-उपशमक और उपशान्तकषाय, इन (८, ९, १०, ११) चार गुणस्थानो मे होता है । क्षपकश्रेणी की विवक्षा मे अपूर्वकरणक्षपक, अनिवृत्तिकरणक्षपक और सूक्ष्मसाम्परायक्षपक नामक, (८, ९, १०) इन तीन गुणस्थानो मे होता है । इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यान का व्याख्यान हुआ ।

निज-शुद्ध-आत्मद्रव्य मे या विकार रहित आत्मसुख-अनुभवरूप पर्याय मे, या उपाधिरहित स्वसवेदन गुण मे, इन तीनो मे से जिस एक द्रव्य, गुण या पर्याय मे (जो ध्यान) प्रवृत्त होगया और उसी मे वितर्क नामक निजात्मानुभवरूप भावश्रुत के बल से स्थिर होकर अवीचार अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्याय मे परावर्त्तन नही करता, वह "एकत्ववितर्क अवीचार" नामक, क्षीणकषाय (१२ वें) गुणस्थान मे होनेवाला, दूसरा शुक्लध्यान कहलाता है । इस दूसरे शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान मे उत्पत्ति होती है । अब सूक्ष्म काय की क्रिया के व्यापाररूप और अप्रतिपाति (कभी न गिरे) ऐसा "सूक्ष्म-

लिजिने भवतीति । विशेषेणोपरता निवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरतक्रियं च तदनिवृत्ति चानिवर्तकं च तद्व्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञं चतुर्थं शुक्लध्यानं । तच्चोपचारेणायोगिकेवलिजिने भवतीति । इति संक्षेपेणागमभाषया विचित्रध्यानं व्याख्यातम् ।

अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावनारूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते । पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरङ्गधर्मध्यानं भवति । तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानम् इति । अथवा "पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम् । रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥१॥" इति श्लोककथितक्रमेण विचित्रध्यानं ज्ञातव्यमिति ।

अथ ध्यानप्रतिबन्धकानां मोहरागद्वेषाणां स्वरूपं कथ्यते । शुद्धात्मादितत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशजनको मोहो दर्शनमोहो मिथ्यात्वमिति यावत् । निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणवीतरागचारित्रप्रच्छादकचारित्रमोहो रागद्वेषौ भण्येते । चारित्रमोहो शब्देन रागद्वेषौ कथं भण्येते ? इति चेत्—कषायमध्ये क्रोधमानद्वयं द्वेषाङ्गम्, मायालोभद्वयं च रागाङ्गम्, नोक-

---

क्रियाप्रतिपाति" नामक तीसरा शुक्लध्यान है। वह उपचार से सयोगिकेवलिजिन (१३ वें) गुणस्थान में होता है। विशेषरूप से उपरत अर्थात् दूर होगई है क्रिया जिसमे वह व्युपरतक्रिय है, व्युपरतक्रिय हो और अनिवृत्ति अर्थात् निवृत्ति न हो (मुक्त न हुआ हो), वह "व्युपरतक्रियानिवृत्ति" नामा चतुर्थ शुक्लध्यान है। वह उपचार से अयोगि केवली जिन के (१४ वें गुणस्थान में) होता है। आगम भाषा से नाना प्रकार के ध्यानों का संक्षेप से कथन हुआ।

अध्यात्म भाषा में, सहज-शुद्ध-परम-चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्द का धारी भगवान निज आत्मा में उपादेयबुद्धि (निज-शुद्ध-आत्मा ही ग्राह्य है) करके, फिर 'मैं अनन्त ज्ञानमयी हूँ, मैं अनन्त सुखरूप हूं' इत्यादि भावनारूप अन्तरङ्ग धर्मध्यान है। पञ्चपरमेष्ठियों की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल शुभ अनुष्ठान का करना बहिरङ्ग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज-शुद्ध-आत्मा में विकल्परहित समाधिरूप शुक्लध्यान है अथवा "मन्त्रवाक्यों में स्थित 'पदस्थध्यान' है, निज आत्मा का चिंतवन 'पिण्डस्थध्यान' है, सर्वचिद्रूप का चिन्तवन 'रूपस्थध्यान' है और निरंजन का ध्यान 'रूपातीत ध्यान' है ।१। इस श्लोक में कहे हुए क्रम के अनुसार अनेक प्रकार का ध्यान जानना चाहिये।

अब ध्यान के प्रतिबन्धक (रोकनेवाले) मोह, राग तथा द्वेष का स्वरूप कहते हैं। शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न करनेवाला मोह, दर्शनमोह अथवा मिथ्यात्व है। निर्विकार निज-आत्मानुभवरूप वीतराग चारित्र को ढकने वाला चारित्रमोह अथवा राग-द्वेष कहलाता है। प्रश्न-चारित्रमोह शब्द से राग द्वेष कैसे कहे गये? उत्तर—कषायों में क्रोध-मान ये दो द्वेष अंश हैं और

पायमध्ये तु स्त्रीपुंनपुंसकवेदत्रयं हास्यरतिद्वयं च रागाङ्गम्, अरतिशोकद्वयं भयजुगुप्साद्वयं च द्वेषाङ्गमिति ज्ञातव्यम्। अत्राह शिष्यः—रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिता इति? तत्रोत्तरम्—स्त्री-पुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्नवर्णविशेष इवोभय-संयोगजनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति। स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अथ मतम्—साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयम्। तत्रोत्तरम्—साक्षाच्छुद्धनिश्चयेन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरङ्गविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति। एवं ध्यातृव्याख्यानमुख्यत्वेन तद्व्याजेन विचित्रध्यानकथनेन च सूत्रं गतम् ॥ ४८ ॥

अत ऊर्ध्वं पदस्थं ध्यानं मन्त्रवाक्यस्थं यदुक्तं तस्य विवरणं कथयति—

पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह ज्झाएह।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥

माया-लोभ ये दोनों राग अंश है। नोकषायों में स्त्रीवेद, पुंवेद नपुंसकवेद ये तीन तथा हास्य-रति ये दो, ऐसी पांच नोकषाय राग के अंश, अरति—शोक ये दो, भय तथा जुगुप्सा ये दो, इन चार नोकषायों को द्वेष का अंग जानना चाहिये।

शिष्य पूछता है—राग-द्वेष आदि, कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से? इसका उत्तर—स्त्री और पुरुष इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र के समान, चूना तथा हल्दी इन दोनों के मेल से उत्पन्न हुए लाल रङ्ग की तरह, राग द्वेष आदि जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। नय की विवक्षा के अनुसार, विवक्षित एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से तो राग-द्वेष कर्मजनित कहलाते हैं। अशुद्ध-निश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं। यह अशुद्ध-निश्चयनय, शुद्ध-निश्चयनय, की अपेक्षा से व्यवहारनय ही है। शङ्का—साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय से ये राग-द्वेष किसके हैं, ऐसा हम पूछते हैं? समाधान—स्त्री और पुरुष के संयोग बिना पुत्र की अनुत्पत्ति की भांति और चूना व हल्दी के संयोग बिना लाल रङ्ग की अनुत्पत्ति के समान, साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से इन राग द्वेषादि की उत्पत्ति ही नहीं होती। इसलिये हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर ही कैसे देवें। (जैसे पुत्र न केवल स्त्री से ही होता है और न केवल पुरुष से ही होता है, किन्तु स्त्री व पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है, इसी प्रकार राग द्वेष आदि न केवल कर्मजनित ही है और न केवल जीवजनित ही है, किन्तु जीव और कर्म इन दोनों के संयोगजनित है। साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की दृष्टि में जीव और पुद्गल दोनों शुद्ध हैं और इनके संयोग का अभाव है। इसलिये साक्षात् शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा राग द्वेष आदि की उत्पत्ति ही नहीं है)। इस प्रकार ध्याता (ध्यान करनेवाले) के व्याख्यान की प्रधानता से तथा उसके आश्रय से विचित्र ध्यान के कथन से यह गाथासूत्र समाप्त हुआ ॥ ४८ ॥

पञ्चत्रिंशत् षोडश षट् पञ्च चत्वारि द्विक एकं च जपत ध्यायत ।
परमेष्ठिवाचकानां अन्यत् च गुरूपदेशेन ॥ ४६ ॥

व्याख्या—"पणतीस" 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' एतानि पञ्चत्रिंशदक्षराणि सर्वपदानि भण्यन्ते । "सोल" 'अरिहंत-सिद्ध-आयरिय-उवज्झाय-साहू' एतानि षोडशाक्षराणि नामपदानि भण्यन्ते । "छ" 'अरिहन्तसिद्ध' एतानि षडक्षराणि अर्हत्सिद्धयोर्नामपदे द्वे भण्येते । 'पण' 'अ सि आ उ सा' एतानि पञ्चाक्षराणि आदिपदानि भण्यन्ते । 'चउ' 'अरिहंत' इत्यक्षरचतुष्टयमर्हतो नामपदम् । 'दुग' 'सिद्ध' इत्यक्षरद्वयं सिद्धस्य नामपदम् । 'एग च' 'अ' इत्येकाक्षरमर्हत आदिपदम् । अथवा 'ओं' एकाक्षरं पञ्चपरमेष्ठिनामादिपदम् । तत्कथमिति चेत् ? 'अरिहंता असरीरा आयरिया तह उवज्झाया मुणिणो । पढमक्खरणिप्पण्णो ओंकारो पंच परमेट्ठी ॥१॥' इति गाथाकथितप्रथमाक्षराणां 'समानः सवर्णे दीर्घीभवति' 'परश्च लोपम्' 'उवर्णे ओ' इति स्वरसन्धिविधानेन 'ओं' शब्दो निष्पद्यते । कस्मादिति ? 'जवह

अब आगे 'मन्त्रवाक्यों में स्थित जो पदस्थ ध्यान कहा गया है, उसका वर्णन करते हैं—

गाथार्थ —पंच परमेष्ठियों को कहनेवाले पैंतीस, सोलह, छ, पांच, चार, दो और एक अक्षर-रूप मन्त्रपद हैं, उनका जाप्य करो और ध्यान करो, इनके अतिरिक्त अन्य मन्त्र—पदों को भी गुरु के उपदेशानुसार जपो और ध्यावो ॥ ४९ ॥

वृत्त्यर्थ —"पणतीस" णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं' ये पैंतीस अक्षर 'सर्वपद' कहलाते हैं । "सोल" 'अरिहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' ये १६ अक्षर पंचपरमेष्ठियों के नाम पद कहलाते हैं । 'छ' 'अरिहंतसिद्ध' ये छः अक्षर—अर्हन्त सिद्ध इन दो परमेष्ठियों के नाम पद कहे जाते हैं । 'पण' 'अ सि आ उ सा' ये पंच अक्षर पंच परमेष्ठियों के आदि पद कहलाते हैं । 'चउ' 'अरिहंत ये चार अक्षर अर्हन्त परमेष्ठी के नामपद हैं । "दुग" 'सिद्ध' ये दो अक्षर सिद्ध परमेष्ठी के नामपद हैं । "एग च" 'अ' यह एक अक्षर अर्हत्परमेष्ठी का आदिपद है, अथवा 'ओं' यह एक अक्षर पांचों परमेष्ठियों के आदि—पदस्वरूप है । प्रश्न—'ओं' यह पंच–परमेष्ठियों के आदिपद रूप कैसे है ? उत्तर—"अरिहंत का प्रथम अक्षर 'अ' अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर 'अ' आचार्य का प्रथम अक्षर 'आ', उपाध्याय का प्रथम अक्षर 'उ', मुनि का प्रथम अक्षर 'म्' इस प्रकार इन पांचों परमेष्ठियों के प्रथम अक्षरों से बना हुआ 'ओंकार' है, वही पंचपरमेष्ठियों के नाम का आदि-पद है ।" इस प्रकार गाथा में कहे हुए जो प्रथम अक्षर (अ अ आ उ म्) हैं, इनमें पहले 'समानः सवर्णे दीर्घी भवति' इस सूत्र से 'अ अ आ' मिलकर दीर्घ 'आ' बनाकर 'परश्च लोपम्' इससे पर अक्षर 'आ' का लोप करके अ अ आ इन तीनों के स्थान में एक 'आ' सिद्ध किया फिर "उवर्णे ओ" इस सूत्र से 'आउ' के स्थान में 'ओ' बनाया ऐसे स्वरसंधि करनेसे 'ओम्' यह शब्द निष्पन्न हुआ । किस कारण ?

ज्झाएह' एतेषां पदानां सर्वमंत्रवादपदेषु मध्ये सारभूतानां इहलोकपरलोकेष्टफलप्रदानामर्थं ज्ञात्वा पश्चादनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण वचनोच्चारणेन च जापं कुरुत । तथैव शुभोपयोगरूपत्रिगुप्तावस्थायां मौनेन ध्यायत । पुनरपि कथम्भूतानां ? 'परमेट्ठिवाचयाण' 'अरिहंत इति पदवाचकमनन्तज्ञानादिगुणयुक्तोऽर्हद्वाच्योऽभिधेय इत्यादिरूपेण पञ्चपरमेष्ठिवाचकानां । 'अण्ण च गुरुवएसेण' अन्यदपि द्वादशसहस्रप्रमितपञ्चनमस्कारग्रन्थकथितक्रमेण लघुसिद्धचक्रं, बृहत्सिद्धचक्रमित्यादिदेवार्चनविधानं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकगुरुप्रसादेन ज्ञात्वा ध्यातव्यम् । इति पदस्थध्यानस्वरूपं व्याख्यातम् ॥४९॥

एवमनेन प्रकारेण 'गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम् । एकाग्रचिन्तनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरौ ॥१॥' इति श्लोककथितलक्षणानां ध्यातृध्येयध्यानफलानां संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथात्रयेण द्वितीयान्तराधिकारे प्रथमं स्थलं गतम् ।

अतः परं रागादिविकल्पोपाधिरहितनिजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादतृप्तिरूपस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतम् यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानं तद्ध्येयभूतानां पंचपरमेष्ठिनां मध्ये तावदर्हत्स्वरूपं कथयामीत्येका पातनिका ।

"जवह ज्झाएह' सब मन्त्रशास्त्र के पदों में सारभूत इस लोक तथा तथा परलोक में इष्ट फल को देने वाले इन पदों का अर्थ जानकर फिर अनन्त-ज्ञान आदि गुणों के स्मरण रूप वचन का उच्चारण करके जाप करो। इसी प्रकार शुभोपयोगरूप त्रिगुप्त (मन वचन काय इन तीनों की गुप्ति) अवस्था में मौन पूर्वक (इन पदों का) ध्यान करो। फिर किन पदों को जपें, ध्यावें ? "परमेठिठवाचयाण" 'अरिहंत' पद वाचक है और अनन्त ज्ञान आदि गुणों से युक्त 'श्रीअर्हत्' इस पद का वाच्य व अभिधेय (कहा जानेवाला) है, आदि प्रकार से पचपरमेष्ठियों के वाचकों को जपो। "अण्ण च गुरुवएसेण" पूर्वोक्त पदों में अन्य का भी तथा बारह हजार श्लोक प्रमाण पचनमस्कारमहात्म्य नामक ग्रन्थ में कहे हुए क्रम से लघुसिद्धचक्र, बृहत्सिद्धचक्र इत्यादि देवों के पूजन के विधान का, भेदाभेद-रत्नत्रयके आराधक गुरु के प्रसाद से जानकर, ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार पदस्थ ध्यान के स्वरूप का कथन किया । ४९ ॥

इस प्रकार "पाचों इन्द्रियों और मन को रोकने वाला ध्याता (ध्यान करने वाला) है, यथास्थित पदार्थ, ध्येय है, एकाग्र चिन्तन ध्यान है, संवर तथा निर्जरा ये दोनों ध्यान के फल हैं ॥१॥" इस श्लोक में कहे हुए लक्षणवाले ध्याता, ध्येय, ध्यान और फल का संक्षेप से कथन करने वाली तीन गाथाओं से द्वितीय अन्तराधिकार में प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

अब इसके आगे राग आदि विकल्प रूप उपाधि से रहित निज-परमात्म-पदार्थ की भावना से उत्पन्न होने वाले सदानन्द एक लक्षण वाले सुखामृत रसास्वाद से तृप्ति रूप निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत जो शुभोपयोग लक्षण वाला व्यवहार ध्यान है उसके ध्येयभूत पच-परमेष्ठियों में से प्रथम

द्वितीया तु पूर्वसूत्रोदितसर्वपदनामपदादिपदाना वाचकभूताना वाच्या ये पञ्चपरमेष्ठिनस्त-द्व्याख्याने क्रियमाणे प्रथमतस्तावज्जिनस्वरूपं निरूपयामि । अथवा तृतीया पातनिका पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्यानत्रयस्य ध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति पातनिकात्रय मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति —

णट्ठचदुघाइकम्मो दसणसुहणाणवीरियमईओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचितिज्जो ॥५०॥

नष्टचतुर्घातिकर्मा दर्शनसुखज्ञानवीर्यमय ।
शुभदेहस्थ: आत्मा शुद्ध: अर्हन् विचिन्तनीय: ॥५०॥

व्याख्या—'णट्ठचदुघाइकम्मो' निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगध्यानेन पूर्व घातिकर्ममुख्यभूतमोहनीयस्य विनाशनात्तदनन्तर ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसज्ञयुगपद्घातित्रयविनाशकत्वाच्च प्रणष्टचतुर्घातिकर्मा । 'दसणसुहणाणवीरियमईओ' तेनैव घातिकर्माभावेन लब्धानन्तचतुष्टयत्वात् सहजशुद्धाविनश्वरदर्शनज्ञानसुखवीर्यमय । 'सुहदेहत्थो' निश्चयेनाशरीरोऽपि व्यवहारेण सप्तधातुरहितदिवाकरसहस्रभासुरपरमौदारिकशरीरत्वात् शुभदेहस्थ । 'सुद्धो' 'क्षुधा तृषा भय द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् । जरा रुजा च मृत्युश्च खेद स्वेदो मदो-

---

हो जो अर्हत् परमेष्ठी है उनके स्वरूप को कहता हू, यह एक पातनिका है । पूर्व गाथा मे कहे हुए सर्वपद नामपद-आदिपदरूप वाचको के वाच्य जो पच-परमेष्ठी, उनका व्याख्यान करने मे प्रथम ही श्री जिनेन्द्र के स्वरूप को निरूपण करता हू, यह दूसरी पातनिका है । अथवा पदस्थ, पिडस्थ तथा रूपस्थ इन तीन ध्यानो के ध्येयभूत श्री अर्हत सर्वज्ञ के स्वरूप को दिखलाता हू, यह तीसरी पातनिका है । इस प्रकार इन पूर्वोक्त तीनो पातनिकाओ को मन मे धारण करके सिद्धान्तदेव श्री नेमिचन्द्र आचार्य इस अग्रिम गाथासूत्र का प्रतिपादन करते हैं —

गाथार्थ —चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले, अनन्त-दर्शन-सुख-ज्ञान और वीर्य के धारक, उत्तम देह मे विराजमान और शुद्ध-आत्मस्वरूप अरिहत का ध्यान करना चाहिये ॥ ५० ॥

वृत्त्यर्थ —"णट्ठचदुघाइकम्मो" निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धोपयोगमयी ध्यान के द्वारा पहले घातिया कर्मो मे प्रधान मोहनीय कर्म का नाश करके, पश्चात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण तथा अन्तराय इन तीनो ही घातिया कर्मो का एक ही साथ नाश करने से. जो चारो घातिया कर्मो का नष्ट करने वाले हो गये हैं । "दसणसुहणाणवीरियमईओ" उन घातिया कर्मो के नाश से उत्पन्न अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य) के धारक होने से स्वभाविक-शुद्ध-अविनाशी ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी है । 'सुहदेहत्थो' निश्चयनय से शरीर रहित हैं तो भी व्यवहारनय की अपेक्षा सात धातुओ (कुधातु) से रहित व हजारो सूर्यो के समान दैदीप्यमान ऐसे परम औदारिक शरीर वाले हैं, इस कारण शुभदेह मे विराजमान हैं । "सुद्धो"—'क्षुधा १, तृषा २, भय ३, द्वेष, ४, राग ५, मोह

ऽरति ॥१॥ विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश स्मृता । एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्त सो अयमाप्तो निरञ्जन ॥२॥' इति श्लोकद्वयकथिताष्टादशदोषरहितत्वात् शुद्ध । 'अप्पा' एवं गुणविशिष्ट आत्मा । 'अरिहो' अरिशब्दवाच्यमोहनीयस्य, रज शब्दवाच्यज्ञानदर्शनावरणद्वयस्य, रहस्यशब्दवाच्यान्तरायस्य च हननाद्विनाशात् सकाशात् इन्द्रादिविनिर्मितां गर्भावतरणजन्माभिषेकनि क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणाभिधानपञ्चमहाकल्याणरूपा पूजामर्हति योग्यो भवति तेन कारणेन अर्हन् भण्यते । 'विचिन्तिज्जो' इत्युक्तविशेषणैर्विशिष्टमाप्तागमप्रभृतिग्रन्थकथितवीतरागसर्वज्ञाद्यष्टोत्तरसहस्रनामानमर्हतं जिनभट्टारकं पदस्थपिंडस्थरूपस्थध्याने स्थित्वा विशेषेण चिन्तयत ध्यायत हे भव्या यूयमिति ।

अत्रावसरे भट्टचार्वाकमत गृहीत्वा शिष्य पूर्वपक्ष करोति । नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धे । खरविषाणवत् ? तत्र प्रत्युत्तरम्—किमत्र देशेऽत्र काले अनुपलब्धि , सर्वदेशे काले वा । यदत्र देशेऽत्र काले नास्ति तदा सम्मत एव । अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्त्रय कालत्रयं सर्वज्ञरहित कथं ज्ञातं भवता । ज्ञात चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञ । अथ न ज्ञातं तर्हि निषेध कथ क्रियते । तत्र दृष्टान्त:—यथा कोऽपि निषेधको घटस्याधारभूत घटरहित भूतलं चक्षुषा दृष्ट्वा पश्चाद्वदत्यत्र भूतले घटो नास्तीति युक्तम्, यस्तु चक्षु रहित-

---

६, चिंता ७ जरा ८ रुजा (रोग) ९, मरण १०, स्वेद (पसीना) ११, खेद १२, मद १३, अरति १४, विस्मय १५, जन्म १६, निद्रा १७ और विषाद १८, इन १८ दोषो से रहित निरजन आप्त श्री जिनेन्द्र हैं, ।२।' इस प्रकार इन दो श्लोको मे कहे हुए अठारह दोषो मे रहित होने के कारण 'शुद्ध' हैं । 'अप्पा' पूर्वोक्त गुणो की धारक आत्मा है । 'अरिहो'—'अरि' शब्द मे कहे जाने वाले मोहनीय कर्म का, 'रज' शब्द से वाच्य ज्ञानावरण और दर्शनवरण इन दोनो कर्मो का तथा 'रहस्य' शब्द का वाच्य अन्तरायकर्म, इन चारो कर्मो का नाश करने से इन्द्र आदि द्वारा रची हुई गर्भावतार-जन्माभिषेक—तपकल्याण—केवलज्ञानोत्पति और निर्वाण समय मे होने वाली पाच महाकल्याण रूप पूजा के योग्य होते है, इस कारण 'अर्हन्' कहलाते हैं । 'विचिंतिज्जो' हे भव्यो ! तुम पदस्थ, पिंडस्थ व रूपस्थ ध्यान मे स्थित होकर, आप्त—उपदिष्ट आगम आदि ग्रन्थ मे कहे हुए तथा इन उक्त विशेषणो सहित वीतराग-सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नाम वाले अर्हंन जिन—भट्टारक का विशेष रूप मे चिन्तवन करो ।

इस अवसर पर भट्ट और चार्वक मत का आश्रय लेकर शिष्य पूर्व पक्ष करता है—सर्वज्ञ नही है, क्योकि, उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नही होती, जैसे गधे के सीग ? उत्तर-सर्वज्ञ की प्राप्ति क्या इस देश और इस काल मे नही है या सब देश और सब काल मे नही है । यदि कहो कि, इस देश और इस काल मे सर्वज्ञ नही है, तब तो ठीक ही है, क्योकि हम भी ऐसा मानते हैं । यदि कहो सर्वदेश और सर्व कालो मे सर्वज्ञ नही है, तो तुमने यह कैसे जाना कि तीनो लोक और तीनो काल मे सर्वज्ञ का अभाव है । यदि कहो

स्तस्य पुनरिद वचनमयुक्तम् । १तथैव यस्तु जगत्त्रय कालत्रय सर्वज्ञरहित जानाति तस्य जगत्त्रये कालत्रयेऽपि सर्वज्ञो नास्तीति वक्तु युक्त भवति, यस्तु जगतत्रय कालत्रय २जानाति स सर्वज्ञ निषेधं कथमपि न करोति । कस्मादिति चेत् ? ३जगत्त्रयकालत्रयपरिज्ञानेन स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिति ।

अथोक्तमनुपलब्धेरिति हेतुवचन तदप्ययुक्तम् । कस्मादिति चेत्—कि भवतामनुपलब्धि, कि जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणा वा ? यदि भवतामनुपलब्धिस्तावता सर्वज्ञाभावो न सिध्यति, भवद्भिरनुपलभ्यमानाना परकीयचित्तवृत्तिपरमाण्वादिसूक्ष्मपदार्थानामिव । अथवा जगत्त्रयकालत्रयवर्त्तिपुरुषाणामनुपलब्धिस्तत्कथ ज्ञातं भवद्भि । ज्ञात चेत्तर्हि भवन्त एव सर्वज्ञा इति पूर्वमेव भणित तिष्ठति । इत्यादिहेतुदूषणं ज्ञातव्यम् । यथोक्त खरविषाणवदिति दृष्टान्तवचनम् तदप्यनुचितम् । खरे विषाण नास्ति गवादौ तिष्ठतीत्यत्यन्ताभावो नास्ति यथा तथा सर्वज्ञस्यापि नियतदेशकालादिष्वभावेऽपि सर्वथा नास्तित्व न भवति इति दृष्टान्तदूषण गतम् ।

कि–अभाव जान लिया, तो तुम ही सर्वज्ञ हो गये (जो तीन लोक तथा तीन काल के पदार्थों को जानता है वही सर्वज्ञ है सो तुमने यह जान लिया है कि तीनो लोक और तीनो कालो मे सर्वज्ञ नही है, इसलिये तुम ही सर्वज्ञ सिद्ध हुए) । 'तीन लोक व तीनो काल मे सर्वज्ञ नही' इसको यदि नही जाना तो 'सर्वज्ञ नही है' ऐसा निषेध कैसे करते हो ? दृष्टान्त—जैसे कोई निषेध करने वाला, घट की आधारभूत पृथ्वी को नेत्रो से घट रहित देख कर, फिर कहे कि 'इस पृथ्वी पर घट नही है' तो उसका यह कहना ठीक है, परन्तु जो नेत्रहीन है, उसका ऐसा वचन ठीक नही है । इसी प्रकार जो तीन जगत्, तीन काल को सर्वज्ञ रहित जानता है, उसका यह कहना कि तीन काल मे सर्वज्ञ नही, उचित हो सकता है, किंतु जो तीन जगत् तीन काल को जानता है, वह सर्वज्ञ का निषेध किसी भी प्रकार नही कर सकता । क्यो नही कर सकता ? तीन जगत् तीन काल को जानने से वह स्वय सर्वज्ञ होगया, अत वह सर्वज्ञ का निषेध नही कर सकता ।

सर्वज्ञ के निषेध मे 'सर्वज्ञ की अनुपलब्धि' जो हेतु वाक्य है, वह भी ठीक नही । क्यो ठीक नही ? उत्तर यह है—क्या आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) है या तीन जगत् तीन काल के पुरुषो के अनुपलब्धि है । यदि आपके ही सर्वज्ञ की अनुपलब्धि है, तो इतने मात्र से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही होता, क्योकि, जसे पर के मनोविचार तथा परमाणु आदि की आपके अनुपलब्धि है, तो भी

---

१ तथा योसौ जगत्त्रय कालत्रय सर्वज्ञरहित प्रत्यक्षेण जानाति स एव सर्वज्ञनिषेधे समर्थो, न चान्योन्ध इव, यस्तु जगत्त्रय कालत्रय जानाति स सर्वज्ञनिषेध कथमपि न करोति । कस्मात् ? जगत्त्रयकालत्रयविषयपरिज्ञान सहितत्वेन स्वमेव सर्वज्ञत्वादिति । (पचास्तिकाय तात्पर्य वृत्ति. गा०२९)

२ 'न जानाति' इति पाठान्तर । ३ 'कि भवतामनुपलब्धेः जगत्त्रय' इति पाठान्तर ।

अथ मत—सर्वज्ञविषये बाधकप्रमाण निराकृत भवद्भिस्तर्हि सर्वज्ञसद्भावसाधक प्रमाण किम् ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह—कश्चित् पुरुषो धर्मी, सर्वज्ञो भवतीति साध्यते धर्म, एव धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम् । कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणाभावादिति हेतुवचनम् । किवत्, स्वयमनुभूयमानसुखदु खादिवदिति दृष्टान्तवचनम् । एवं सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तरूपेण त्र्यङ्गमनुमानं विज्ञेयम् । अथवा द्वितीयमनुमानं कथ्यते—रामरावणादय कालान्तरिता, मेर्वादयो देशान्तरिता भूतादयो भवान्तरिता परचेतोवृत्तय परमाण्वादयश्च सूक्ष्मपदार्था धर्मिण कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवन्तीति साध्यो धर्म इति धर्मिधर्मसमुदायेन पक्षवचनम् । कस्मादिति चेत्, अनुमानविषयत्वादिति हेतुवचनम् । किवत्, यद्यदनुमानविषय तत्तत्कस्यापि प्रत्यक्ष भवति, यथाग्न्यादि, इत्यन्वयदृष्टान्तवचन । अनुमानेन विषयाश्चेति, इत्युपनयवचनम् । तस्मात् कस्यापि प्रत्यक्षा भवन्तीति निगमनवचन । इदानी व्यतिरेकदृष्टान्त कथ्यते—यन्न कस्यापि प्रत्यक्ष तदनुमानविषयमपि न भवति, यथा खपुष्पादि, इति व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम् । अनुमानविषयाश्चेति पुनरप्युपनयवचनम् ।

उनका अभाव सिद्ध नही होता । यदि तीन जगत् तीन काल के पुरुषो के 'सर्वज्ञ' की अनुपलब्धि है, तो इसको आपने कैसे जाना यदि कहो 'जान लिया' तो आप ही सर्वज्ञ हुए, ऐसा पहले कहा जा चुका है । इस प्रकार से 'हेतु' मे दूषण जानना चाहिए । सर्वज्ञ के अभाव को सिद्धि मे जो 'गधे के सीग' का दृष्टान्त दिया था, वह भी ठीक नही है । गधे के सीग नही है, किन्तु गौ आदि के सीग है । सीग का जैसे अत्यन्त (सर्वथा) अभाव नही, वैसे ही 'सर्वज्ञ' का विवक्षित देश व काल मे अभाव होने पर भी सर्वथा अभाव नही है । इस प्रकार दृष्टान्त मे दूषण आया ।

प्रश्न—आपके द्वारा सर्वज्ञ के सम्बन्ध मे बाधक प्रमाण का तो खडन हुआ, किन्तु सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करने वाला क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं—'कोई पुरुष (आत्मा) सर्वज्ञ है', इसमे 'पुरुष' धर्मी है और 'सर्वज्ञता', जिसको सिद्ध करना है, वह धर्म है, इस प्रकार 'धर्मी धर्म समुदाय' को पक्ष कहते है (जिसको सिद्ध करना वह साध्य अर्थात् धर्म हैं । जिसमे धर्म पाया जावे या रहे वह धर्मी है । धर्म और धर्मी दोनो मिलकर 'पक्ष' कहलाते है) । इसमे हेतु क्या है ? पूर्वोक्त अनुसार 'बाधक प्रमाण का अभाव' यह हेतु है । किसके समान ? अपने अनुभव मे आते हुए सुख-दुख आदि के समान, यह दृष्टान्त है । इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव मे पक्ष, हेतु तथा दृष्टान्त रूप से तीन अङ्गो का धारक अनुमान जानना चाहिये । अथवा सर्वज्ञ के सद्भाव का साधक दूसरा अनुमान कहते है । राम और रावण आदि काल से दूर व ढके पदार्थ, मेरु आदि देश से अन्तरहित पदार्थ, भूत आदि भव से ढके हुए पदार्थ, तथा पर पुरुषो के चित्तो के विकल्प और परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, ये धर्मी 'किसी भी विशेष-पुरुष के प्रत्यक्ष देखने मे आते हैं', यह उन राम रावणादि धर्मियो मे सिद्ध करने योग्य धर्म है, इस प्रकार धर्मी और धर्म के समुदाय से पक्षवचन (प्रतिज्ञा) है । राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष क्यो है ? 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु-वचन है । किसके समान ? 'जो-जो अनुमान का विषय

तस्मात् प्रत्यक्षा भवन्तीति पुनरपि निगमनवचनमिति । किन्त्वनुमानविषयत्वादित्ययं हेतु', सर्वज्ञस्वरूपे साध्ये सर्वप्रकारेण सम्भवति यतस्तत्- कारणात्स्वरूपासिद्धभावासिद्धविशेषणादसिद्धो[1] न भवति । तथैव सर्वज्ञस्वरूपं स्वपक्षं विहाय सर्वज्ञाऽभाव विपक्षं न साधयति तेन कारणेन विरुद्धो न भवति । तथैव च यथा सर्वज्ञसद्भावे स्वपक्षे वर्तते तथा सर्वज्ञाभावेऽपि विपक्षेऽपि न वर्तते तेन कारणेनाऽनैकान्तिको न भवति । अनैकान्तिक· कोऽर्थो ? व्यभिचारीति । तथैव प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितो न भवति, तथैव च प्रतिवादिना प्रत्यसिद्धं सर्वज्ञसद्भाव साधयति, तेन कारणेनाकिंचित्करोऽपि न भवति । एवमसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करहेतुदोषरहितत्वात्सर्वज्ञसद्भावं साधयत्येव । इत्युक्तप्रकारेण सर्वज्ञसद्भावे पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनरूपेण पञ्चाङ्गमनुमानम् ज्ञातव्यमिति ।

किं च यथा लोचनहीनपुरुषस्यादर्शे विद्यमानेऽपि प्रतिविम्बाना परिज्ञान न भवति,

---

है, वह-वह किसी के प्रत्यक्ष होता है, जैसे—अग्नि आदि', यह अन्वय दृष्टान्त का वचन है। 'देश काल आदि से अन्तरित पदार्थ भी अनुमान के विषय हैं' यह उपनय का वचन है। इसलिये 'राम रावण आदि किसी से प्रत्यक्ष होते हैं' यह निगमन वाक्य है। अब व्यतिरेक दृष्टान्त को कहते हैं—'जो किसी के भी प्रत्यक्ष नही होते, वे अनुमान के विषय भी नही होते जसे कि अकाश के पुष्प आदि' यह व्यतिरेक दृष्टान्त का वचन है। 'राम रावण आदि अनुमान के विषय हैं' यह उपनय का वचन है। इसलिये 'राम रावणादि किसी के प्रत्यक्ष होते है, यह निगमन वाक्य है।

राम रावणादि किसीकेप्रत्यक्ष होते हैं, 'अनुमान के विषय होने से' यहा पर 'अनुमान के विषय होने से' यह हेतु है। सर्वज्ञ रूप साध्य मे यह हेतु सब तरह स सम्भव है, इस कारण यह हेतु स्वरूपासिद्ध, भावासिद्ध, इन विशेषणो से असिद्ध नही है। तथा उक्त हेतु, सर्वज्ञ रूप अपने पक्ष को छोडकर सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष को सिद्ध नही करता, इस कारण विरुद्ध भी नही है। और जैसे 'सर्वज्ञ के सद्भाव रूप अपने पक्ष मे रहता है, वैसे सर्वज्ञ के अभाव रूप विपक्ष मे नही रहता, इस कारण उक्त हेतु अनैकान्तिक भी नही है। अनैकान्तिक का क्या अर्थ है? व्यभिचारी'। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वाधिक भी नही है, तथा सर्वज्ञ को न मानने वाले भट्ट और चार्वाक के लिये सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध करता है अत इन दोनो कारणो से अकिंचित् कर भी नही है इस प्रकार से 'अनुमान का विषय होने से' यह हेतु-वचन असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिंचित्कर रूप हेतु के दूषणों से रहित है, इस कारण सर्वज्ञ से सद्भाव को सिद्ध करता ही है। इस प्रकार सर्वज्ञ के सद्भाव पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन रूप से पाचो अगो वाला अनुमान जानना चाहिये।

विशेष :—जैसे नेत्रहीन पुरुष को दर्पण के विद्यमान रहने पर भी प्रतिविम्बो का ज्ञान नही

---

१ 'विशेषणाद्यसिद्धो' इति पाठान्तर।

तथा लोचनस्थानीयसर्वज्ञतागुणरहितपुरुषस्यादर्शस्थानीयवेदशास्त्रे कथिताना प्रतिविम्बस्थानीयपरमाण्वाद्यनन्तसूक्ष्मपदार्थाना क्वापिकाले परिज्ञान न भवति । तथाचोक्तं 'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्र तस्य करोति किम् । लोचनाभ्या विहीनस्य दर्पण कि करिष्यति ॥१॥' इति संक्षेपेण सर्वज्ञसिद्धिरत्र वोद्धव्या । एव पदस्थपिण्डस्थरूपस्थध्याने ध्येयभूतस्य सकलात्मनो जिनभट्टारकस्य व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥५०॥

अथ सिद्धसदृशनिजपरमात्मतत्त्वपरमसमरसीभावलक्षणस्य रूपातीतनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूत मुक्तिगतसिद्धभक्तिरूप 'णमो सिद्धाण' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थ ध्यानं तस्य ध्येयभूत सिद्धपरमेष्ठिस्वरूप कथयति ‌:—

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥ ५१ ॥

नष्टाष्टकर्म्मदेहः लोकालोकस्य ज्ञायकः-द्रष्टा ।
पुरुषाकारः आत्मा सिद्धः ध्यायेत लोकशिखरस्थः ॥ ५१ ॥

व्याख्या—'णट्ठट्ठकम्मदेहो' शुभाशुभमनोवचनकायक्रियारूपस्य द्वैतशब्दाभिधेयक-

---

होता, इसी प्रकार नेत्रो के स्थानभूत सर्वज्ञतारूप गुण से रहित पुरुष को दर्पण के स्थानभूत वेदशास्त्र मे कहे हुए प्रतिविम्बो के स्थानभूत परमाणु आदि अनन्त सूक्ष्म पदार्थोका किसी भी समय ज्ञान नही होता ऐसा कहा भी है कि—'जिस पुरुष के स्वय बुद्धि नही है उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता है ? क्योकि नेत्रो से रहित पुरुष का दर्पण क्या उपकार करेगा ? (अर्थात् कुछ उपकार नही कर सकता) । १ ।' इस प्रकार यहा सक्षेप स सर्वज्ञ की सिद्धि जाननी चाहिए । ऐसे पदस्थ, पिंडस्थ और रूपस्थ इन तीनो ध्यानो मे ध्येयभूत सकल-परमात्म—श्रीजिन—भट्टारक के व्याख्यान से यह गाथा समाप्त हुई ।५०।

अव सिद्धो के समान निज—परमात्म—तत्त्व मे परमसमरसी—भाव वाले रूपातीत नामक निश्चय ध्यान के परम्परा से कारणभूत तथा मुक्ति को प्राप्त, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की भक्तिरूप 'णमो सिद्धाण' इस पद के उच्चारणरूप लक्षण वाला जो पदस्थ-ध्यान, उसके ध्येयभूत सिद्धपरमेष्ठी के स्वरूप को कहते है :—

गाथार्थ —अष्ट कर्म रूपी शरीर को नष्ट करने वाली, लोकालोक-आकाश को जानने-देखने वाली, पुरुषाकार, लोक-शिखर पर विराजमान, ऐसी आत्मा सिद्ध-परमेष्ठी है । अत. तुम सब उन सिद्ध-परमेष्ठी का ध्यान करो ।। ५१ ।।

वृत्त्यर्थ —'णट्ठट्ठ कम्मदेहो' शुभ-अशुभ मन—वचन और काय की क्रिया रूप तथा द्वैत शब्द के अभिधेयरूप कर्म समूह का नाश करने मे समर्थ; निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप की भावना से उत्पन्न रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित, परम आनन्द एक-लक्षण-वाला; सुन्दर=मनोहर—आनन्द को वहाने वाला क्रियारहित और अद्वैत शब्द का वाच्य, ऐसे परमज्ञानकाड द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्म एव ओदारिक

र्मकाण्डस्य निर्मूलनसमर्थेन स्वशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकलक्षणसुन्दरमनोहरानन्दस्यंदिनि क्रियादि‌तशब्दवाच्येन परमज्ञानकाण्डेन विनाशितज्ञानावरणाद्यष्टकर्मौदारिकादिपञ्चदेहत्वात् नष्टाष्टकर्मदेह । 'लोयालोयस्स जाणओदट्ठा' पूर्वोक्तज्ञानकाण्डभावनाफलभूतेन सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयेन लोकालोकगतत्रिकालवर्त्तिसमस्तवस्तुसम्बन्धिविशेषसामान्यस्वभावानामेकसमयज्ञायकदर्शकत्वात् लोकालोकस्य ज्ञाता द्रष्टा भवति । 'पुरिसायारो' निश्चयनयेनातीन्द्रियामूर्त्तपरमचिदुच्छलननिर्भरशुद्धस्वभावेन निराकारोऽपि व्यवहारेण भूतपूर्वनयेन किञ्चिदूनचरमशरीराकारेण गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकार । 'अप्पा' इत्युक्तलक्षण आत्मा । किं भण्यते ? 'सिद्धो' अञ्जनसिद्धपादुकासिद्धगुटिकासिद्धखड्गसिद्धमायासिद्धादिलौकिकसिद्धविलक्षण केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षण सिद्धो भण्यते । 'झाएह लोयसिहरत्थो' तमित्थंभूत सिद्धपरमेष्ठिनं लोकशिखरस्थ दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियभोगप्रभृतिसमस्तमनोरथरूपनानाविकल्पजालत्यागेन त्रिगुप्तिलक्षणरूपातीतध्याने स्थित्वा ध्यायत हे भव्या यूयम् इति । एव निष्कलसिद्धपरमेष्ठिव्याख्यानेन गाथा गता ॥ ५१ ॥

अथ निरुपाधिशुद्धात्मभावनानुभूत्यविनाभूतनिश्चयपञ्चाचारलक्षणस्य निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूत निश्चयव्यवहारपञ्चाचारपरिणताचार्यभक्तिरूपं 'णमो आयरियाणं' इति पदोच्चारणलक्षणं यत्पदस्थध्यान तस्य ध्येयभूतमाचार्य परमेष्ठिन कथयति

आदि पाच शरीरो को नष्ट करने से, जो नष्ट–अष्ट-कर्म,देह है । 'लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा' पूर्वोक्त ज्ञानकाड की भावना के फलस्वरूप पूर्ण निर्मल केवलज्ञान और दर्शन दोनो के द्वारा लोकालोक के तीन कालवर्ती सर्व पदार्थ सम्बन्धी विशेष तथा सामान्य भावो को एक ही समय मे जानने और देखने से, लोकालोक को जानने–देखनेवाले है । "पुरिसायारो" निश्चयनय की दृष्टि मे इन्द्रियगोचर–अमूर्त्तिक परमचैतन्य से भरे हुए शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा आकार रहित है, तो भी व्यवहार मे भूतपूर्व नय की अपेक्षा अन्तिमशरीर मे कुछ कम आकार वाले होने के कारण, मोमरहित मूस के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब के समान, पुरुषाकार है । "अप्पा" पूर्वोक्त लक्षणवाली आत्मा, वह क्या कहलाती है ? 'सिद्धो' अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि लौकिक (लोक मे कहे जाने वाले) सिद्धोंमे विलक्षण केवलज्ञान आदि अनत गुणो की प्रकटतारूप सिद्ध कहलाती है । "झाएह लोयसिरत्थो" हे भव्यजनो ! तुम देखे—सुने—अनुभव किये हुए जो पाचों इन्द्रियों के भोग आदि समस्त मनोरथ रूप अनेक विकल्प-समूह के त्याग द्वारा मन–वचन–काय की गुप्तिस्वरूप रूपातीत ध्यान मे स्थिर होकर लोक के शिखर पर विराजमान पूर्वोक्त लक्षणवाले सिद्ध परमेष्ठी को ध्यावो ! इस प्रकार अशरीरी सिद्ध परमेष्ठी के व्याख्यानरूप यह गाथा समाप्त हुई ॥ ५१ ॥

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतप आचारे ।
आत्मानं परं च युनक्ति सः आचार्यः मुनिः ध्येयः ॥५२॥

व्याख्या—'दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे' सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधाने वीर्यचारित्रवरतपश्चरणाचारेऽधिकरणभूते 'अप्प परं च जुंजइ' आत्मानं परं शिष्यजनं च योऽसौ योजयति सम्बन्धं करोति 'सो आयरिओ मुणी झेओ' स उक्तलक्षण आचार्यो मुनिस्तपोधनो ध्येयो भवति । तथाहि—भूतार्थनयविषयभूतः शुद्धसमयसारशब्दवाच्यो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मादिसमस्तपरद्रव्येभ्यो भिन्नः परमचैतन्यविलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्राचरणं परिणमनं निश्चयदर्शनाचारः ॥१॥ तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन मिथ्यात्वरागादिपरभावेभ्यः पृथक्परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः ॥२॥ तत्रैव रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वाभाविकसुखास्वादेन निश्चलचित्तं वीतरागचारित्रं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयचारित्राचार

अब उपाधि रहित शुद्ध-आत्मभावना की अनुभूति (अनुभव) का अविनाभूत निश्चय-पंच आचार-रूप-निश्चय-ध्यान का परम्परा से कारणभूत, निश्चय तथा व्यवहार इन दोनों प्रकार के पाँच आचारों मे परिणत (तत्पर वा तल्लीन) ऐसे आचार्य परमेष्ठी की भक्तिरूप और "णमो आयरियाणं" इस पद के उच्चारण-रूप जो पदस्थ ध्यान, उस पदस्थ ध्यान के ध्येयभूत आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं :—

गाथार्थ :—दर्शनाचार १, ज्ञानाचार २, की मुख्यता सहित वीर्याचार ३, चारित्राचार ४ और तपाचार ५, इन पाँचों आचारों में जो आप भी तत्पर होते है और अन्य (शिष्यों) को भी लगाते हैं, वह आचार्यमुनि ध्यान करने योग्य है ॥ ५२ ॥

वृत्त्यर्थ :—"दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे" सम्यग्दर्शनाचार और सम्यग्ज्ञानाचार की प्रधानता सहित, वीर्याचार, चारित्राचार और तपश्चरणाचार मे "अप्प परं च जुंजइ" अपने को और अन्य अर्थात् शिष्य-जनों को लगाते हैं, "सो आयरिओ मुणी झेओ" वे पूर्वोक्त लक्षणवाले आचार्य तपोधन ध्यान करने योग्य हैं । विशेष—भूतार्थनय (निश्चयनय) का विषयभूत, 'शुद्धसमयसार' शब्द से वाच्य, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म आदि समस्त परपदार्थों से भिन्न और परम-चैतन्य का विलासरूप लक्षण वाली, यह निज-शुद्ध-आत्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचि सम्यक्-दर्शन है; उस सम्यग्दर्शन में जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयदर्शनाचार है । १ । उसी शुद्ध आत्मा को, उपाधि रहित स्वसंवेदनरूप भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-राग आदि परभावों से भिन्न जानना, सम्यग्ज्ञान है; उस सम्यग्ज्ञान में आचरण अर्थात् परिणमन। वह निश्चयज्ञानाचार है । २ । उसी शुद्ध आत्मा में राग आदि

॥३॥ समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधेन तथैवानशनादिद्वादशतपश्चरणबहिरङ्गसहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपन विजयन निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमन निश्चयतपश्चरणाचार । ४ । तस्यैव निश्चयचतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यनवगूहनं निश्चयवीर्याचार । ५ । इत्युक्तलक्षणनिश्चयपञ्चाचारे तथैव 'छत्तीसगुणसमग्गे पचविहाचारकरणसन्दरिसे । सिस्साणुग्गहकुसले धम्मायरिए सदा वदे । १ ।' इति गाथाकथितक्रमेणाचाराराधनादिचरणशास्त्रविस्तीर्णबहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यवहारपञ्चाचारे च स्व पर च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बन्ध करोति स आचार्यो भवति । स च पदस्थध्याने ध्यातव्य । इत्याचार्यपरमेष्ठिव्याख्यानेन सूत्र गतम् ॥५२॥

अथ स्वशुद्धात्मनि शोभनमध्यायोऽभ्यासो निश्चयस्वाध्यायस्तल्लक्षणनिश्चयध्यानस्य पारम्पर्येण कारणभूतं भेदाभेदरत्नत्रयादितत्त्वोपदेशक परमोपाध्यायभक्तिरूपं 'णमो उवज्झायाण' इति पदोच्चारणलक्षणं यत् पदस्थध्यान, तस्य ध्येयभूतमुपाध्यायमुनीश्वर कथयति—

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो ।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥

विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुखास्वाद से निश्चल-चित्त होना, वीतरागचारित्र है, उसमे जो आचरण अर्थात् परिणमन, वह निश्चयचारित्राचार है । ३ । समस्त परद्रव्यो की इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बारह-तप-रूप-बहिरंगसहकारीकारण से जो निज स्वरूप मे प्रतपन अर्थात् विजयन, वह निश्चयतपश्चरण है, उसमे जो आचरण अर्थात् परिणमन निश्चयतपश्चरणाचार है । ४ । इन चार प्रकार के निश्चय आचार की रक्षा के लिये अपनी शक्ति का छिपाना, निश्चयवीर्याचार है । ५ । ऐसे उक्त लक्षणो वाले पाच प्रकार के निश्चय आचार मे और इसी प्रकार, "छत्तीस गुणो से सहित, पाच प्रकार के आचार को करने का उपदेश देने वाले तथा शिष्यो पर अनुग्रह (कृपा रखने मे चतुर जो धर्माचार्य है उनको मैं सदा वंदना करता हू, । १ ।" इस गाथा मे कहे अनुसार आचार आराधना आदि चरणानुयोग के शास्त्रो मे विस्तार से कहे हुए बहिरङ्ग—सहकारीकारणरूप पाच प्रकार के व्यवहार आचार मे जो अपने को तथा अन्य को लगाते है (स्वय उस पचाचार को साधते हैं और दूसरो से सधाते है) वे आचार्य कहलाते है वे आचार्य परमेष्ठी पदस्थ मे ध्यान मे ध्यान करने योग्य हैं। इस प्रकार आचार्य परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अब निज शुद्ध आत्मा मे जो उत्तम अध्ययन अर्थात् अभ्यास करना है, उसको निश्चय स्वाध्याय कहते है। उस निश्चयस्वाध्यायरूप निश्चयध्यान के परम्परा से कारणभूत भेद-अभेद-रत्नत्रय आदि तत्त्वो का उपदेश करनेवाले, परम उपाध्याय की भक्तिस्वरूप "णमो उवज्झायाणं" इस पद के उच्चारणरूप जो पदस्थध्यान उसके ध्येयभूत, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं -

य: रत्नत्रययुक्त: नित्य धर्मोपदेशने निरत: ।
स' उपाध्याय: आत्मा यतिवरवृषभ' नम' तस्मै ॥५३॥

व्याख्या—'जो रयणत्तयजुत्तो' योऽसौ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्त परिणत । 'णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो' षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्य स्वशुद्धजीवास्तिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्व स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेय शेष च हेय, तथैवोत्तमक्षमादिधर्म च नित्यमुपदिशति योऽसौ स नित्य धर्मोपदेशने निरतो भण्यते । 'सो उवज्झाओ अप्पा' स चेत्थंभूत आत्मा उपाध्याय इति । पुनरपि किं विशिष्ट ? 'जदिवरवसहो' पञ्चेन्द्रियविषयजयेन निजशुद्धात्मनि यत्नपराणा यतिवराणा मध्ये वृषभ प्रधानो यतिवरवृषभ । 'णमो तस्स' तस्मै द्रव्यभावरूपो नमो नमस्कारोऽस्तु । इत्युपाध्यायपरमेष्ठिव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ५३ ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गसाधक परमसाधुभक्तिरूपं 'णमो लोए सव्वसाहूण' इति पदोच्चारणजपध्यानलक्षण यत् पदस्थध्यान तस्य ध्येयभूत साधुपरमेष्ठिस्वरूप कथयति—

गाथार्थ —जो रत्नत्रय से सहित, निरन्तर धर्म का उपदेश देने मे तत्पर तथा मुनिश्वरो मे प्रधान है, वह आत्मा उपाध्याय है । उसके लिये नमस्कार हो ॥ ५३ ॥

वृत्त्यर्थ —"जो रयणत्तयजुत्तो" जो बाह्य, अभ्यन्तर रत्नत्रय के अनुष्ठान (साधन) से युक्त है (निश्चय-व्यवहार-रत्नत्रय को साधने मे लगे हुए है)। "णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो" 'छ द्रव्य, पाच अस्तिकाय, सात तत्त्व व नव पदार्थो मे निज-शुद्ध-आत्म-द्रव्य, निज-शुद्ध-जीवास्तिकाय, निज शुद्ध-आत्मतत्व और निज-शुद्ध-आत्मपदार्थ ही उपादेय है, अन्य सब हेय है' इस विषय का तथा उत्तम क्षमा आदि दश धर्मो का जो निरन्तर उपदेश देते है, वे नित्य धर्मोपदेश देने मे तत्पर कहलाते हैं। "सो उवज्झाओ अप्पा" इस प्रकार की वह आत्मा उपाध्याय है। उसमे और क्या विशेषता है ? "जदिवरवसहो" पाचो इन्द्रियो के विषयो को जीतने से निज-शुद्ध-आत्मा मे प्रयत्न करने मे तत्पर, ऐसे मुनीश्वरो मे वृषभ अर्थात् प्रधान होने से यतिवृषभ हैं। "णमो तस्स" उन उपाध्याय परमेष्ठी को द्रव्य तथा भावरूप नमस्कार हो। इस प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी के व्याख्यान से गाथासूत्र पूर्ण हुआ ॥ ५३ ॥

अब निश्चयरत्नत्रयरूप-निश्चयध्यान का परम्परा से कारणभूत, बाह्य-अभ्यन्तर-मोक्षमार्ग के साधनेवाले परमसाधु की भक्तिस्वरूप "णमो लोए सव्वसाहूण" पद के उच्चारण, जपने और ध्यानेरूप जो पदस्थ ध्यान, उसके ध्येयभूत, ऐसे साधु परमेष्ठी के स्वरूप को कहते हैं :—

दंसणणाणसमग्ग मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स ॥५४॥

दर्शनज्ञानसमग्र मार्गं मोक्षस्य य हि चारित्रम् ।
साधयति नित्यशुद्ध साधुः सः मुनिः नमः तस्मै ॥५४॥

व्याख्या––'साहू स मुणी' स मुनि साधुर्भवति । य किं करोति ? 'जो हु साधयदि' य कर्त्ता हु स्फुट साधयति । कि ? 'चारित्त' चारित्र । कथभूत ? 'दंसणणाणसमग्ग' वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानाभ्या समग्रम् परिपूर्णम् । पुनरपि कथम्भूत ? 'मग्ग मोक्खस्स' मार्गभूत, कस्य ? मोक्षस्य । पुनश्च किम् रूप ? 'णिच्चसुद्ध' नित्यं सर्वकाल शुद्ध रागादि-रहितम् । 'णमो तस्स' एव गुणविशिष्टो यस्तस्मै साधवे नमो नमस्कारोस्त्विति । तथाहि–'उद्योतनमुद्योगो निर्वहणं साधन च निस्तरणम् । दृगवगमचरणतपसामाख्याताराधना सद्भि. । १ । इत्यार्याकथितबहिरङ्गचतुर्विधाराधनाबलेन, तथैव "सम्मत्त सण्णाण सच्चारित्त हि सत्तवो चेव । चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं । १ ।' इति गाथाकथिताभ्यन्तरनिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा य कर्त्ता वीतरागचारित्राविनाभूत स्वशुद्धात्मान साधयति भावयति स साधुर्भवति । तस्यैव सहजशुद्धसदानन्दैकानुभूतिलक्षणो भावनमस्कारस्तथा 'णमो लोए सव्वसाहूण' द्रव्यनमस्कारश्च भवत्विति ॥ ५४ ॥

गाथार्थ —दर्शन और ज्ञान से पूर्ण, मोक्षमार्ग-स्वरूप, सदाशुद्ध, ऐसे चारित्र को जो साधते हैं, वे मुनि 'साधु परमेष्ठी' है, उनको मेरा नमस्कार हो ॥ ५४ ॥

वृत्त्यर्थ —'साहू स मुणी' वह मुनि साधु होते है । वे क्या करते है ? 'जो हु साधयदि' जो प्रकट रूप से साधते हैं । किसको साधते है ? 'चारित्त' चारित्र को साधते है । किस प्रकार के चारित्र को साधते हैं ? 'दसणणाण समग्ग' वीतराग सम्यग्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण चारित्र को साधते है । पुन चारित्र कैसा है ? 'मग्गं मोक्खस्स' जो चारित्र मोक्षस्वरूप है । किसका मार्ग है । मोक्षका मार्ग है । वह चारित्र किस रूप है ? 'णिच्च सुद्ध' जो चारित्र नित्य सर्वकालशुद्ध अर्थात् रागादि रहित है । (वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्ग–स्वरूप, नित्य रागादि रहित, ऐसे चारित्र को अच्छी तरह पालनेवाले मुनि, साधु है) । 'णमो तस्स' पूर्वोक्त गुण सहित उस साधु परमेष्ठी को नमस्कार हो स्पष्टीकरण-"दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनका जो उद्योतन, उद्योग, निर्वहण, साधन और निस्तरण है, उसको सत् पुरुषो ने आराधना कहा है । १ । इस आर्याछन्द मे कही हुई बहिरङ्ग–दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आराधना के बल से, तथा "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, ये चारो आत्मा मे निवास करते है, इस कारण आत्मा ही मेरे शरणभूत है । १ ।' इस प्रकार गाथा मे कहे अनुसार, अभ्यन्तर एवं निश्चय चार प्रकार की आराधना के बलसे अथवा बाह्य-अभ्यन्तर-मोक्षमार्ग दूसरा नाम

एवमुक्तप्रकारेण गाथापञ्चकेन मध्यमप्रतिपत्त्या पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं ज्ञातव्यम्। अथवा निश्चयेन 'अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पचपरमेट्ठी। ते वि हु चिट्ठदि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं। १।' इति गाथाकथितक्रमेण संक्षेपेण, तथैव विस्तरेण पचपरमेष्ठिकथितग्रन्थक्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनाविधिरूपमन्त्रवादसबन्धिपचनमस्कारग्रन्थे चेति। एव गाथापञ्चकेन द्वितीयस्थलं गतम्।

अथ तदेव ध्यानं विकल्पितनिश्चयेनाविकल्पितनिश्चयेन प्रकारान्तरेणोपसंहाररूपेण पुनरप्याह। तत्र प्रथमपादे ध्येयलक्षणं, द्वितीयपादे ध्यातृलक्षणं, तृतीयपादे ध्यानलक्षणं चतुर्थपादे नयविभागं कथयामीत्यभिप्राय मनसि धृत्वा भगवान् सूत्रमिद प्रतिपादयति —

ज किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।

लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छय ज्झाणं ॥५५॥

यत् किंचित् अपि चिन्तयन् निरीहवृत्तिः भवति यदा साधुः।

लब्ध्वा च एकत्वं तदा आहुः तत् तस्य निश्चय ध्यानम् ॥५५॥

व्याख्या — 'तदा' तस्मिन् काले। 'आहु' आहुर्ब्रुवन्ति। 'तं तस्स णिच्छयं ज्झाणं'

है जिसका ऐसी वाह्य-अभ्यन्तर आराधना करके जो वीतरागचारित्र के अविनाभूत निज-शुद्ध-आत्मा को साधते ह अर्थात् भावते है, वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं। उन्ही के लिये मेरा स्वाभाविकशुद्ध-सदानन्द की अनुभूति रूप भाव नमस्कार तथा "णमो लोए सव्वसाहूण" इस पद के उच्चारणरूप द्रव्यनमस्कार हो ॥ ५४ ॥

उक्त प्रकार से पाच गाथाओ द्वारा मध्यमरूप से पञ्चपरमेष्ठी के स्वरूप का कथन किया गया है, यह जानना चाहिये। अथवा निश्चयनय से "अर्हत्' सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाचो परमेष्ठी हैं वे भी आत्मा मे स्थित हैं, इस कारण आत्मा ही मुझे शरण है। १।" इस गाथा मे कहे हुए क्रमानुसार सक्षेप से पञ्चपरमेष्ठियो का स्वरूप जानना चाहिये। विस्तार से पञ्चपरमेष्ठियो का कथन करनेवाले ग्रन्थ से क्रमानुसार जानना चाहिये। तथा सिद्धचक्र आदि देवो की पूजनविधिरूप जो मन्त्रवाद सम्बन्धी पञ्च नमस्कारमाहात्म्य नामक ग्रन्थ है, उससे पञ्च परमेष्ठियो का स्वरूप अत्यन्त विस्तार-पूर्वक जानना चाहिये। इस प्रकार पाच गाथाओ से दूसरा स्थल समाप्त हुआ।

अब उसी ध्यान को विकल्पितनिश्चय और अविकल्पितनिश्चयरूप प्रकारान्तर से सक्षेपपूर्वक कहते है। 'गाथा के प्रथम पाद मे ध्येय का लक्षण' द्वितीय पाद मे ध्याता (ध्यान करनेवाले) का लक्षण, तीसरे पाद मे ध्यान का लक्षण और चौथे पाद मे नयो के विभाग को कहता हूं।' इस अभिप्राय को मन मे धारण करके भगवान् (श्री नेमिचद्र आचार्य) सूत्र का प्रतिपादन करते हैं :—

गाथार्थ :—ध्येय मे एकाग्रचित्त होकर जिस किसी पदार्थ का ध्यान करते हुए साधु जब निस्पृह-वृत्ति (समस्त इच्छारहित) होते है तब उनका वह ध्यान निश्चयध्यान होता है ॥ ५५ ॥

तत्तस्य निश्चयध्यानमिति । यदा किम् ? 'णिरीहवित्ती हवे जदा साहू' निरीहवृत्तिर्निःस्पृहवृत्तिर्यदा साधुर्भवति । किं कुर्वन् ? 'जं किंचिवि चिंततो' यत् किमपि ध्येय वस्तुरूपेण विचिन्तयन्निति । किं कृत्वा पूर्वं ? 'लद्धूण य एयत्तं' तस्मिन् ध्येये लब्ध्वा । किं ? एकत्व एकाग्रचिन्तानिरोधनमिति । अथ विस्तर --यत् किंचिद् ध्येयमित्यनेन किमुक्तं भवति ? प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पचपरमेष्ठ्यादिपरद्रव्यमपि ध्येयं भवति । पश्चादभ्यासवशेन स्थिरीभूते चित्ते सति शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मस्वरूपमेव ध्येयमित्युक्तं भवति । निःस्पृहवचनेन पुनर्मिथ्यात्व वेदत्रय हास्यादिषट्कक्रोधादिचतुष्टयरूपचतुर्दशाऽभ्यन्तरपरिग्रहेण तथैव क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाण्डाऽभिधानदशविधबहिरङ्गपरिग्रहेण च रहित ध्यातृस्वरूपमुक्तं भवति । एकाग्रचिन्तानिरोधेन च [1]पूर्वोक्तविविधध्येयवस्तुनि स्थिरत्व निश्चलत्वं ध्यानलक्षणं भणितमिति । निश्चयशब्देन तु प्राथमिकापेक्षया व्यवहाररत्नत्रयानुकूलनिश्चयो ग्राह्य, निष्प-

---

वृत्त्यर्थ --'तदा' उस काल मे । 'आहु' कहते है । 'त तस्स णिच्छय ज्झाण' उसको, उसका निश्चय ध्यान (कहते हैं) । जब क्या होता है ? 'णिरीहवित्ती हवे जदा साहु' जब निस्पृह वृत्तिवाला साधु होता है । क्या करता है ? 'ज किंचिवि चिंततो' जिस किसी ध्येय वस्तु स्वरूप का विशेष चिन्तवन करता है । पहले क्या करके ? 'लद्धूण य एयत्त' उस ध्येय मे प्राप्त होकर । क्या प्राप्त होकर ? एकपने को अर्थात् एकाग्र-चिन्ता-निरोध को प्राप्त होकर । ध्येय पदार्थ मे एकाग्र-चिन्ता का निरोध करके यानी एकचित्त होकर, जिस किसी ध्येय वस्तु का चिन्तवन करता हुआ साधु जब निस्पृह-वृत्तिवाला होता है, उस समय साधु के उस ध्यान को निश्चयध्यान कहते हैं) । विस्तार से वर्णन—गाथा में 'यत् किंचित् ध्येयम्' (जिस किसी भी ध्येय पदार्थ को) इस पद से क्या कहा है ? प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है, उसमे विषय और कषायो को दूर करने के लिये तथा चित्त को स्थिर करने के लिये पञ्चपरमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं । फिर जब अभ्यास से चित्त स्थिर हो जाता है तब शुद्ध—बुद्ध एकस्वभाव निज-शुद्ध-आत्मा का स्वरूप ही ध्येय होता है । 'निस्पृह' शब्द मे मिथ्यात्व, तीनो वेद हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चौदह अन्तरङ्ग परिग्रहो से रहित तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाड नामक दश बहिरङ्ग परिग्रहो से रहित, ध्यान करनेवाले का स्वरूप कहा गया है । 'एकाग्र-चिन्ता-निरोध' में पूर्वोक्त नाना प्रकार के ध्यान करने योग्य पदार्थो मे स्थिरता और निश्चलता को ध्यान का लक्षण कहा है । 'निश्चय' शब्द से, अभ्यास प्रारम्भ करने वाले की अपेक्षा व्यवहाररत्नत्रय के अनुकूल निश्चय ग्रहण

---

१ 'पूर्वोक्तद्विविधे' पाठान्तरम् ।

नयोगपुरुषापेक्षया तु शुद्धोपयोगलक्षणविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयो ग्राह्य । विशेषनिश्चयः पुनरग्रे वक्ष्यमाणस्तिष्ठतीति सूत्रार्थ ॥ ५५ ॥

अथ शुभाशुभमनोवचनकायनिरोधे कृते सत्यात्मनि स्थिरो भवति तदेव परमध्यान-मित्युपदिशति —

मा चिट्ठह मा जपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं ॥ ५६ ॥

मा चेष्टत मा जल्पत मा चिन्तयत किम् अपि येन भवति स्थिरः ।
आत्मा आत्मनि रतः इद एव पर ध्यान भवति ॥ ५६ ॥

व्याख्या—'मा चिट्ठह मा जपह मा चितह किवि' नित्यनिरञ्जननिष्क्रियनिजशुद्धात्मानुभूतिप्रतिबन्धक शुभाशुभचेष्टारूप कायव्यापार, तथैव शुभाशुभान्तर्बहिर्जल्परूप वचनव्यापार, तथैव शुभाशुभविकल्पजालरूप चित्तव्यापार च किमपि मा कुरुत हे विवेकीजनाः ! 'जेण होइ थिरो' येन योगत्रयनिरोधेन स्थिरो भवति । स क ? 'अप्पा' आत्मा । कथम्भूत स्थिरो भवति ? 'अप्पम्मि रओ' सहजशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुद्भूतसर्वप्रदेशाह्लादजनकसुखास्वादपरिणतिसहिते निजात्मनि रत परिणतस्तल्लीयमानस्तच्चित्तस्तन्मयो भवति । 'इणमेव पर हवे

करना चाहिये और ध्यान मे निष्पन्न पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोगरूप विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय ग्रहण करना चाहिये । विशेष निश्चय आगे कहा जाने वाला है । इस प्रकार सूत्र का अर्थ है ॥ ५५ ॥

(ध्याता पुरुष) शुभ-अशुभ मन-वचन-काय का निरोध करने पर आत्मा मे स्थिर होता है । वह स्थिर होना ही परम ध्यान है, ऐसा उपदेश देते है —

गाथार्थ — हे भव्यो ! कुछ भी चेष्टा मत करो (काय की क्रिया मत करो), कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत चिन्तवन करो (संकल्प-विकल्प न करो) जिससे आत्मा निजात्मा मे तल्लीन होकर स्थिर होजावे, आत्मा मे लीन होना ही परमध्यान है ॥ ५६ ॥

वृत्त्यर्थ —"मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किवि" हे विवेकी पुरुषो ! नित्य निरञ्जन और क्रियारहित निजशुद्ध-आत्मा के अनुभव को रोकनेवाली शुभ-अशुभ चेष्टारूप काय की क्रिया को तथा शुभ अशुभ-अन्तरङ्ग-बहिरङ्गरूप वचन को और शुभ-अशुभ विकल्प समूहरूप मन के व्यापार को कुछ भी मत करो । "जेण होइ थिरो" जिन तीनों योगों के रोकने से स्थिर होता है । वह कौन ? "अप्पा" आत्मा । कैसा होकर स्थित होता है ? "अप्पम्मि रओ" स्वाभाविक शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव जो परमात्मतत्त्व के सम्यक्-श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक परम-ध्यान के अनुभव से उत्पन्न, सर्व प्रदेशो को आनन्ददायक ऐसे सुख के अनुभवरूप परिणति सहित स्व-आत्मा मे रत, तल्लीन, तच्चित्त

ज्झाणं' इदमेवात्मसुखस्वरूपे तन्मयत्वं निश्चयेन परमुत्कृष्टं ध्यानं भवति।

तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम्। तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते। तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं, तदेवैकदेशव्यक्तिरूपविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन परमहंसस्वरूपम्। इदमेकदेशव्यक्तिरूपं शुद्धनयव्याख्यानमत्र परमात्मध्यानभावनानाममालायां यथासम्भवं सर्वत्र योजनीयमिति।

तदेव परब्रह्मस्वरूपं, तदेवं परमविष्णुस्वरूपं, तदेव परमशिवस्वरूपं, तदेव परमबुद्धस्वरूपं, तदेव परमजिनस्वरूपं, तदेव परमस्वात्मोपलब्धिलक्षणं सिद्धस्वरूपं, तदेव निरञ्जनस्वरूपं, तदेव निर्मलस्वरूपं, तदेव स्वसम्वेदनज्ञानम्, तदेव परमतत्त्वज्ञानं, तदेव शुद्धात्मदर्शनं, तदेव परमावस्थास्वरूपम्, तदेव परमात्मनः दर्शनं, तदेव परमात्मज्ञानं, तदेव परमावस्थारूप-परमात्मस्पर्शनं, तदेव ध्येयभूतशुद्धपारिणामिकभावरूपं, तदेव ध्यानभावनास्वरूपं तदेव शुद्धचारित्रं, तदेव परमपवित्रं, तदेवान्तस्तत्त्वं तदेव परमतत्त्वं, तदेव शुद्धात्मद्रव्यं, तदेव परमज्योतिः, सैव शुद्धात्मानुभूतिः, सैवात्मप्रतीतिः, सैवात्मसंवित्तिः, सैव स्वरूपोपलब्धिः, स एव नित्योपलब्धिः, स एव परमसमाधिः, स एव परमानन्दः, स एव

तथा तन्मय होकर स्थिर होता है। 'इणमेव पर हवे ज्झाणं" यही जो आत्मा के सुखस्वरूप मे तन्मयपना है, वह निश्चय से परम उत्कृष्ट ध्यान है।

उस परमध्यान मे स्थित जीवों को जो वीतरागपरमानन्द सुख प्रतिभासित होता है यही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है। वह अन्य पर्यायवाची नामो से क्या २ कहा जाता है, सो कहते हैं। वही शुद्ध आत्म—स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एक देश मे प्रकटतारूप विवक्षित एक देश शुद्ध-निश्चयनय से निज-शुद्ध-आत्मानुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत—जल के सरोवर मे राग आदि मलो से रहित होने के कारण परमहंस—स्वरूप है। परमात्मध्यान के भावना की नाममाला मे इस एक देशव्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को यथासम्भव सब जगह लगा लेना चाहिये। (ये नाम एकदेशशुद्ध—निश्चयनय से अपेक्षित है)

वही परमब्रह्मस्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवरूप, वही परमबुद्धस्वरूप है वही परमजिनस्वरूप है, वही परम-निज-आत्मोपलब्धिरूप सिद्धस्वरूप है, वही निरंजनस्वरूप है, वही निर्मलस्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वह परमतत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मदर्शन है, वही परम अवस्था स्वरूप है, वही परमात्म दर्शन है, वही परमात्मज्ञान है, वह ही परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्श है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध-पारिणामिक-भावरूप है, वही ध्यानभावनारूप है, वही शुद्ध-चारित्र है, वह ही परम-पवित्र है, वही अन्तरङ्ग तत्त्व है, वही परम-तत्त्व है, वही शुद्ध-आत्म-द्रव्य है, वही

नित्यानन्द, स एव सहजानन्द:, स एव सदानंद स एव शुद्धात्मपदार्थाध्ययनरूप, स एव परमस्वाध्याय, स एव निश्चयमोक्षोपाय:, स एव चैकाग्रचिन्तानिरोध:, स एव परमबोध:, स एव शुद्धोपयोग:, स एव परमयोग, स एव भूतार्थ, स एव परमार्थ:, स एव निश्चयपञ्चाचार: स एव समयसार, स एवाध्यात्मसार, तदेव समतादिनिश्चयषडावश्यकस्वरूप, तदेवाभेद-रत्नत्रयस्वरूप, तदेव वीतरागसामायिक, तदेव परमशरणोत्तममङ्गलं, तदेव केवलज्ञानोत्प-त्तिकारण, तदेव सकलकर्मक्षयकारण, सैव निश्चयचतुर्विधाराधना, सैव परमात्मभावना, सैव शुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखानुभूतिरूपपरमकला, सैव दिव्यकला, तदेव परमाद्वैतं, तदेव परमामृतपरमधर्मध्यानं, तदेव शुक्लध्यान, तदेव रागादिविकल्पशून्यध्यान, तदेव निष्कल-ध्यान, तदेव परमस्वास्थ्य, तदेव परमवीतरागत्वं, तदेव परमसाम्यं, तदेव परमैकत्वं, तदेव परमभेदज्ञानं, स एव परमसमरसीभाव, इत्यादि समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमा-ह्लादैकसुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्षमार्गस्य वाचकान्यन्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञे-यानि भवन्ति परमात्मतत्त्वविद्भिरिति ॥ ५६ ॥

अत परं यद्यपि पूर्व वहुधा भणितं ध्यातृपुरुषलक्षणं ध्यानसामग्री च तथापि चूलिकोपसहाररूपेण पुनरप्याख्याति —

परम-ज्योति है, वही शुद्धआत्मानुभूति है, वही आत्मा की प्रतीति है, वही आत्म—सवित्ति (आत्म संवेदन) है, वही निज-आत्मस्वरूप की प्राप्ति है, वही नित्य पदार्थ की प्राप्ति है, वही परम—समाधि है, वही परम—आनन्द है वही नित्य आनन्द है, वही स्वाभाविक आनन्द है, वही सदानद है, वही शुद्ध आत्म-पदार्थ के अध्ययन रूप है, वही परमस्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्र चिता निरोध है, वही परमज्ञान है, वही शुद्ध-उपयोग है, वह ही परम-योग (समाधि) है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्यरूप निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है, वह ही अध्यात्मसार है। वही समता आदि निश्चय-षट-आवश्यक स्वरूप है, वह ही अभेद रत्नत्रय-स्वरूप है, वह ही वीतराग सामायिक है, वह ही परमशरणरूप उत्तम मगल है, वही केवल ज्ञानोत्पत्ति का कारण है, वही समस्त कर्मो के क्षय का कारण है, वही निश्चय-दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तप आराधना-स्वरूप है, वही परमात्मा—भावनारूप है वही शुद्धात्म—भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूतिरूप परमकला है, वही दिव्य-कला है, वही परम—अद्वैत है, वही अमृतस्वरूप परम-धर्मध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही राग आदि विकल्परहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है, वही परम-स्वास्थ्य है, वही परम-वीतरागता है, वही परम समता है, वही परम-एकत्व है, वही परम-भेदज्ञान है, वही परम-समरसी-भाव है, इत्यादि समस्त रागादि विकल्प-उपाधि रहित, परमआह्लाद एक-सुख-लक्षणमयी ध्यान-स्वरूप निश्चय मोक्ष-मार्ग को कहनेवाले अन्य वहुत से पर्यायवाची नाम परमात्मतत्त्व ज्ञानियो के द्वारा जानने योग्य होते हैं।

यद्यपि पहिले ध्यान करने वाले पुरुष का लक्षण और ध्यान की सामग्री का वहु प्रकार से

तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥५७॥

तपःश्रुतव्रतवान् चेता ध्यानरथधुरन्धरः भवति यस्मात् ।
तस्मात् तत्त्रिकनिरताः तल्लब्ध्यै सदा भवत ॥ ५७ ॥

व्याख्या—'तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा' तपश्रुतव्रतवानात्मा चेतयिता ध्यानरथस्य धुरन्धरो समर्थो भवति, 'जम्हा' यस्मात् 'तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह' तस्मात् कारणात् तपश्रुतव्रताना संबन्धेन यत् त्रितय तत् त्रितये रताः सर्वकाले भवत हे भव्या । किमर्थं ? तस्य ध्यानस्य लब्धिस्तल्लब्धिस्तदर्थमिति । तथाहि—अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशभेदेन बाह्यं षड्विधं, तथैव प्रायश्चित्तविनयवैय्यावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदेनाऽभ्यन्तरमपि षड्विधं चेति द्वादशविधं तप । तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपन विजयनं निश्चयतपश्च । तथैवाचाराराधनादिद्रव्यश्रुत, तदाधारेणोत्पन्नं निर्विकारस्वसवेदनज्ञानरूपं भावश्रुतं च । तथैव च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां द्रव्यभावरूपाणा परिहरणं व्रतपञ्चक चेति । एवमुक्तलक्षणतपश्रुत-

---

वर्णन कर चुके हैं, फिर भी चूलिका तथा उपसहार रूप से ध्याता पुरुष और ध्यानसामग्री को इसके आगे कहते हैं —

गाथार्थ —क्योकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यान-रूपी रथ की धुरी धारण करने वाला होता है, इस कारण हे भव्य पुरुषो ! तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिये निरतर तप, श्रुत और व्रत मे तत्पर होवो ॥ ५७ ॥

वृत्त्यर्थ —'तवसुदव चेदा ज्झाणरहधुरंधरो हवे जम्हा' क्योकि तप, श्रुत और व्रतधारी आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने के लिये समर्थ होता है । 'तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह' हे भव्यो ! इस कारण से तप, श्रुत और व्रत, इन तीन मे सदा लीन हो जाओ । किस लिये ? उस ध्यान की प्राप्ति के लिए । विशेष वर्णन—१ अनशन (उपवास करना), २ अवमौदर्य्य (कम भोजन करना), ३ वृत्तिपरिसंख्यान (अटपटी आखडी करके भोजन करने जाना), ४ रस परित्याग (दूध, दही, घी, तेल, खाड व नमक, इन छह रसो मे से एक दो आदि रसो का त्याग करना), ५ विविक्तशय्यासन (निर्जन और एकान्त स्थल मे शयन करना, रहना, बैठना), ६ कायक्लेश (आत्मशुद्धि के लिये आतापन योग आदि करना), यह छह प्रकार का बाह्य तप, प्रायश्चित १, विनय २, वैयावृत्य ३, स्वाध्याय ४, व्युत्सर्ग (बाह्य अभ्यन्तर उपधि का त्याग) ५ और ध्यान ६, यह छह प्रकार का अन्तरङ्ग तप, ऐसे बाह्य तथा आभ्यन्तररूप बारह प्रकार का (व्यवहार) तप है । उसी (व्यवहार) तप से सिद्ध होने योग्य निज-शुद्ध-आत्म-स्वरूप मे प्रतपन अर्थात् विजय करने रूप निश्चय तप है । इसी प्रकार आचार व आराधना आदि द्रव्यश्रुत है तथा उस द्रव्य-श्रुत के आधार से उत्पन्न

व्रतसहितो ध्याता पुरुषो भवति । इयमेव ध्यानसामग्री चेति । तथाचोक्तम्—'वैराग्य तत्त्व-विज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं *समचित्तता । परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतव ॥ १ ॥'

भगवन् ! ध्यान तावन्मोक्षमार्गभूतम् । मोक्षार्थिना पुरुषेण पुण्यबन्धकारणत्वाद्व्रतानि त्याज्यानि भवन्ति, भवद्भि पुनर्ध्यानसामग्रीकारणानि तप श्रुतव्रतानि व्याख्यातानि, तत् कथ घटत इति ? तत्रोत्तरं दीयते—व्रतान्येव केवलानि त्याज्यान्येव न, किन्तु पापबन्धकारणानि हिसादिविकल्परूपाणि यान्यव्रतानि तान्यपि त्याज्यानि । तथाचोक्तम् पूज्यपादस्वामिभि—'अपुण्यमव्रतै पुण्य व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्यय । अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥ १ ॥ किन्त्वव्रतानि पूर्व परित्यज्य ततश्च व्रतेषु तन्निष्ठो भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपं परमात्मपद प्राप्य पश्चादेकदेशव्रतान्यपि त्यजति । तदप्युक्तम् तैरेव—'अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठित । त्यजेत्तान्यपि सप्राप्य परम पदमात्मन. ॥ १ ॥

अय तु विशेष—व्यवहाररूपाणि यानि प्रसिद्धान्येकदेशव्रतानि तानित्यक्तानि । यानि पुन: सर्वशुभाशुभनिवृत्तिरूपाणि निश्चयव्रतानि तानि त्रिगुप्तिलक्षणस्वशुद्धात्मसम्वित्तिरूपनिर्विकल्पध्याने स्वीकृतान्येव, न च त्यक्तानि । प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि

व विकार रहित निज-शुद्ध-स्वसवेदनरूप ज्ञान, भावश्रुत है । तथा हिंसा, अनृत, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह, इनका द्रव्य व भावरूप मे त्याग करना, पाच व्रत हैं । ऐसे पूर्वोक्त तप श्रुत और व्रत मे सहित पुरुष ध्याता (ध्यान करने वाला) होता है । तप, श्रुत तथा व्रत ही ध्यान की सामग्री है । सो ही कहा है "वैराग्य, तत्त्वो का ज्ञान, परिग्रहो का त्याग, साम्यभाव और परिषहो का जीतना ये पाच ध्यान के कारण हैं । १ ।'

शका—भगवान् ! ध्यान तो मोक्ष का कारण है, मोक्ष चाहने वाले पुरुष को पुण्यबध के कारण होने से व्रत त्यागने योग्य है (व्रतो से पुण्य कर्म का बध होता है पुण्यबध ससार का कारण है, इस कारण मोक्षार्थी व्रतो का त्याग करता है), किन्तु आपने तप, श्रुत और व्रतो को ध्यान की सामग्री बतलाया है । सो यह आपका कथन कैसे सिद्ध होता है ? उत्तर-केवल व्रत ही त्यागने योग्य नही हैं, किन्तु पापबधके कारण हिंसा आदि अव्रत भी त्याज्य है । सो ही श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है 'अव्रतो से पाप का बंध और व्रतो से पुण्य का बध होता है, पाप तथा पुण्य इन दोनो का नाश होना मोक्ष है, इस कारण मोक्षार्थी पुरुष जैसे अव्रतो का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतो का भी त्याग करे । १ ।' परन्तु मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करके पश्चात् व्रतो को धारण करके निर्विकल्प-समाधि (ध्यान) रूप आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेश व्रतो का भी त्याग कर देता है । यह भी श्री पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक मे कहा है, 'मोक्ष चाहने वाला पुरुष अव्रतो का त्याग करके व्रतों मे स्थित होकर परमात्मपद प्राप्त करे और परमपद पाकर उन व्रतो का भी त्याग करे । १ ।

---

* 'वशचित्तता' इत्यपि पाठः ।

जातानि ? इति चेत्तदुच्यते—जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति । तथैवा-सत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति । तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्याद्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले त्यागः, न च समस्तशुभाशुभनिवृत्तिलक्षणस्य निश्चयव्रतस्येति । त्यागः कोऽर्थः ? यथैव हिंसादिरूपाव्रतेषु निवृत्तिस्तथैकदेशव्रतेष्वपि । कस्मादिति चेत् ? त्रिगुप्तावस्थायां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपविकल्पस्य स्वयमेवावकाशो नास्ति । अथवा वस्तुतस्तदेव निश्चयव्रतम् । कस्मात्—सर्वनिवृत्तित्वादिति । योऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गतो भरतश्चक्री सोऽपि जिनदीक्षां गृहीत्वा विषयकषायनिवृत्तिरूपं क्षणमात्रं व्रतपरिणामं कृत्वा पश्चाच्छुद्धोपयोगत्वरूपरत्नत्रयात्मके निश्चयव्रताभिधाने वीतरागसामायिकसंज्ञे निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा केवलज्ञानं लब्धवानिति । परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वाल्लोका व्रतपरिणामं न जानन्तीति । तदेव भरतस्य दीक्षाविधानं कथ्यते । हे भगवन् ! जिनदीक्षादानानन्तरं भरतचक्रिणः कियति काले केवलज्ञानं जातमिति श्रीवीरवर्द्धमानस्वामितीर्थकरपरमदेवसमवसरणमध्ये श्रेणिकमहाराजेन पृष्टे सति गौतमस्वामी आह—'पञ्चमुष्टिभिरुत्पाट्य त्रोट्यन् बधस्थितीन् कचान् । लोचानंतरमेवापद्राजन् श्रेणिक केवलम् ॥ १ ॥'

विशेष यह है—जो व्यवहाररूप से प्रसिद्ध एकदेशव्रत है, ध्यान मे उनका त्याग किया है, किन्तु समस्त त्रिगुप्तिरूप स्व-शुद्ध-आत्म-अनुभवरूप निर्विकल्प ध्यान मे समस्त शुभ अशुभ की निवृत्ति-रूप निश्चयव्रत ग्रहण किये हैं, उनका त्याग नही किया है। प्रश्न—प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेश रूप व्रत कैसे हो गये ? उत्तर—अहिसा महाव्रत मे यद्यपि जीवों के घात से निवृत्ति है, तथापि जीवो की रक्षा करने मे प्रवृत्ति है। इसी प्रकार सत्य महाव्रत मे यद्यपि असत्य वचन का त्याग है, तो भी सत्य वचन मे प्रवृत्ति है। अचौर्यमहावत मे यद्यपि विना दिए पदार्थ के ग्रहण का त्याग है, तो भी दिए हुए पदार्थों (पीछी, कमण्डल, शास्त्र) के ग्रहण करने मे प्रवृत्ति है। इत्यादि एकदेश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पाचो महाव्रत देशव्रत हैं।

इन एकदेश रूप व्रतो का, त्रिगुप्ति स्वरूप निर्विकल्प समाधि-काल मे त्याग है। किन्तु समस्त शुभ अशुभ की निवृत्तिरूप निश्चयव्रत का त्याग नही है। प्रश्न—त्याग शब्द का क्या अर्थ है ? उत्तर—जैसे हिंसा आदि पाच अव्रतो की निवृत्ति है, उसी प्रकार अहिंसा आदि पचमहाव्रतरूप एकदेशव्रतो की भी निवृत्ति है, यहा त्याग शब्द का यह अर्थ है। शका—इन एकदशव्रतो का त्याग किस कारण होता है ? उत्तर—त्रिगुप्तिरूप अवस्था मे प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विकल्प का स्वय स्थान नही है। (ध्यान मे कोई विकल्प नही होता। अहिंसादिक महाव्रत विकल्परूप हैं अत वे ध्यान मे नही रह सकते)। अथवा वास्तव मे वह निर्विकल्प ध्यान ही निश्चयव्रत है क्योकि उसमे पूर्ण निवृत्ति है। दीक्षा के बाद दो घड़ी (४८ मिनट) काल मे ही भरतचक्रवर्ती ने जो मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होने भी जिन-दीक्षा ग्रहण करके थोड़े काल तक विषय-कषाय की निवृत्तिरूप व्रत का परिणाम करके, तदनन्तर शुद्धोपयोगरूप रत्नत्रय-

अत्राह शिष्य । अद्य काले ध्यानं नास्ति । कस्मादिति चेत्——उत्तमसंहननाभावाद्दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानाभावाच्च । अत्र परिहारः शुक्लध्यान नास्ति धर्मध्यानमस्तीति । तथाचोक्तं मोक्षप्राभृते श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवै. 'भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स । त अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ॥१॥ अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा ज्झाऊण लहइ इंदत्तं । लोयतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जति ।२।' तथैव तत्त्वानुशासनग्रन्थे चोक्तं 'अत्रेदानी निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमा । धर्मध्यान पुन प्राहु श्रेणीभ्या प्राग्विवर्त्तिनाम् ।१।' यथोक्तमुत्तमसहननाभावात्तदुत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन, पुनरुपशमक्षपकश्रेण्योः शुक्लध्यानं भवति, तच्चोत्तमसहननेनैव, अपूर्वगुणस्थानादधस्तनेषु गुणस्थानेषु धर्मध्यान, तच्चादिमत्रिकोत्तमसंहननाभावेऽप्यन्तिमत्रिकसंहननेनापि भवति । तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने 'यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वच. । श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् ॥ १ ॥'

यथोक्तं दशचतुर्दशपूर्वगतश्रुतज्ञानेन ध्यान भवति तदप्युत्सर्गवचनम् । अपवादव्याख्यानेन पुन· पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकसारभूतश्रुतेनापि ध्यानं भवति केवलज्ञानञ्च । यद्येवमपवादव्याख्यानं नास्ति तर्हि 'तुसमासं घोसन्तो सिवभूदी केवली जादो' इत्यादिगन्ध-

---

मयी निश्चयव्रत नामक वीतरागसामायिक सज्ञा वाले निर्विकल्प ध्यान मे स्थित होकर केवलज्ञान को प्राप्त किया है। परतु व्रतपरिणाम के स्तोक काल के कारण लोग श्री भरत जी के व्रतपरिणाम को नही जानते , अव उन ही भरत जी के दीक्षा विधान का कथन करते हैं। श्री वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के समवमरण मे श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि हे भगवन् ! भरतचक्रवर्ती को जिनदीक्षा लेने के पीछे-कितने समय मे केवलज्ञान हुआ ? श्री गौतम गणधरदेव ने उत्तर दिया "हे श्रेणिक ! पच—मुष्ठियो से बालो को उखाडकर (केश लोच करके) कर्मबध की स्थिति तोडते हुए, केशलोच के अनन्तर ही भरतज चक्रवर्ती ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। १।"

शिष्य का प्रश्न—इस पचमकाल मे ध्यान नही है। क्योकि इस काल मे उत्तमसंहनन (वज्रऋषभ नाराच. संहनन) का अभाव है तथा दश एवं चौदहपूर्व श्रुतज्ञान भी नही पाया जाता ? उत्तर इस समय शुक्लध्यान नही है परन्तु धर्मध्यान है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षप्राभृत मे कहा है "भरत-क्षेत्र विषय दु.षमा नामक पचमकाल मे ज्ञानी जीव के धर्मध्यान होय है। यह धर्मध्यान आत्म—स्वभाव मे स्थित के होय है। जो यह नही मानता, वह अज्ञानी है। १।" इस समय भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लोकातिकदेव पद को प्राप्त होते हैं और वहां से चयकर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष को जाते है। २।" ऐसा ही तत्त्वानुशासन ग्रन्थ मे भी कहा है—"इस समय (पचमकाल) मे जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते है; किन्तु श्रेणी से पूर्व मे होने वाले धर्मध्यान का अस्तित्व वतलाया है। १।" तथा—जो यह कहा है कि

र्वाराधनादिभणितं व्याख्यानम् कथम् घटते ? अथ मतम्—पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकं द्रव्यश्रुतमिति जानाति । इदं भावश्रुतं पुन सर्वमस्ति । नैव वक्तव्यम् । यदि पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादक द्रव्यश्रुतं जानाति तर्हि 'मा रुसह मा तूसह' इत्येक पद किं न जानाति । तत एव ज्ञायतेऽष्टप्रवचनमातृप्रमाणमेव भावश्रुत, द्रव्यश्रुतं पुन किमपि नास्ति । इदन्तु व्याख्यानमस्माभिर्न कल्पितमेव । तच्चारित्रसारादिग्रन्थेष्वपि भणितमास्ते । तथाहि—अन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं ये केवलज्ञानमुत्पादयन्ति ते क्षीणकषायगुणस्थानवर्त्तिनो निर्ग्रंथसंज्ञा ऋषयो भण्यन्ते । तेषा चोत्कर्षेण चतुर्दशपूर्वादिश्रुतं भवति, जघन्येन पुन पञ्चसमितित्रिगुप्तिमात्रमेवेति ।

अथ मत—मोक्षार्थं ध्यान क्रियते न चाद्य काले मोक्षोऽस्ति, ध्यानेन किं प्रयोजनम् ? नैवं, अद्य कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति । कथमिति चेत् ? स्वशुद्धात्मभावनाबलेन ससारस्थितिं स्तोकां कृत्वा देवलोक गच्छति, तस्मादागत्य मनुष्यभवे रत्नत्रयभावना लब्ध्वा शीघ्रं मोक्ष गच्छतीति । येऽपि भरतसगररामपाण्डवादयो मोक्षं गतास्तेपि पूर्वभवे भेदाभेदरत्नत्रयभावनया ससारस्थिति स्तोका कृत्वा पश्चान्मोक्ष गता । तद्भवे सर्वेषा मोक्षो भव-

---

'इस काल में उत्तम सहनन का अभाव है इस कारण ध्यान नही होता' सो यह उत्सर्ग वचन है । अपवाद-रूप व्याख्यान से तो, उपशमश्रेणी क्षपकश्रेणी मे शुक्लध्यान होता है और वह उत्तमसहनन से ही होता है, किन्तु अपूर्वकरण (८ वें) गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानो मे जो धर्मध्यान होता है वह धर्मध्यान पहले तीन उत्तम सहननो के अभाव होने पर भी अतिम के (अर्द्धनाराच, कीलक और सृपटिका) तीन सहननो से भी होता है । यह भी उसी तत्त्वानुशासन ग्रन्थ मे कहा है—"वज्रकाय (सहनन) वाले के ध्यान होता है, ऐसा आगम-वचन उपशम तथा क्षपक श्रेणी के ध्यान की अपेक्षा कहा है । यह वचन नीचे के गुणस्थानो मे धर्मध्यान का निषेधक नही है ।"

जो ऐसा कहा है कि, 'दश तथा चौदहपूर्व तक के श्रुतज्ञान से ध्यान होता है' वह भी उत्सर्ग वचन है । अपवाद व्याख्यान से तो पाच समिति और तीन गुप्ति को प्रतिपादन करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान और केवलज्ञान होता है । यदि ऐसा अपवाद व्याख्यान न हो, तो 'तुष-माष का उच्चारण करते हुए श्री शिवभूति मुनि केवलज्ञानी होगये' इत्यादि गन्धर्वाराधनादि ग्रन्थो मे कहा हुआ कथन कैसे सिद्ध होवे । शका—श्री शिवभूति मुनि पाच समिति और तीन गुप्तियो को प्रतिपादन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे और भावश्रुत उनके पूर्णरूप से था । उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि, यदि शिवभूति मुनि पाच समिति और तीन गुप्तियो का कथन करने वाले द्रव्यश्रुत को जानते थे तो उन्होने "मा तूसह मा रूसह" अर्थात् 'किसी मे राग और द्वेष मत कर' इस एक पद को क्यो नही जाना ।

तीति नियमो नास्ति । एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्—'वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदा ।१। सकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीय चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् । तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्षेऽपर भवति कल्पषसंश्रयस्य । २ । दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितोत्तरङ्गम् । धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसज्ञे कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूति । ३ । कंखिद कलुसिदभूतो कामभोगेहिं मुच्छिदो जीवो । ण य भुंजतो भोगे वधदि भावेण कम्माणि । ४ ।' इत्याद्यपध्यानत्यक्त्वा—'ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो । आलवण च मे आदा अवसेसाइं वोसरे । १ । आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दसणे चरित्ते य । आदा पच्चक्खाणे आदा मे सवरे जोगे । २ । एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदसणलक्खणो । सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा । ३ । इत्यादि-सारपदानि गृहीत्वा च ध्यानं कर्त्तव्यमिति ।

इसी कारण से जाना जाता है कि पाच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन मातृका प्रमाण ही उनके भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नही था। यह व्याख्यान मैंने ही कल्पित नही किया है, किंतु 'चारित्रसार' आदि शास्त्रो मे भी यह वर्णन हुआ है। तथाहि—अतर्मुहूर्त्त मे जो केवलज्ञान को प्राप्त करते है वे क्षीणकपाय गुणस्थान मे रहने वाले 'निग्रंथ' नामक ऋषि कहलाते है और उनके उत्कृष्टता से ग्यारह अग चौदह पूर्व पर्यंत श्रुतज्ञान होता है, जघन्य से पाच समिति तीन गुप्ति मात्र ही श्रुतज्ञान होता है।

शका—मोक्ष के लिये ध्यान किया जाता है और इस पञ्चम काल मे मोक्ष होता नही, अत. ध्यान करने से क्या प्रयोजन ? ऐसा नही है, क्योकि इस पचमकाल मे भी परपरा से मोक्ष है। प्रश्न—परम्परा से मोक्ष कैसे है ? उत्तर—। ध्यानी पुरुष । निज-शुद्ध-आत्म-भावना के वल से ससार-स्थिति को अल्प करके स्वर्ग मे जाते है। वहा से आकर मनुष्य भव मे रत्नत्रय की भावना को प्राप्त होकर शीघ्र ही मोक्ष जाते हैं। जो भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्त्ती, रामचंद्र, पाण्डव (युधिष्टर, अर्जुन, भीम) आदि मोक्ष गये हैं, वे भी पूर्वभव मे भेदाभेदरत्नत्रय की भावना से ससार—स्थिति को स्तोक करके फिर मोक्ष गये। उसी भव मे सब को मोक्ष हो जाती है, ऐसा नियम नही। उपरोक्त कथनानुसार अल्प-श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। यह जानकर क्या करना चाहिये ? 'द्वेष से किसी को मारने, बाधने व अङ्ग काटने आदि का और राग से परस्त्री आदि का जो चिंतवन करना है, निर्मल वुद्धि के धारक आचार्य जिनमत मे उसको अपध्यान कहते हैं। १। हे जीव ! सकल्परूपी कल्पवृक्ष का आश्रय करने से तेरा चचल चित्त इस मनोरथरूपी सागर मे डूब जाता है, वैसे उन सकल्पो मे जीव का वास्तव मे कुछ प्रयोजन नही सधता, प्रत्युत कलुषता से समागम करने वालो का अर्थात् कलुषित चित्त वालो का अकल्याण होता है। २। जिस प्रकार दुर्भाग्य से दुखित मन वाले तेरे अन्तरङ्ग मे भोग भोगने की

अथ मोक्षविषये पुनरपि नयविचार कथ्यते। तथाहि मोक्षस्तावत् बंधपूर्वक । तथाचोक्तं—'मुक्तश्चेत् प्राक्भवेद्बन्धो नो बधो मोचन कथम् । अबधे मोचन नैव मुञ्चे-रर्थो निरर्थक । १ ।' बधश्च शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति, तथा बधपूर्वको मोक्षोऽपि । यदि पुनः शुद्धनिश्चयेन बधो भवति तदा सर्वदैव बध एव, मोक्षो नास्ति । किच—यथा शृङ्ख-लाबद्धपुरुषस्य बंधच्छेदकारणभूतभावमोक्षस्थानीय बधच्छेदकारणभूतं पौरुष पुरुषस्वरूपं न भवति, तथैव शृङ्खलापुरुषयोर्यद्द्रव्यमोक्षस्थानीय पृथक्करण तदपि पुरुषस्वरूप न भवति । किंतु ताभ्या भिन्नं यद्दृष्टं हस्तपादादिरूप तदेव पुरुषस्वरूपम् । तथैव शुद्धोपयोगलक्षण भावमोक्षस्वरूपं शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूप न भवति, तथैव तेन साध्यं यज्जीवकर्मप्रदेशयो पृथक्करण द्रव्यमोक्षरूपं तदपि जीवस्वभावो न भवति, किंतु ताभ्या भिन्न यदनन्तज्ञानादि-गुणस्वभावं फलभूतं तदेव शुद्धजीवस्वरूपमिति । अयमत्रार्थ—यथा विवक्षितैकदेशशुद्धनि-श्चयेन पूर्व मोक्षमार्गो व्याख्यातस्तथा पर्यायमोक्षरूपो मोक्षोऽपि, न च शुद्धनिश्चयनयेनेति । यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणपरमनिश्चयमोक्ष, स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानी भविष्यतीत्येवं न । स एव रागादिविकल्परहिते मोक्षकारणभूते ध्यान-भावनापर्याये ध्येयो भवति, न च ध्यानभावनापर्यायरूप । यदि पुनरेकान्तेन द्रव्यार्थिकन-

---

इच्छा से व्यर्थ तरंगें उठती रहती हैं। उसी प्रकार यदि वह मन परमात्मरूप स्थान मे स्फुरायमान हो तो तेरा जन्म कैसे निष्फल हो सकता है ? अर्थात् तेरा जन्म सफल हो जावे । ३ । आकाक्षा मे कलुषित हुआ और काम भोगो मे मूर्च्छित, यह जीव भोगो को नही भोगता हुआ भी भावो से कर्मों को बाधता है । ४ ।" इत्यादि रूप दुर्ध्यान को छोडकर "निर्ममत्त्व मे स्थित होकर अन्य पदार्थो मे ममत्व बुद्धि का त्याग करता हू, मेरे आत्मा का ही आलवन है, अन्य सबको मैं त्यागता हूँ । १ । मेरा-आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान है, आत्मा ही सवर है और आत्मा ही योग है । २ । ज्ञान-दर्शन का धारक अविनाशी एक मेरा आत्मा है, और शेष सब सयोग लक्षण वाले बाह्य भाव हैं । ३ ।" इत्यादि सारभूत पदो को ग्रहण करके ध्यान करना चाहिए ।

अब मोक्ष के विषय मे फिर भी नय-विचार को कहते हैं—मोक्ष बंध पूर्वक है । सो ही कहा है—"यदि जीव मुक्त है तो पहले इस जीव के बंध अवश्य होना चाहिये । क्योकि यदि बध न हो तो मोक्ष (छूटना) कैसे हो सकता हैं । इसलिये अबंध न बंधे हुए) की मुक्ति नही हुआ करती, उसके तो मुंच् धातु (छूटने की वाचक) का प्रयोग ही व्यर्थ है" (कोई मनुष्य पहले बधा हुआ हो, फिर छूटे, तब वह मुक्त कहलाता है । ऐसे ही जो जीव पहले कर्मों से बंधा हो उसी को मोक्ष होती है) । शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से बध है ही नही । इस प्रकार शुद्ध-निश्चयनय से बध पूर्वक मोक्ष भी नहीं

येनापि स एव मोक्षकारणभूतो ध्यानभावना पर्यायो भण्यते तर्हि द्रव्यपर्यायरूपधर्मद्वयाधारभूतस्य जीवधर्मिणो मोक्षपर्याये जाते सति यथा ध्यानभावनापर्यायरूपेण विनाशो भवति, तथा ध्येयभूतस्य जीवस्य शुद्धपारिणामिकभावलक्षणद्रव्यरूपेणापि विनाश प्राप्नोति, न च द्रव्यरूपेण विनाशोऽस्ति । तत स्थितं शुद्धपारिणामिकभावेन बन्धमोक्षौ न भवत इति ।

अथात्मशब्दार्थ कथ्यते । 'अत' धातु सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते । गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इतिवचनात् । तेन कारणेन यथासंभवं ज्ञानसुखादिगुणेषु आसमन्तात् अतति वर्तते य स आत्मा भण्यते । अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आसमन्तादतति वर्तते य स आत्मा । अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यैरासमन्तादतति वर्तते य स आत्मा ।

किञ्च---यथैकोऽपि चन्द्रमा नानाजलघटेषु दृश्यते तथैकोऽपि जीवो नानाशरीरेषु तिष्ठतीति वदन्ति तत्तु न घटते । कस्मादिति चेत्---चन्द्रकिरणोपाधिवशेन घटस्थजलपुद्-

---

है। यदि शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा बध होवे तो सदा ही बध होता रहे, मोक्ष ही न हो। जैसे जंजीर से बधे हुए पुरुष के, बधनाश के कारणभूत जो भावमोक्ष है उसकी जगह जो जंजीर के बधन को छेदने का कारणभूत उद्यम है, वह पुरुष का स्वरूप नही है और इसी प्रकार द्रव्यमोक्ष के स्थान मे जो जजीर और पुरुष इन दोनो का अलग होना है, वह भी पुरुष का स्वरूप भी नही है, किन्तु उन उद्यम और जजीर के छुटकारे से जुदा जो देखा हुआ हस्तपाद आदि रूप आकार है, वही पुरुष का स्वरूप है। उसी प्रकार शुद्धोपयोगरूप जो भाव मोक्ष का स्वरूप है, वह शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मे जीव का स्वरूप नही है और उसी तरह उस भावमोक्ष से साध्य जो जीव और कर्म ने प्रदेशो के पृथक् होने रूप द्रव्य मोक्ष का स्वरूप है, वह भी जीव का स्वभाव नही है, किंतु उन भाव व द्रव्यमोक्ष से भिन्न तथा उनका फलभूत जो अनन्त ज्ञान आदि गुणरूप स्वभाव है, वही शुद्ध जीव का स्वरूप है। यहा तात्पर्य यह है कि, जैसे विवक्षित-एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से पहले मोक्षमार्ग का व्याख्यान है, उसी प्रकार पर्यायमोक्ष रूप जो मोक्ष है, वह भी एकदेश शुद्ध-निश्चयनय मे है, किन्तु शुद्ध-निश्चयनय से नही है। जो शुद्ध-द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध-पारिणामिक परमभाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है, वह तो जीव मे पहले ही विद्यमान है, वह परमनिश्चय मोक्ष जीव मे अब होगी, ऐसा नही है। राग आदि विकल्पो से रहित मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय मे, वही परमनिश्चय मोक्ष ध्येय होता है, वह निश्चय मोक्ष ध्यान भावना-पर्यायरूप नही है। यदि एकात मे द्रव्यार्थिक नय से भी उसी (परमनिश्चय मोक्ष) को मोक्ष का कारणभूत ध्यान-भावना-पर्याय कहा जावे, तो द्रव्य और पर्याय रूप दो धर्मो के आधारभूत जीव धर्मी का, मोक्षपर्याय प्रकट होने पर, जैसे ध्यानभावना-पर्याय रूप से विनाश होता है, उसी प्रकार शुद्धपारिणामिक-भाव स्वरूप द्रव्य रूप से भी ध्येयभूत जीव का विनाश प्राप्त होगा; किन्तु द्रव्य रूप

गला एव नानाचन्द्राकारेण परिणता, नचैकश्चन्द्र । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा देवदत्तमुखोपाधिवशेन नानादर्पणस्थपुद्गला एव नानामुखाकारेण परिणता, न चैक देवदत्तमुख नानारूपेण परिणतम् । परिणमतीति चेत्—तर्हि दर्पणस्थप्रतिविम्व चैतन्यं प्राप्नोतीति, न च तथा । किन्तु यद्येक एव जीवो भवति, तदैकजीवस्य मुखदुःखजीवितमरणादिके प्राप्ते तस्मिन्नेव क्षणे सर्वेषा जीवितमरणादिकं प्राप्नोति, न च तथा दृश्यते । अथवा ये वदन्ति यथैकोपि समुद्र. क्वापि क्षारजल क्वापि मिष्टजलस्तथैकोऽपि जीव सर्वदेहेषु तिष्ठतीति । तदपि न घटते । कथमिति चेत्—जलराश्यपेक्षया तत्रैकत्वं, न च जलपुद्गलापेक्षया तत्रैकत्वम् । यदि जलपुद्गलापेक्षया भवत्येकत्व तर्हि स्तोकजले गृहीते शेपजलं सहैव किन्नायाति । तत स्थित षोडशवर्णिकासुवर्णराशिवदनन्तज्ञानादिलक्षण प्रत्येक जीवराशि प्रति, न चैकजीवापेक्षयेति ।

अध्यात्मशब्दस्यार्थं कथ्यते । मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठान तदध्यात्ममिति । एव ध्यानसामग्रीव्याख्यानोपसहाररूपेण गाथा गता ॥ ५७ ॥

से जीव का विनाश नही है। इस कारण, 'शुद्धपारिणामिक भाव से जीव के बंध और मोक्ष नही है' यह कथन सिद्ध हो गया ।

अब 'आत्मा' शब्द का अर्थ कहते हैं। 'अत' धातु निरतर गमन करने रूप अर्थ मे है और 'सब गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक होती हैं' इस वचन मे यहा पर 'गमन' शब्द से ज्ञान कहा जाता है। इस कारण जो यथासंभव ज्ञान सुख आदि गुणो मे सर्व प्रकार वर्त्तता है, वह आत्मा है। अथवा शुभ अशुभ मन-वचन-काय की क्रिया के द्वारा यथासंभव तीव्र-मद आदि रूप से जो पूर्णरूपेण वर्त्तता है, वह आत्मा है, अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो धर्मों के द्वारा जो पूर्णरूप से वर्त्तता है, वह आत्मा है ।

आशका—जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जल के भरे हुए घटों मे देखा जाता है, इसी प्रकार एक ही जीव अनेक शरीरो मे रहता है। उत्तर—यह कथन घटित नही होता । प्रश्न—क्यो नही घटित होता ? उत्तर—चंद्रकिरणरूप उपाधि-वश से घटो मे स्थित जल-रूपी पुद्गल ही नाना-चन्द्र-आकार रूप परिणत हुआ है, एक चद्रमा अनेक रूप नही परिणमा है। दृष्टान्त कहते हैं—जैसे देवदत्त के मुख रूप उपाधि के वश से अनेक दर्पणो मे स्थित पुद्गल ही अनेक मुख रूप परिणमते हैं, एक देवदत्त का मुख अनेक रूप नही परिणमता। यदि कहो कि देवदत्त का मुख ही अनेक मुख रूप परिणमता है, तो दर्पणस्थित देवदत्त के मुख के प्रतिविम्व भी, देवदत्त के मुख की तरह, चेतन (सजीव) हो जायेंगे, परन्तु ऐसा नही है (दर्पणो मे मुख-प्रतिविम्ब चेतन नही हैं), यदि अनेक शरीरो मे एक ही जीव हो

अथौद्धत्यपरिहारं कथयति :-

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥ ५८ ॥

द्रव्यसग्रह इम मुनिनाथाः दोषसंचयच्युताः श्रुतपूर्णाः ।
शोधयन्तु तनुश्रुतधरेण नेमिचन्द्रमुनिना भणित यत् ॥ ५८ ॥

व्याख्या—'सोधयतु' शुद्धं कुर्वन्तु । के कर्तार ? 'मुणिणाहा' मुनिनाथा मुनिप्रधाना । कि विशिष्टा ? 'दोससंचयचुदा' निर्दोषपरमात्मनो विलक्षणा ये रागादिदोषास्तथैव च निर्दोषपरमात्मादितत्त्वपरिज्ञानविषये संशयविमोहविभ्रमास्तैश्च्युता रहिता दोषसंचयच्युता । पुनरपि कथम्भूता. ? 'सुदपुण्णा' वर्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदाधारोत्पन्ननिर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन च पूर्णा समग्राः श्रुतपूर्णा । क शोधयन्तु ? 'दव्वसंगहमिण' शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मादिद्रव्याणा संग्रहो द्रव्यसंग्रहस्तं द्रव्यसग्रहाभिधानम् ग्रन्थमिमं प्रत्यक्षीभूतम् । किं विशिष्ट ? 'भणिय ज' भणितः प्रतिपा-

---

तो, एक जीव को सुख-दु ख-जीवन-मरण आदि प्रात होने पर, उसी क्षण सब जीवो को सुख-दुःख-जीवन-मरण आदि प्राप्त होने चाहिये, किन्तु ऐसा देखने मे नही आता । अथवा जो ऐसा कहते हैं कि, 'जैसे एक ही समुद्र कही तो खारे जल वाला है, कही मीठे जल वाला है, उसी प्रकार एक जीव सब देहों मे विद्यमान है' सो कहना भी घटित नही होता । प्रश्न—क्यो नही घटित होता ! उत्तर—समुद्र मे जलराशि की अपेक्षा से एकता है, जल-पुद्गलो (कणो) की अपेक्षा से एकता नही है । यदि जल-पुद्गलो की अपेक्षा से एकता होती (एक अखड द्रव्य होता) तो समुद्र मे से ग्रहण करने पर शेष जल भी उसके साथ ही क्यों न आजाता । इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सोलह-वानी के सुवर्ण की राशि के समान अनतज्ञान आदि लक्षण की अपेक्षा जीव राशि मे एकता है और एक जीव की (समस्त जीव-राशि मे एक ही जीव है, इस) अपेक्षा से जीवराशि मे एकता नही है ।

अब 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ कहते हैं। मिथ्यात्व-राग आदि समस्त विकल्प समूह के त्याग द्वारा निज-शुद्ध-आत्मा मे जो अनुष्ठान (प्रवृत्ति का करना) उसको 'अध्यात्म' कहते हैं। इस प्रकार ध्यान की सामग्री के व्याख्यान के उपसहार रूप से यह गाथा समाप्त हुई ।। ५७ ।।

अब ग्रन्थकार अपने अभिमान के परिहार के लिये छन्द कहते हैं :—

गाथार्थ :—अल्पज्ञान के धारक मुझ नेमिचन्द्र मुनि ने जो यह द्रव्यसग्रह कहा है, दोषो से रहित और ज्ञान से पूर्ण ऐसे आचार्य इसका शोधन करें ।

दितो यो ग्रन्थ । केन कर्तृभूतेन ? 'णेमिचन्दमुणिणा' श्री नेमिचन्द्रमुनिना श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवाभिधानेन मुनिना सम्यग्दर्शनादिनिश्चयव्यवहाररूपपञ्चाचारोपेताचार्येण । कथम्भूतेन ? 'तणुसुत्तधरेण' तनुश्रुतधरेण तनुश्रुत स्तोक श्रुत तद्धरतीति तनुश्रुतधरस्तेन । इति क्रियाकारकसम्बन्ध । एवं ध्यानोपसहारगाथात्रयेण, औद्धत्यपरिहार्थं प्राकृतवृत्तेन च द्वितीयान्तराधिकारे तृतीय स्थलं गतम् । ५८ । इत्यन्तराधिकारद्वयेन विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकार समाप्त ।

अत्र ग्रन्थे 'विवक्षितस्य सन्धिर्भवति' इति वचनात्पदानां सन्धिनियमो नास्ति । वाक्यानि च स्तोकस्तोकानि कृतानि सुखबोधनार्थम् । तथैव लिङ्गवचनक्रियाकारकसम्बन्धसमासविशेषणवाक्यसमाप्त्यादिदूषण तथा च शुद्धात्मादिप्रतिपादनविपये विस्मृतिदूपण च विद्वद्भिर्न ग्राह्यमिति ।

वृत्त्यर्थ :—'सोधयतु' शुद्ध करें । कौन शुद्ध करे ? 'मुणिणाहा' मुनिनाथ, मुनियो मे प्रधान अर्थात् आचार्य । कैसे है वे आचार्य ? 'दोससचयचुदा' निर्दोष-परमात्मा से विलक्षण जो राग आदि दोष तथा निर्दोष-परमात्मादि तत्त्वो के जानने मे सशय-विमोह-विभ्रमरूप दोष, इन दोषो से रहित होने से, दोषो से रहित हैं । फिर कैसे है ? 'सुदपुण्णा' वर्तमान परमागम नामक द्रव्यश्रुत से तथा उस परमागम के आधार से उत्पन्न निर्विकार-स्व-अनुभव रूप भावश्रुत से परिपूर्ण होने से श्रुत पूर्ण है । किसको शुद्ध करे ? 'दव्वसगहमिणं' शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव परमात्मा आदि द्रव्यो के सग्रह रूप जो द्रव्यसंग्रह, इस प्रत्यक्षीभूत 'द्रव्यसग्रह' नामक ग्रन्थ को । कैसे द्रव्यसग्रह को ? 'भणिय ज' जिस ग्रन्थ को कहा है । किसने कहा है ? 'णेमिचन्दमुणिणा' सम्यग्दर्शन आदि निश्चय-व्यवहार-रूप पच-आचार सहित आचार्य 'श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव' नामक मुनि ने । कैसे नेमिचन्द्र आचार्य ने ? 'तणुसुत्तधरेण' अल्पश्रुतज्ञानी ने । जो स्तोक श्रुत को धारण करे वह अल्प-श्रुत-ज्ञानी है । इस प्रकार क्रिया और कारको का सम्बन्ध है । इस प्रकार ध्यान के उपसहार रूप तीन गाथाओ से तथा ज्ञान के अभिमान के परिहार के लिये एक प्राकृत छन्द से द्वितीय अन्तराधिकार मे तृतीय स्थल समाप्त हुआ ।। ५८ ।।

ऐसे दो अन्तराधिकारो द्वारा वीस गाथाओ से मोक्षमार्ग-प्रतिपादक तृतीयाधिकार समाप्त हुआ ।

इस ग्रन्थ मे 'विवक्षित विषय की सधि होती है' इस वचन-अनुसार पदो की संधि का नियम नही है । (कही पर सधि की है और कही पर नही) । सरलता से बोध कराने के लिये वाक्य छोटे-छोटे बनाये गये हैं । लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सम्बध, समास, विशेषण और वाक्य-समाप्ति आदि दूषण एव शुद्ध-आत्मा आदि तत्त्वो के कथन मे विस्मरण (भूल) आदि दूषण इस ग्रन्थ मे हो, उन्हें विद्वान् पुरुष ग्रहण न करें ।

इस तरह 'जीवमजीव दव्व' इत्यादि ९७ गाथाओ का 'षट्द्रव्यपंचास्तिकायप्रतिपादकनामा' प्रथम अधिकार है । तदनन्तर 'आसव बधण' इत्यादि ११ गाथाओ का 'सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा'

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण 'जीवमजीव दव्व' इत्यादिसप्तविंशतिगाथाभिः पट्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रतिपादकनामा प्रथमोधिकारः। तदनन्तर 'आसव वन्धण' इत्येकादशगाथाभिः सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकनामा द्वितोयोऽधिकार। तत. परं 'सम्मद्दंसण' इत्यादिविंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा तृतीयोऽधिकार.॥

इत्यधिकारत्रयेनाष्टाविकपञ्चाशत्सूत्रै. श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैर्विरचितस्य द्रव्यसंग्रहाभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्ति. समाप्ता।

दूसरा अधिकार है। उसके पश्चात् 'सम्मद्दंसण' आदि वीस गाथाओ का 'मोक्षमार्गप्रतिपादकनामा' तीसरा अधिकार है।

इस प्रकार श्रीनेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तिदेव विरचित तीन अधिकारो की
५८ गाथाओ वाले द्रव्यसग्रह ग्रंथ की श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-वृत्ति
तथा उसका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।



[लघुद्रव्यसंग्रहः]

)-(

छद्दव्व पच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥ १ ॥

अर्थ—'जेण' जिनके द्वारा 'छद्दव्व' छ द्रव्य, 'पच अत्थी' पाच अस्तिकाय, 'सत्त वि तच्चाणि' सात तत्त्व, 'णव पयत्था य' नव पदार्थ और 'भगुप्पाय—धुवत्ता' व्यय--उत्पाद—ध्रौव्य, 'णिद्दिट्ठा' निर्देश किये गये हैं, 'सो जिणो' वे श्री जिनेन्द्रदेव 'जयउ' जयवन्त रहो ॥ १ ॥

जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य।
दव्वाणि कालरहिया पदेस वाहुल्लदो*अत्थिकाया य ॥ २ ॥

अर्थ—'जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य दव्वाणि' जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—द्रव्य हैं, 'कालरहिया पदेश बाहुल्लदो अत्थिकाया य' काल को छोड कर शेष उक्त पाच द्रव्य, बहुप्रदेशी होने के कारण, अस्तिकाय हैं ॥ २ ॥

जीवाजीवासववध सवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण—पावा पयत्था य ॥ ३ ॥

अर्थ—'जीवाजीवासवबन्ध सवरो णिज्जरा तहा मोक्खो तच्चाणि सत्त' जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष—सात तत्त्व है, 'एदे सपुण्ण—पावा पयत्था य' ये (उक्त सात तत्त्व) पुण्य व पाप सहित नव पदार्थ है ॥ ३ ॥

१जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो ससारिओ णाणा ॥ ४ ॥

अर्थ—'जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता भोत्ता' जीव (द्रव्य) अमूर्तिक, स्वदेह—प्रमाण, चेतना सहित, कर्ता और भोक्ता है, 'सो पुण दुविहो' वह (जीव) दो प्रकार का है, 'सिद्धो संसारिओ' सिद्ध और ससारी, 'णाणा' (ससारी जीव) नाना प्रकार के हैं। ४।

१—कुछ अन्तर से बृहद्द्रव्यसग्रह गाथा २ से मिलती है। *'अ(ऽ)त्थिकाया' इत्यपि पाठः।

१अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ—संट्ठाणं ॥ ५ ॥

अर्थ—'जीव' जीव को 'अरसमरूवमगध अव्वत्त चेयणागुणमसद्द अलिंगग्गहण अणिद्दिट्ठ-सट्ठाणं' रस-रहित, रूप-रहित, गध-रहित, अव्यक्त (स्पर्श—रहित), शब्द—रहित, अलिंग-ग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण मे नही आने वाला), अनिर्दिष्ट संस्थान वाला (जिसका कोई सस्थान निर्दिष्ट नही है) और चेतन-गुण-वाला 'जाण' जानो ॥ ५ ॥

वण्ण-रस-गध-फासा विज्जते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा ।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा ॥ ६ ॥

अर्थ—'जस्स' जिसके 'वण्ण-रस-गध-फासा' वर्ण, रस, गन्ध, तथा स्पर्श 'विज्जते' विद्यमान हैं, 'सो मुत्तो पुग्गलकाओ' वह मूर्तिक पुद्गल—काय 'पुढवी पहुदी हु सोढा' पृथ्वी प्रभृति (आदि) छ: प्रकार का 'जिणवरुद्दिट्ठा' श्रीजिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया है । ६ ।

पुढवी जल च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्व जिणिंदेहि ॥ ७ ॥

अर्थ—'पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू' १—पृथ्वी, २—जल, ३—छाया, ४—(नेत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त शेष) चार इन्द्रियो के विषय (वायु शब्द आदि) ५—कर्मवर्गणा, ६—परमाणु, 'छव्विहभेय भणिय पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं' श्री जिनेन्द्रदेव ने पुद्गल द्रव्य को (ऐसे) छ: प्रकार का कहा है । ७ ।

२गईपरिणयाण३ धम्मो पुग्गलजीवाण गमण-सहयारी ।
तोय जह मच्छाण अच्छंता णेव सो णेई ॥ ८ ॥

अर्थ—'गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी' गमन से परिणत पुद्गल और जीवो को गमन मे सहकारी धर्म—द्रव्य है, 'तोय जह मच्छाण' जैसे मछलियो को (गमन मे) जल सहकारी है, 'अच्छता णेव सो णेई' (किन्तु) गमन न करते हुए (ठहरे हुये पुद्गल व जीवो को) वह (धर्म—द्रव्य) गमन नही कराता है ॥ ८ ॥

४ठाणजुयाण अधम्मो५ पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाण गच्छाता णेव सो धरई ॥ ९ ॥

अर्थ—'ठाणजुयाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाण—सहयारी' ठहरे हुये पुद्गल और जीवो को ठहरने मे सहकारी अधर्म—द्रव्य है, 'छाया जह पहियाण' जैसे छाया पन्थियो को ठहरने मे सहकारी है, 'गच्छता णेव सो धरई' गमन करते हुये (जीव व पुद्गलो को) वह (अधर्म-द्रव्य) नही ठहराता है ॥ ९ ॥

---

१ स सा. गा ४९, २ वृ द्र सं गा. १७, ३ 'परियाण' अपि पाठ, ४वृ.द्र.गा. १८, ५ 'अहम्मो' अपि पाठ ।

१अवगासदाणजोग्गं जीवदीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं २अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥ १० ॥

अर्थ—'अवगासदाणजोग्ग जीवादीण वियाण आयास जेण्ह' जो जीव आदि द्रव्यो को अवकाश देने योग्य है, उसको श्री जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानो 'लोगागास अल्लोगागासमिदि दुविहं' लोकाकाश और अलोकाकाश (इन भेदो मे आकाश) दो प्रकार का है ॥ १० ॥

३दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
लोगागासपएसो एक्केक्काणु य परमट्ठो ॥ ११ ॥

अर्थ—'दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो' जो द्रव्यो के परिवर्तन से जायमान है, वह व्यवहार-काल है, 'लोगागासपएसो एक्केक्काणू य परमट्ठो' लोकाकाश मे प्रदेश रूप से स्थित एक-एक कालाणु परमार्थ (निश्चय) काल है ॥ ११ ॥

४लोयायासपदेसे एक्केक्के५ जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असखदव्वाणि ॥ १२ ॥

अर्थ—'लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का रयणाणं रासीमिव' जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर, रत्नो के ढेर के समान, (परस्पर भिन्न २ होकर) एक-एक स्थित हैं, 'ते कालाणू असखदव्वाणि' वे कालाणू असंख्यात द्रव्य है ॥ १२ ॥

६संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे।
संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले ॥ १३ ॥

अर्थ—'संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे' एक जीव मे, धर्म (द्रव्य) मे तथा अधर्म (द्रव्य) मे असंख्यात (प्रदेश) है, 'अणन्त आयासे' आकाश मे अनन्त (प्रदेश) हैं, 'संखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति पुद्गल मे सख्यात, असंख्यात व (अनत) प्रदेश है, 'णो काले' काल मे (प्रदेश) नही है (अर्थात् कालाणु एक प्रदेशी है, उसमे शक्ति या व्यक्ति की अपेक्षा से बहु प्रदेशीपना नही है) ॥ १३ ॥

७जावदिय आयास अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेस जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं। १४।

अर्थ—'जावदिय आयास अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्ध त खु पदेस जाणे' अविभागी पुद्गलाणु से जितना आकाश रोका जाता है, उसको प्रदेश जानो, 'सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं' (वह प्रदेश) सब (पुद्गल) परमाणुओ को स्थान देने मे समर्थ है ॥ १४ ॥

१—वृ.द्र.सं गाथा १९। २—'अलोगागास' इत्यपि पाठः। ३—वृ द्र स गा २१ कुछ अतर से। ४—वृ.द्र.सं गा. २२। ५—'एक्कक्के' इति पाठान्तरः। ६—वृ द्र.स गाथा २५ का रूपान्तर। ७—वृ द्र स गा २७।

जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य ।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो ॥ १५ ॥

अर्थ—'जीवो णाणी' जीव ज्ञानी (ज्ञानवाला) है, पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य अज्जीवा' पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल—अजीव हैं, जिणभणिओ' ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है, 'ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो' जो ऐसा नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥ १५ ॥

मिच्छत्त हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो बंधो ।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गल विविहं ॥ १६ ॥

अर्थ—'मिच्छत्त हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो' मिथ्यात्व हिंसा आदि (अव्रत), कषाय और योगो से आस्रव होता है, 'बंधो सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गल विविहं' कषाय सहित जीव नाना प्रकार के पुद्गल को जो ग्रहण करता है, वह बंध है ॥ १६ ॥

मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे ।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य ॥ १७ ॥

अर्थ—'मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ' श्री जिनेन्द्रदेव ने मिथ्यात्वादि के त्याग को संवर कहा है, 'णिज्जरादेसे कम्माण खओ' कर्मों का एकदेश क्षय निर्जरा है, 'सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य' बहुरि वह (निर्जरा) अभिलाषा-सहित (सकाम, अविपाक) और अभिलाषा-रहित (अकाम, सविपाक) ऐसे दो प्रकार की है ॥ १७ ॥

कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो ।
सव्वकम्म-विणिम्मुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥ १८ ॥

अर्थ—'कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो' कर्मों के बंधन से बद्ध सद्भूत (प्रशस्त) अन्तरात्मा का 'सव्वकम्म-विणिम्मुक्को' जो सर्व कर्मों से पूर्णरूपेण मुक्त होना (छूटना) है 'जिणेडिदो मोक्खो होई' वह मोक्ष है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने वर्णन किया है । १८ ।

सादाऽऽउ-णामगोदाण पयडीओ सुहा हवे ।
पुण्ण तित्थयरादी अण्ण पाव तु आगमे ॥ १९ ॥

अर्थ—'सादाऽऽउ-णामगोदाण पयडीओ सुहा हवे पुण्ण तित्थयरादी' साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम तथा शुभ गोत्र एवं तीर्थंङ्कर आदि प्रकृतियां पुण्य प्रकृतियां हैं, 'अण्ण पाव तु' अन्य (शेष प्रकृतियां) पाप हैं, 'आगमे' ऐसा परमागम में कहा है ॥ १९ ॥

णासइ णर-पज्जाओ उप्पज्जइ देवपज्जओ तत्थ ।
जीवो स एव सव्वस्सभंगुप्पाया धुवा एवं ॥ २० ॥

अर्थ—'णामइ णर-पज्जाओ' नर (मनुष्य) पर्याय नष्ट होती है, 'उप्पज्जइ देवपज्जओ' देव पर्याय उत्पन्न होती है, 'तत्थ जीवो स एव' तथा जीव वह का वह ही रहता है, 'सव्वस्स भगुप्पाया धुवा एव' इस ही प्रकार सर्व द्रव्यो के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होना है ॥ २० ॥

उप्पादप्पद्ध सा वत्थूण होंति पज्जय-णाएण (णयेण) ।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ॥ २१ ॥

अर्थ—'उप्पादप्पद्ध सा वत्थूण होंति पज्जय-णाएण' वस्तु मे उत्पाद तथा व्यय पर्याय-नय से होता है, 'दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा' द्रव्य-दृष्टि से (वस्तु) नित्य (ध्रौव्य) जाननी चाहिये, 'सव्वजिणवुत्ता' श्रीसर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव द्वारा ऐसा कहा गया है ॥ २१ ॥

एव अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरु भित्ता ।
छडउ राय रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णास (णास) ॥ २२ ॥

अर्थ—'जइ इच्छइ कम्मणो णास' यदि कर्मो का नाश करना चाहते हो तो 'एव अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरु भित्ता' इस प्रकार सूत्र से अभिगत होकर (परमागम के ज्ञाता होकर), काय को निश्चल करके और मन को स्थिर करके 'छंडउ राय रोस' राग तथा द्वेप को छोडो ॥ २२ ॥

विसएसु पवट्ट त चित्त धारेत्तु अप्पणो अप्पा ।
झायइ अप्पाणेण जो सो पावेइ खलु सेय ॥ २३ ॥

अर्थ—'जो अप्पा' जो आत्मा 'विसएसु पवट्ट त चित्त धारेत्तु' विपयो मे लगे हुए मन को रोक कर, 'अप्पणो झायइ अप्पाणेण' अपनी आत्मा को अपने द्वारा ध्याता है, 'सो पावेइ खलु सेय' वह (आत्मा) वास्तव मे कल्याण (सुख) को पाता है ॥ २३ ॥

सम्म जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं ।
मोहगयकेसरीण णमो णमो ठाण साहूण ॥ २४ ॥

अर्थ—'सम्म जीवादीयाणच्चा' जीवादि को सम्यक् प्रकार जानकर 'जेहिं सम्म सुकित्तिदा' जिन्होने उन जीवादि का भले प्रकार वर्णन किया है, 'मोहगयकेसरीण णमो णमो ठाण साहूणं' जो मोहरूपी गज (हस्ती) के लिये केसरी (सिंह) के समान हैं, उन साधुओ को (हमारा) नमस्कार होऊ नमस्कार होऊ । २४ ।

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥ २५ ॥

अर्थ—'सोमच्छलेण' श्री सोम (श्रेष्ठी) के निमित्त से 'भव्वुवयारणिमित्त' भव्य जीवो के उपकार के लिये 'सिरिणेमिचदेण गणिणा' श्री नेमिचन्द्र आचार्य द्वारा 'पयत्थलक्खणकाउ गाहाओ' पदार्थों का लक्षण कहनेवाली गाथायें 'रइया' रची गई हैं ॥ २५ ॥

वृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथा:

गाथा-सख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
१	जीवमजीवं दव्वं जिरणवरवसहेरण जेरण रिगद्दिट्ठं । देविदविंदवंद वदे त सव्वदा सिरसा ॥	४
२	जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो । भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥	७
३	तिक्काले चदुपाणा इन्दियबलमाउआणपाणो य । ववहारा सो जीवो रिगच्छयरगयदो दु चेदणा जस्स ॥	६
४	उवओगो दुवियप्पो दसणणाणं च दंसणं चदुधा । चक्खु अचक्खू ओही दसरगमध केवल रोयं ॥	११
५	णाण अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणारगरगारिग । मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्ख–परोक्खभेय च ॥	१३
६	अट्ठ चदु णारगदंसरण सामण्ण जीवलक्खणं भरिगयं । ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुरण दंसरण णारण ॥	१६
७	वण्ण रस पंच गधा दो फासा अट्ठ रिगच्छया जीवे । णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति वधादो ॥	१७
८	पुग्गलकम्मादीरण कत्ता ववहारदो दु रिगच्छयदो । चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥	१८
९	ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि । आदा रिगच्छयरगयदो चेदणभाव खु आदस्स ॥	२०
१०	अणुगुरुदेहपमाणो उवसहारप्पसप्पदो चेदा । असमुहदो ववहारा रिगच्छयरगयदो असंखदेसो वा ॥	२१
११	पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदि विविहथावरेइंदी । विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी ॥	२४

गाथा–संख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
१२	समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे । बादर सुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥	२६
१३	मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया । विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥	२८
१४	णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा । लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहि संजुत्ता ॥	३६
१५	अज्जीवो पुण णेओ पुग्गलधम्मो अधम्म आयासं । कालो पुग्गल मुत्तो रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु (हु) ॥	४३
१६	सद्दो बंधो सुहुमो थूलो संठाणभेद–तमछाया । उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥	४४
१७	गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी । तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥	४७
१८	ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी । छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥	४८
१९	अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं । जेण्हं लोगागासं अल्लोगागासमिदि दुविहं ॥	४८
२०	धम्माऽधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये । आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्ति (तो) ॥	५०
२१	दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो । परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥	५१
२२	लोयायासपदेसे इक्किक्के जे ठिया हु इक्किक्का । रयणाणं रासी इव ते कालाणु असंखदव्वाणि ॥	५४
२३	एवं छब्भेयमिदं जीवाजीवप्पभेददो दव्वं । उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥	५८

गाथा-सख्या	गाथा	पृष्ठ सख्या
२४	सति जदो तेणेदे अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा । काया इव वहुदेसा तह्मा काया य अत्थिकाया य ।।	५८
२५	होति असखा जीवे धम्माधम्मे अणत आयासे । मुत्ते तिविह पदेसा कालस्सेगो ण तेण सो काओ ।।	६०
२६	एयपदेसो वि अणू णाणाखधप्पदेसदो होदि । वहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ।	६२
२७	जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुउट्टद्धं । त खु पदेस जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिह ।।	६३
२८	आसव बंधण सवर णिज्जर मोक्खो सपुण्णपावा जे । जीवाजीवविसेसा ते वि समासेण पभणामो ।।	७३
२९	आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ । भावासवो जिणुत्तो कम्मासवण परो होदि ।।	७४
३०	मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोधादओऽथ विण्णेया । पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ।।	७५
३१	णाणावरणादीण जोग्ग ज पुग्गल समासवदि । दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ।।	७७
३२	बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबधो सो । कम्मादपदेसाण अण्णोण्णपवेसणं इदरो ।।	७८
३३	पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बधो। जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ।।	७९
३४	चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू । सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ।।	८१
३५	वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य । चारित्त वहुभेयं णायव्वा भावसवरविसेसा ।।	८६

गाथा-सख्या	गाथा	पृष्ठ सख्या
३६	जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुग्गल जेण । भावेण सडदि णेया तस्सडण णिज्जरा दुविहा ॥	१३१
३७	सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो । णेयो स भावमुक्खो दव्वविक्खो य कम्मपुहभावो ॥	१३४
३८	सुहअसुहभावजुत्ता पुण्ण पाव हवंति खलु जीवा । साद सुहाउ णाम गोदं पुण्णं पराणि पाव च ॥	१३७
३९	सम्मद्दंसणणाणं चरण मुक्खस्स कारण जाणे । ववहार णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥	१४१
४०	रयणत्तय ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियह्मि । तह्मा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारण आदा ॥	१४२
४१	जीवादिसद्दहण सम्मत्त रूवमप्पणो त तु । दुरभिणिवेसविमुक्कं णाण सम्म खु होदि जह्मि ॥	१४३
४२	ससयविमोहविब्भमविवज्जिय अप्पपरसरूवस्स । गहण सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु ॥	१५७
४३	ज सामण्णं गहण भावाण णेव कट्टुमायारं । अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए ॥	१६२
४४	दसणपुव्व णाण छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा । जुगवं जह्मा केवलिणाहे जुगव तु ते दो वि ॥	१६२
४५	असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं । वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियम् ॥	१६८
४६	बहिरब्भतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं । णाणिस्स ज जिणुत्तं परम सम्मचारित्त ॥	१७०
४७	दुविह पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा । तह्मा पयत्तचित्ता जूय झाण समब्भसह ॥	१७२

गाथा–संख्या	गाथा	पृष्ठ संख्या
४८	मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेमु । थिरमिच्छहि जइ चित्त विचित्तझाणप्पसिद्धीए ॥	१७३
४९	पणतीससोलछप्पणचउदुगमेगं च जवह ज्झाएह । परमेट्ठिवाचयाणं अण्ण च गुरूवएसेण ॥	१७८
५०	णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ । सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचितिज्जो ॥	१८१
५१	णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा । पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ॥	१८६
५२	दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे । अप्प परं च जु जइ सो आयरिओ मुणी झेओ ।	१८८
५३	जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो । सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ।	१८९
५४	दसणणाणसमग्ग मग्ग मोक्खस्स जो हु चारित्तं । साधयदि णिच्चसुद्ध साहू स मुणी णमो तस्स ॥	१९१
५५	ज किंचिवि चितंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहु । लद्धूण य एयत्तं तदाहु त तस्स णिच्छय ज्झाण ॥	१९२
५६	मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह कि विजेण होइ थिरो । अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव पर हवे ज्झाणं ॥	१९४
५७	तवसुदवदवं चेदा ज्झाणरहधुरधरो हवे जम्हा । तम्हा तत्तियणिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥	१९७
५८	दव्वसंगहमिण मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा । सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥	२०६

❀❀)–(:❀❀

अकारादिक्रमेण बृहद्संग्रहस्य गाथा सूची

अकारादिक्रमेण लघुद्रव्यसंग्रह-गाथा सूची

संकेतसूची

संकेत	ग्रन्थ नाम	संकेत	ग्रन्थ नाम	संकेत	ग्रन्थ नाम
आ० प०	आलापपद्धति	पचा० ता०	पचास्तिकाय-तात्पर्यवृत्ति टीक	र० श्रा०	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
आ० परि०	आप्तपरिक्षा			ल० सा०	लब्धिसार
आ० स्व०	आतस्वरूप	प० प्र०	परमात्मा प्रकाश	वसु०	वसुनन्दि श्रावकाचार
आ० सा०	आराधनासार	प्र० सा	प्रवचनसार	ष० प्र०	षट् प्राभृतसंग्रह
गो० क०	गोम्मटसार कर्मकाड	पू० उ०	पूज्यपाद उपासकाचार	ष० ख०	षट् खण्डागम
गो० जी०	गोम्मटसार जीवकाड	वा० अ०	वारस अनुप्रेक्षा	स० सा०	समयसार
ज० प०	जम्बूद्वीवपण्णत्ति	भ० आ०	भगवति आराधना	समा०	समाधिशतक
त० अ०	तत्त्व अनुशासन	भा० पा०	भाव पाहुड	स० सि०	सर्वार्थसिद्धि
त० सा०	तत्त्वसार	भा० स०	भावसग्रह	सि० भ०	सिद्धभक्ति
ति० प०	तिल्लोय पण्णति	मूला०	मूलाचार (वट्टकेर)	सु० र०	सुभाषित रत्न संदोह
नि० सा०	नियमसार	मो० पा०	मोक्षपाहुड	हि० उ०	हितोपदेश निर्णयसागर)
पं० स०	पचसग्रह	य० च०	यस्तिलक चम्पू	त्रि० सा०	त्रिलोकसार
पचा०	पचास्तिकाय	यो० सा०	योगसार	ज्ञान०	ज्ञानार्णव

नोट —जहां दो सख्या हो, उनमे प्रथम संख्या 'अध्याय', 'सर्ग' आदि की है, दूसरी सख्या 'गाथा श्लोक' आदि की है षट् खडागम मे प्रथम सख्या पुस्तक की है, दूसरी संख्या 'पृष्ठ' की है। जहां पर एक सख्या हो वह गाथा श्लोक की है, किन्तु संख्या से पूर्व यदि 'पृ०' हो तो वह पृष्ठ सख्या है। यदि सख्या के पश्चात् 'टी०' हो तो गाथाथा टीका से प्रयोजन है।